भारतीय शिक्षा की समस्याएं और प्रवृत्तियां

डा॰ विद्यावती मलैया

Kalawati Mishra.
B.A. Part III
B.H.U.
Varanasi

भारतीय शिक्षा की समस्याएं और प्रवृत्तियां

भारतीय शिक्षा की समस्याएं और प्रवृत्तियां

डा० विद्यावती मलैया

एम० ए०, एम० एड०, पी-एच० डी० (शिक्षा)
जबलपुर (म० प्र०)

M

प्राक्कथन

प्रस्तुत ग्रंथ में भारतीय शिक्षा की प्रमुख समस्याओं की विवेचना है। भारत में शिक्षा का विकास द्रुत गति से हो रहा है। अतः स्वाभाविक है कि शिक्षा की कुछ समस्याओं की ओर देश के प्रभावी व्यक्तियों का ध्यान अधिक जा रहा हो तथा कुछ समस्याओं की ओर ध्यान कम ही जाए। परंतु यह अत्यंत आवश्यक है कि शिक्षा की समस्याओं के उपयुक्त हल के लिए भारतीय शिक्षा के दीर्घ-कालीन उद्देश्यों एवं लक्ष्यों को ध्यान में रखकर आवश्यक समाधान की खोज की जाए। चूंकि देश के विकास के लिए शिक्षा को आधार बनाना है तथा विकास की गति तीव्र है, अनेक शिक्षा समस्याएं नवीन परिवेश में उपस्थित हुई हैं। इन समस्याओं के हल के संबंध में भी सोचना-विचारना अति आवश्यक है।

प्रस्तुत ग्रंथ में शिक्षा के सभी स्तरों एवं पक्षों की शिक्षा के संबंध में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विवेचना की गई है। इसके अंतर्गत पूर्व प्राथमिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालयीय शिक्षा तक सभी स्तरों की शिक्षा समस्याओं के संबंध में विचार किया गया है। इसके साथ ही साथ ऐसी अनेक शिक्षा-समस्याओं पर भी विचार किया गया है जो समय के साथ नई स्थितियों के कारण पैदा हुई हैं, जैसे छात्र-अशांति, पिछड़े बालकों की शिक्षा, शिक्षा में समान अवसर, अनुसूचित जातियों एवं वर्गों की शिक्षा, शिक्षकों की शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा, विकलांग बालकों की शिक्षा, भाषा की समस्या आदि। प्रस्तुत पुस्तक में शिक्षा की ऐसी अनेक समस्याओं की विवेचना भी है जो शिक्षा की नवीन प्रवृत्तियों के विकास के फलस्वरूप विकसित हुई हैं, जैसे शैक्षिक तकनीक, शिक्षा नियोजना, शिक्षा नवाचार एवं प्रयोग कार्यानुभव, शिक्षा वित्त, शिक्षा और विश्व शांति, जनसंख्या शिक्षा आदि।

इस प्रकार इस ग्रंथ में शिक्षा की विभिन्न समस्याओं की विवेचना सरल एवं शुद्ध हिंदी में की गई है। ग्रंथ कितना उपयोगी है वह तो बी० एड० तथा

एम० एड० के छात्र, शिक्षक, शिक्षा संस्थाओं के आचार्य एवं शिक्षा में रुचि रखने वाले विद्वान ही बता सकेंगे जिनके लाभार्थ यह प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत ग्रंथ में प्रत्येक शिक्षा समस्या के संबंध में नवीनतम विचार प्रस्तुत करने के प्रयास किए गए हैं। इसे लिखने में प्रो० के० सी० मलैया, शासकीय शिक्षा महाविद्यालय, जबलपुर ने जो सहयोग दिया है उसके लिए मैं उनकी आभारी हूं। जिन लेखकों एवं प्रकाशकों की रचनाओं से संदर्भ या सामग्री का उपयोग इस ग्रंथ के लिखने में किया गया है, मैं उनके प्रति भी अपना आभार व्यक्त करती हूं।

जबलपुर
दिनांक 15-8-75

—विद्यावती मलैया

अनुक्रम

1

पूर्व-प्राथमिक शिक्षा

सामान्यतः पूर्व-प्राथमिक बालक से अभिप्राय डेढ़ या दो वर्ष से 6 वर्ष तक की आयु वाले बालक से होता है। इस दृष्टि से पूर्व-प्राथमिक शिक्षा के अंतर्गत नर्सरी तथा किंडरगार्टन, दोनों प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने वाले बालकों का समावेश हो जाता है। नर्सरी विद्यालयों में छोटे बालक तथा किंडरगार्टन में 4 या 6 वर्ष तक की आयु के बालक भरती होते हैं, परंतु आजकल आयु का यह अंतर कम होता जा रहा है, क्योंकि किंडरगार्टन विद्यालयों में 2 से 3 वर्ष की आयु के बालक भरती होने लगे हैं। साथ ही नर्सरी विद्यालयों में भी 5 वर्ष तक की आयु के बालक-बालिकाएं जाने लगे हैं। अतः अब प्राथमिक शिक्षा की आयु के पूर्व के बालकों की शिक्षा को पूर्व-प्राथमिक शिक्षा कहना उचित होगा। भारत में तो इन दिनों दोनों प्रकार के विद्यालयों की अभी शुरुआत सी ही है। भारतीय परिस्थितियां ही कुछ ऐसी हैं कि यहां बहुत छोटे बच्चों के विद्यालयों की अलग से स्थापना संभव नहीं है। यहां तो प्राइमरी स्कूलों में ही बच्चों की कक्षाएं जोड़ने से काम चल सकता है। इससे एक तो शिक्षा का व्यय कम हो जाएगा तथा छोटे बच्चों को अपने बड़े भाई-बहनों से अलग पढ़ने भी नहीं जाना पड़ेगा। वे उन्हीं के साथ तथा देखरेख में शिक्षा पा सकते हैं। हमारे देश में गांवों की संख्या बहुत अधिक है। अनेक गांव इतने छोटे हैं कि अलग से छोटे बच्चों के विद्यालयों के लिए उचित संख्या में बच्चे भी नहीं मिल सकते। कई गांवों को मिलाकर छोटे बच्चों के विद्यालय स्थापित करने में भी बड़ी कठिनाई है, क्योंकि वे पैदल चलकर दूसरे गांव में पढ़ने नहीं जा सकते। अतः पूर्व-प्राथमिक विद्यालय शहरों में तो अलग से स्थापित किए जा सकते हैं पर गांवों में इन्हें अलग से स्थापित न कर प्राथमिक या बुनियादी विद्यालयों में बच्चों की कक्षाएं जोड़कर चलाना ही अधिक उपयुक्त होगा। इन कक्षाओं में तीन वर्ष या इससे अधिक आयु से लेकर 6 वर्ष तक के बच्चे भरती किए जा सकते हैं।

आवश्यकता

पूर्व-प्राथमिक शिक्षा को यूरोप, इंग्लैंड तथा अमरीका में तो बहुत ही अधिक महत्त्व दिया जाता है। रूस में किंडरगार्टन, क्रैश तथा नर्सरी विद्यालयों की बहुत अच्छी व्यवस्था है। वहां इनकी संख्या भी काफी है। पर भारत में अभी इसे इतना अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया गया है। इधर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही इसे उपयोगी माना जाने लगा है तथा इसकी आवश्यकता को भी महसूस किया जाने लगा है। वास्तव में यह भारतीय जनता का दुर्भाग्य है कि बालक की सबसे महत्त्वपूर्ण आयु, अज्ञान के कारण प्रायः उपेक्षित रह जाती है। जब कि इस आयु में उसमें अच्छे संस्कारों का बीजारोंपण हो सकता है।

पूर्व-प्राथमिक शिक्षा का संसार के विकसित देशों में प्रसार होने के निम्न कारण हैं :

1. इस आयु के बालकों की संख्या का अधिक होना।
2. एक बालक वाले कुटुंबों की संख्या में वृद्धि।
3. कुटुंबों में मां का घर के बाहर के काम में अधिक व्यस्त रहना।
4. मनोवैज्ञानिक तथा शरीर-विज्ञानवेत्ताओं की खोजों के कारण इस आयु के महत्त्व की जानकारी।
5. नर्सरी तथा किंडरगार्टन विद्यालयों की अच्छी व्यवस्था से समाज को इनके महत्त्व तथा उपयोगिता का ज्ञान होना। यही वजह है कि समाज सभी बालकों को इससे लाभान्वित करने की बात सोचने लगा है।

महत्त्व

संसार के विकसित देशों में भी, पूर्व-प्राथमिक शिक्षा का महत्त्व बहुत अधिक देर से स्वीकार किया गया। इसीलिए इसका इतिहास 200 या 300 वर्षों से अधिक पुराना नहीं है। वैसे तो 17वीं शताब्दी में ही कमीनियस ने बच्चों के विद्यालयों की उपयोगिता बतलाई थी, पर इसकी प्रगति पिछले 100 वर्षों में ही अधिक हुई।

व्यक्ति के जीवन में, उसके सर्वांगीण विकास की दृष्टि से, आरंभ के 6 वर्ष बहुत ही महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। ये प्रथम 6 वर्ष न केवल उसके शारीरिक विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं, वरन् उसके मानसिक, संवेगात्मक तथा भावात्मक विकास की दृष्टि से भी बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। शरीर-विज्ञान शास्त्रियों तथा मनोवैज्ञानिकों के शोधकार्यों से भी इन तथ्यों की सफलता का प्रतिपादन होता है। मैकनरिज तथा विन्सेंट ने इसीलिए लिखा है कि बच्चे प्रथम

पांच वर्षों में अपने शेष संपूर्ण जीवन की अपेक्षा अधिक सीखते हैं। गेसेल भी इसे स्वीकार करते हैं कि व्यक्ति के विकास के अपूर्व, अनोखे तथा महत्त्वपूर्ण पक्ष उसके जीवन के प्रथम पांच वर्ष में ही केंद्रित रहते हैं। जरशील्ड महोदय तथा उनके साथी भी मानते हैं कि छः वर्ष की आयु तक बालक मानव के जीवनकाल में होने वाले अधिकांश महत्त्वपूर्ण अनुभवों से परिचित हो जाता है। मानव-विकास संबंधी प्रयोगों तथा शोध-कार्यों से भी यह सिद्ध हो चुका है कि बालक के प्रथम पांच या छः वर्ष उसके व्यक्तित्व के विकास में बड़े प्रभावशाली तथा महत्त्वपूर्ण होते हैं। उसके भावी व्यक्तित्व का सामंजस्यपूर्ण या असामंजस्यपूर्ण होना भी इस काल में ही निर्धारित होता है।

संसार के प्रायः सभी विद्वान् इस मत से सहमत हैं। इसीलिए इस आयु के बालकों की उचित शिक्षा-व्यवस्था की ओर अब अधिक ध्यान दिया जाने लगा है।

पूर्व-प्राथमिक शिक्षा का विकास

वैसे तो प्लैटो ने सामुदायिक नर्सरी की स्थापना बालकों के उचित विकास के लिए उपयोगी बतलाई है तथा आदर्श राज्य के लिए इसे आवश्यक माना था। पर कमीनियस (1592–1670) ही छोटे बच्चों के विद्यालय खोलने के विचार का प्रारंभकर्ता समझा जाता है। कमीनियस के बाद लाक (1632–1740) ने बालकों में अच्छी आदतें डालने के लिए प्रारंभ से ही उपयुक्त प्रशिक्षण को महत्त्वपूर्ण बतलाया। रूसो (1712–1788) ने बालक की स्वतंत्रता तथा उन्मुक्त क्रियाकलाप को महत्त्वपूर्ण माना तथा पेस्टालाजी (1746–1827) ने शिक्षण-विधि में सुधार किया।

सबसे पहले नर्सरी स्कूल 1769 में वोवरलीन ने फ्रांस के बालवेस नगर में खोला। इसके लगभग 47 वर्ष बाद स्काटलैंड में नर्सरी विद्यालय खोला गया। फ्रोबेल (1782–1852) ने किंडरगार्टन विद्यालय खोले तथा इसके बाद में यूरोप, इंग्लैंड तथा अमरीका में 19वीं सदी के अंतिम चरण में, नर्सरी तथा किंडरगार्टन विद्यालयों का प्रचलन हुआ। रूस में श्रमिक समाज अधिक होने तथा अधिक संख्या में महिलाओं के घर से बाहर काम पर जाने के कारण किंडरगार्टन, क्रैश तथा नर्सरी विद्यालयों का बहुत अधिक विकास हुआ।

प्रारंभ में नर्सरी तथा किंडरगार्टन विद्यालय समाज के उच्च वर्ग के बच्चों के लिए ही खोले जाते थे तथा यह समझा जाता था कि ये उच्च वर्ग के बच्चों के लिए ही हैं। अमरीका में तो सन् 1933 तक यह विचार प्रचलित रहा। वहां 1933 में फेडरेल इमर्जेंसी रिलीफ एडमिनिस्ट्रेशन ने समाज के निम्न वर्ग के

लोगों के लिए भी नर्सरी विद्यालय खोलने के लिए नियम वनाए। द्वितीय महायुद्ध में नर्सरी तथा किंडरगार्टन विद्यालयों की संख्या अधिक बढ़ी और मांटेसरी विद्यालय खुले तो संसार के अनेक देशों में पूर्व-प्राथमिक शिक्षा में एक कड़ी और जुड़ गई। परंतु मांटेसरी विद्यालय महंगे थे। अतः इनका प्रचार धनी देशों में ही अधिक हुआ।

भारत में पूर्व-प्राथमिक शिक्षा का इतिहास वहुत नया है। प्राचीन तथा मध्यकाल में कुटुंव तथा मंदिर या मस्जिद आदि ही इस जिम्मेदारी को पूरी करते थे। आज भी अनेक कारणों से भारतीय कुटुंव ही इस शिक्षा की जिम्मे-दारी वहन कर रहा है। भारत में सन् 1950–51 तक पूर्व-प्राथमिक विद्यालयों की संख्या, जिनमें पूर्व-वुनियादी विद्यालय सम्मिलित हैं, 27 ही थी। पूर्व-प्राथमिक शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था भी नहीं के वरावर थी। ऐसी प्रशि-क्षण संस्थाएं वंवई, मद्रास, उत्तर प्रदेश और मैसूर में थीं। ऐसी प्रशिक्षण संस्थाओं का प्रशिक्षण मांटेसरी विधि का 4 महीने का मांटेसरी इंटरनेशनल असोसियेशन की ओर से हैदरावाद में होता था। वाद में चलकर पूर्व-प्राथमिक तथा पूर्व-वुनियादी विद्यालयों की अच्छी प्रगति हुई। सन् 1953–54 में इनकी संख्या 426 हो गई। इनमें से 11 प्रतिशत विद्यालय सरकारी, 3·1 प्रतिशत गैर सरकारी स्वायत्त संस्थाओं के तथा शेष 85·9 प्रतिशत विद्यालय सहायता प्राप्त निजी संस्थाओं द्वारा चलाए जाते हैं। इन सभी में छात्रों की कुल दर्ज संख्या 42,751 (22,999 वालक तथा 19,832 वालिकाएं) थीं। इन विद्यालयों पर कुल व्यय 16,89,300 रुपये था।

सन् 1953 में केंद्रीय सरकार ने केंद्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद की सिफारिश के आधार पर बच्चों की शिक्षा की एक अखिल भारतीय समिति का गठन किया। इस समिति की प्रथम वैठक 28 तथा 29 अप्रैल 1953 को दिल्ली में हुई। इसकी सिफारिशें केंद्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् के समक्ष अगली वैठक में रखी गईं।

पुराने मध्य प्रदेश में भी जवलपुर तथा नागपुर में महिलाओं के लिए पूर्व-प्राथमिक मांटेसरी प्रशिक्षण संस्थाएं अक्टूबर सन् 1954–55 में खोली गईं। सन् 1953–54 में पुराने मध्य प्रदेश में यवतमाल में मांटेसरी अध्यापन मंदिर पूर्व-प्राथमिक शिक्षिकाओं के प्रशिक्षण के लिए प्रारंभ किया गया। इसके साथ-साथ वंवई तथा मद्रास में भी दो-एक प्रशिक्षण संस्थाओं का विकास हुआ। पर कुल मिलाकर स्थिति में कोई खास परिवर्तन न हुआ।

भारत में पूर्व-प्राथमिक शिक्षा के विकास के बाधक कारण

स्वतंत्रता मिलने के पहले पूर्व-प्राथमिक शिक्षा के विकसित न हो सकने का सबसे बड़ा कारण इस ओर अंगरेजी शासन की उपेक्षा की नीति रहा है। अंगरेजी शासन की उपेक्षापूर्ण नीति के साथ-साथ भारतीय जनता की गरीबी भी इसका दूसरा कारण था। गरीबी के कारण जनता अपने बड़े बच्चों को ही विद्यालयों में नहीं भेज सकती थी तो छोटे बच्चों को भेजने का प्रश्न ही कहां उठता है।

इसका तीसरा कारण भारतीय जनता का अज्ञान तथा अशिक्षित होना भी था। अज्ञान तथा अशिक्षा के कारण वे बालक के जीवन के इन प्रथम 6 वर्षों के महत्त्व से परिचित न थे तथा बालकों की शिक्षा के प्रति उन्हें कोई रुचि न थी।

पूर्व-प्राथमिक शिक्षा का विकास

	1950–51	1965–66
विद्यालयों की संख्या	303	3,500
शिक्षक	866	6,500
वर्ग की संख्या	28,000	2,50,000
व्यय	12 लाख रुपया (शिक्षा पर व्यय का लगभग 0·1 प्रतिशत)	110 लाख रुपया (शिक्षा पर व्यय का लगभग 0·2 प्रतिशत)

केंद्रीय समाज कल्याण परिषद् ने पूर्व-प्राथमिक या पूर्व-विद्यालय शिक्षा के ग्रामीण क्षेत्रों में विकास के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। इस विभाग ने लगभग 20,000 बालवाड़ियों की स्थापना की है, जिसमें लगभग 6,00,000 नन्हे-मुन्ने पढ़ते हैं। पूर्व-प्राथमिक विद्यालयों को देखते हुए तथा देश की निरंतर बढ़ती हुई आबादी को ध्यान में रखते हुए यह संख्या बहुत ही कम है। परंतु इससे पूर्व किए गए प्रयासों की तुलना में यह बहुत अधिक है। भारतीय शिक्षा-आयोग (1964–66) ने शिक्षा पर होने वाले व्यय एवं देश के साधनों आदि को ध्यान में रखते हुए पूर्व प्राथमिक शिक्षा को प्राथमिकता देने की सिफारिश की है। साथ ही इसके स्तर को उच्च बनाने पर भी बल दिया है।

पूर्व-प्राथमिक या पूर्व-विद्यालय शिक्षा की समस्याएं

1. अंगरेजों की उपेक्षा नीति के कारण पूर्व विद्यालय शिक्षा का विकास न होना : स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले पूर्व-प्राथमिक शिक्षा के विकसित न हो सकने

का सबसे बड़ा कारण इस ओर अंगरेजी शासन की उपेक्षा रही है। अंगरेजी शासन की उपेक्षापूर्ण नीति से पूर्व-प्राथमिक शिक्षा का विकास अवरुद्ध हो गया।

2. पर्याप्त धन का अभाव : भारतीय जनता की गरीबी भी इसका कारण रही है। पर्याप्त धन न होने के कारण जनता अपने वड़े वच्चों को ही विद्यालयों में नहीं भेज सकती है, तव छोटे वच्चों को भेजने का प्रश्न कहां उठता है।

3. भारतीय जनता का अज्ञान तथा अशिक्षा : भारतीय जनता अज्ञान तथा अशिक्षा के कारण अपने वालकों के जीवन के इन प्रथम छः वर्षों के महत्त्व से परिचित नहीं है तथा वालकों की शिक्षा के प्रति उन्हें रुचि नहीं है।

4. भारत में ग्रामों की अधिकता : भारतीय पूर्व-प्राथमिक शिक्षा के विकास में एक बाधक कारण भारत में गांवों की अधिकता है। गांव संख्या में अधिक होने के साथ-साथ इतने छोटे हैं कि स्वतंत्र विद्यालय उनमें चल ही नहीं सकते हैं।

5. भारतीय मां का अपने बच्चों के प्रति अत्यधिक स्नेह एवं ममता : भारतीय मां अपने लाड़-प्यार के कारण यह सहन नहीं कर सकती कि उनके इस उत्तरदायित्व को कोई और वहन करे, वे ऐसा मानती हैं कि उनसे अधिक अच्छी तरह अन्य कोई इस कार्य को नहीं कर सकता है, जव कि वे स्वयं भी अशिक्षित ही होती हैं।

6. शिक्षा का अत्यधिक महंगा होना : पूर्व-प्राथमिक शिक्षा प्राथमिक शिक्षा से अधिक महंगी है। अतः इस शिक्षा तक केवल उच्च वर्ग के वच्चों की ही पहुंच हो सकती है। अव भी इसे यदि पूर्व वुनियादी के समान सस्ता और सर्व सुलभ नहीं किया जाएगा तो भारत में मांटेसरी, किंडरगार्टन आदि विधियों का प्रचार देश के उच्च वर्ग तक ही सीमित रहेगा।

7. बाल मंदिरों की अपर्याप्त संख्या : स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व बाल मंदिरों की संख्या वहुत ही कम थी। पर स्वतंत्रता प्राप्ति के वाद भी वाल मंदिरों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि नहीं हुई है, यद्यपि पहले से अव यह कहीं अधिक है। शहरों में तो वाल मंदिरों की कुछ संख्या है परंतु गांवों में तो इनकी संख्या नहीं के वरावर है। भारत की अधिकांश जनता गांवों में रहती है, इसलिए पहले गांवों में इसका प्रवंध होना अत्यावश्यक है। पर इस ओर अभी पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जा रहा हैं। इसलिए पूर्व प्राथमिक शिक्षा का विकास समुचित रूप से नहीं हो रहा है।

8. प्राथमिक शिक्षा के लिए पाठ्यक्रम की समस्या : पूर्व-प्राथमिक शिक्षा का

पाठ्यक्रम भी दोषपूर्ण है। यद्यपि कई वाल मंदिर मांटेसरी पद्धति तथा किंडरगार्टन के आधार पर व्यवस्थित किए गए हैं। वास्तव में देखा जाए तो वे परंपरागत पाठ्यक्रम को ही महत्त्व देते हैं। इन विद्यालयों में भी वालकों को गणित और पढ़ाई-लिखाई सिखाई जाती है। परंतु इस स्तर पर इस प्रकार की शिक्षा आवश्यक नहीं है। पाठ्यक्रम वालकों की रुचि एवं प्रवृत्तियों के अनुकूल होना चाहिए। वालकों को ऐसे खेल तथा कार्य करवाए जाने चाहिएं जिनसे उनके अंदर जिज्ञासा, वात्सल्य तथा अनुकरण की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिले। वर्तमान समय के पाठ्यक्रम में अभी भी इन सब वातों की कमी है। देश के विभिन्न वाल मंदिरों में अलग-अलग पाठ्यक्रम हैं जिनके कारण भी पूर्व-प्राथमिक शिक्षा का विकास पर्याप्त रूप से नहीं हो पा रहा है।

9. शिक्षकों की समस्या : पूर्व-प्राथमिक शिक्षा का भार शिक्षिकाओं के हाथ में देना ही ठीक रहता है, क्योंकि वे ही वालकों के साथ प्रेम एवं सहानुभूति का व्यवहार कर सकती हैं तथा उनकी आदतों से भी परिचित होती हैं। इस कार्य के लिए शिक्षिकाओं को योग्य और प्रशिक्षित होना चाहिए। साथ ही शिशु मनोविज्ञान की भी जानकारी इन्हें होनी चाहिए तभी वे वालकों के साथ अपने को भलीभांति समायोजित करके उनके व्यक्तित्व के विकास में सहयोग दे सकेंगी। यह देखा गया है कि वाल मंदिरों में शिक्षिकाएं काम करना पसंद नहीं करती हैं क्योंकि इनका वेतन वहुत कम होता है। इस तरह से शिक्षिकाओं की समस्या भी पूर्व-प्राथमिक शिक्षा के विकास में वहुत वड़ी वाधा है।

पूर्व-प्राथमिक शिक्षा-समस्याओं को दूर करने के उपाय

1. पूर्व-प्राथमिक शिक्षा को सस्ता बनाना चाहिए। सस्ता वनाने के लिए इसे मांटेसरी या किंडरगार्टन पद्धतियों के पदचिह्नों पर चलाने की अपेक्षा पूर्व-वुनियादी शिक्षा के ढांचे में ढाला जाना चाहिए।

2. जनता को शिक्षित करके वालक के प्रथम पांच या छः वर्षों के महत्त्व को समझाना चाहिए।

3. यातायात के साधनों में सुधार करके गांवों के जीवन को सरस, मधुर तथा उन्नत बनाया जाए इससे पूर्व-प्राथमिक विद्यालयों की शिक्षिकाएं गांवों में रहना पसंद करेंगी।

4. पूर्व-प्राथमिक शिक्षिकाओं को गांवों में रहने के लिए आवास की सुविधाएं दी जाएं। उनका वेतन तथा सेवा की शर्तें भी आकर्षक बनाई जाएं।

5. स्वायत्त शासन संस्थाओं को भी वाल मंदिरों को खोलने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

6. वाल मंदिरों को प्राथमिक विद्यालयों तथा गांव के शिशु कल्याण केंद्रों के साथ संबद्ध किया जाए। इन तीनों को प्रायः एक ही जगह स्थापित करके इनका खर्च कम किया जा सकता है।

7. गांवों की पढ़ी-लिखी महिलाओं को प्रशिक्षण के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए जिससे वे जाकर अपने गांवों में वाल-मंदिरों का कार्य कर सकें।

8. पहले शहरों तथा वाद में गांवों में इसका प्रसार किया जाए।

9. महिलाओं की शिक्षा की व्यवस्था अच्छी तथा अधिक की जानी चाहिए। इससे वे शिक्षित हो सकेंगी तथा उनकी दशा सुधरेगी। यह कदम पूर्व-माध्यमिक शिक्षा विकास के लिए भी आवश्यक है।

10. पूर्व-प्राथमिक शिक्षा पूर्णतः निःशुल्क हो।

11. पूर्व-प्राथमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में लिखने-पढ़ने की ओर अधिक ध्यान न दिया जाए। वरन् सामाजिक अनुभव, भोजन करने, सोने, स्वच्छ वायु में घूमने, खेलने आदि की स्वस्थ आदतों के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

12. वाल मंदिरों की संख्या पर्याप्त की जाए।

13. इन वाल मंदिरों में वालक वालिकाएं एक साथ पढ़ने चाहिएं। इससे उनको एक-दूसरे को शुरू से समझने का मौका मिलेगा तथा खर्च भी कम लगेगा। इस आयु में वालक वालिकाओं को एक जगह शिक्षा देना कोई हानिप्रद नहीं है।

14. वाल मंदिरों की स्थापना, विकास और व्यवस्था में अभिभावकों को पूरा सहयोग देना चाहिए। उन्हें अपने वच्चों को स्कूल भेजकर ही अपने कर्तव्य की समाप्ति नहीं समझ लेनी चाहिए। कभी-कभी उन्हें वाल मंदिर में जाकर अपने वालकों के संबंध में शिक्षिकाओं से जानकारी भी प्राप्त करनी चाहिए। इससे वालकों में स्वस्थ आदतों का निर्माण शिक्षिकाएं आसानी से कर सकेंगी। शिक्षिकाओं को भी कभी-कभी अपने स्कूलों में ऐसे कार्यक्रमों की व्यवस्था करनी चाहिए जिससे अभिभावकगण स्कूल आकर वच्चों के कार्यक्रम देख सकें।

इसके लिए अभिभावक दिवस, पितृ संघ, अभिभावक-शिक्षक संघ आदि का आयोजन उपयोगी होगा। इन अवसरों पर निरक्षर एवं अशिक्षित माता-पिता को शिक्षा के महत्त्व से भी परिचित कराया जा सकता है।

भारतीय शिक्षा आयोग (1964–66) की अनुशंसाएं

भारतीय शिक्षा-आयोग ने पूर्व-विद्यालय शिक्षा के विकास के लिए

निम्नलिखित उपयोगी सुझाव दिए हैं, जो कि अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं :

1. पूर्व विद्यालय शिक्षा के विकास के लिए राज्य शिक्षा संस्थान में एक राज्य स्तरीय केंद्र खोला जाए। इसके अतिरिक्त क्रमशः अगले 20 वर्षों में प्रत्येक जिले में पूर्व-प्राथमिक शिक्षा-विकास-केंद्र की स्थापना की जानी चाहिए। इन केंद्रों का प्रमुख कार्य पूर्व-प्राथमिक शिक्षकों का पुनर्बोधन करना, शिक्षा के सस्ते उपकरण विकसित करना, पूर्व-प्राथमिक शिक्षकों के कार्यों का पर्यवेक्षण करना तथा उनका मार्ग निर्देशन करना पूर्व-प्राथमिक शिक्षा संबंधी प्रयोग करना आदि होना चाहिए।

2. पूर्व-प्राथमिक विद्यालयों की स्थापना एवं विभिन्न प्रकार से उनके विकास का काम निजी संस्थाओं को सौंपना ठीक होगा। इन संस्थाओं को अनुदान पूर्ण खर्च का 50 प्रतिशत दिया जाए। परंतु पिछड़े इलाकों में शासन को अधिक व्यय करना चाहिए।

3. पूर्व-प्राथमिक स्तर की शिक्षा पर प्रयोगों को प्रोत्साहित किया जाए तथा मद्रास में अपनाई गई योजना, जिसमें स्थानीय शिक्षित महिला को पूर्व-प्राथमिक स्तर के बच्चों की देखरेख के लिए रखा जाता है, अपनाया जाना चाहिए। इसमें व्यय कम पड़ता है तथा बच्चों की देखरेख ठीक होती है।

4. इस संबंध में देश के अनेक भागों में प्राथमिक विद्यालयों से छोटे बच्चों के खेल के केंद्रों को संलग्न करने के लिए भी प्रयास किया जाना चाहिए। इन केंद्रों में लगभग 2 घंटे सामूहिक गान, कहानी-कथन, खेल, व्यक्तिगत स्वास्थ्य की देखरेख आदि की व्यवस्था रहती है। यह व्यवस्था विशेष रूप से प्रशिक्षित शिक्षिकाओं की देखरेख में होती है। इससे कक्षा 1 में अवरोध और अपव्यय भी बहुत कम होता जाता है।

5. राज्य का कार्य आदर्श पूर्व-प्राथमिक विद्यालयों की व्यवस्था, निजी संस्थाओं को अनुदान देने, पूर्व-प्राथमिक शिक्षा पर प्रयोग कर प्रोत्साहित करने, उक्ति साहित्य का निर्माण, पूर्व-प्राथमिक शिक्षकों का प्रशिक्षण, पूर्व-प्राथमिक शिक्षा संबंधी राज्य एवं जिला आदि केंद्रों की व्यवस्था से संबंधित होना चाहिए।

6. भारतीय शिक्षा आयोग 'बच्चों की देखरेख' के लिए संगठित की गई समिति की सिफारिशों से सहमत है कि पूर्व-प्राथमिक स्कूलों का पाठ्यक्रम कुछ खास तरह की गतिविधियों जैसे खेल, हाथ-पैर के कार्य, अपना कार्य स्वयं करना, गाना गाना, पेंटिंग करना, आस-पास की चीजों का ज्ञान आदि से संबंधित होना चाहिए।

7. राज्य एवं केंद्र में बाल-विकास एवं पूर्व-प्राथमिक शिक्षा के कार्यों की

व्यवस्था करने वाले विभिन्न संगठनों में आपस में और अधिक सहयोग एवं सामंजस्य होना आवश्यक है।

8. पूर्व-प्राथमिक विद्यालय शिक्षा का अगले 20 वर्षों में ऐसा विकास किया जाना चाहिए कि 3 से 5 वर्ष की आयु के लगभग 5 प्रतिशत बच्चों को पूर्व-प्राथमिक विद्यालयों में दर्ज किया जा सके। इसका तात्पर्य होगा कि सन् 1985–८6 तक 25 प्रतिशत बच्चे पूर्व-प्राथमिक विद्यालयों में दर्ज हो जाने चाहिए। यदि सस्ते उपकरणों की व्यवस्था हो जाए तो लगभग इस आयु के 50 प्रतिशत बच्चे पूर्व-प्राथमिक विद्यालयों में 1985–86 तक दर्ज हो सकेंगे। इस प्रकार दर्ज की गई संख्या लगभग 100 लाख हो जाएगी।

2

प्राथमिक शिक्षा

प्राथमिक शिक्षा से सामान्य तात्पर्य शिक्षा-काल के प्रारंभिक 5, 7 वर्षों से है। विभिन्न देशों में आवश्यकता तथा सुविधा के अनुसार इसकी अवधि भिन्न-भिन्न है। यही नहीं, एक ही देश में विभिन्न समयों पर प्राथमिक शिक्षा की अवधि भिन्न-भिन्न रही है। इस अवधि में बालक बालिकाओं को आरंभिक आवश्यक ज्ञान देने की व्यवस्था होती है। भारतीय शिक्षा आयोग (1964–66) ने प्राथमिक स्तर की शिक्षा को 7 या 8 वर्षीय बनाने—4 या 5 वर्ष की निम्न प्राथमिक तथा 3 या 4 वर्ष की उच्च प्राथमिक बनाने—की सिफारिश की है। समाज में प्राथमिक शिक्षा के समुचित प्रसार हेतु कोठारी शिक्षा आयोग (1964–66) ने यह भी सुझाव दिया है कि प्रत्येक एक मील पर निम्न प्राथमिक तथा प्रत्येक 3 मील पर उच्च प्राथमिक शाला स्थापित की जाए। नामांकन नीति के संबंध में भी यह सुझाव दिया गया कि प्राथमिक स्तर पर किसी भी बालक या बालिका को दर्ज करने से मना न किया जाए। इस प्रकार देश में प्राथमिक शिक्षा के समुचित प्रसार हेतु उपयोगी एवं प्रभावी सुझाव दिए गए। प्राथमिक स्तर पर शिक्षा के गुणात्मक विकास हेतु भी यह सुझाव दिया गया कि योग्य बच्चों के लिए विशेष पाठ्यक्रम व्यवस्थित किए जाएं।

प्राथमिक स्तर पर शिक्षा के विकास के लिए अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के विकास की ओर भी ध्यान दिया। अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का संबंध देश में शिक्षा के प्रसार से बहुत अधिक है। अतः यहां इस पर विस्तार से विचार करना उपयोगी होगा।

अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का विकास

अंगरेजों के भारत आने के समय देश में देशी शिक्षा का एक जाल सा बिछा हुआ था। देशी शिक्षा के विद्यालय दो प्रकार के थे (1) प्राथमिक

विद्यालय तथा (2) उच्च शिक्षा के विद्यालय । प्राथमिक विद्यालय संख्या में अधिक तथा लोकतंत्रात्मक थे । उच्च शिक्षा के विद्यालय प्रधानतः धार्मिक थे तथा प्राचीन संस्कृति का संरक्षण करते थे । यही उनका प्रमुख उद्देश्य था । इन दोनों प्रकार के विद्यालयों में पढ़ना-लिखना तथा गणित ही महत्त्वपूर्ण विषय माने जाते थे । शिक्षक अपने व्यक्तित्व तथा रुचि के अनुसार ही विधियों का उपयोग करते थे । जन शिक्षा की दृष्टि से इस शिक्षा व्यवस्था को संतोषजनक नहीं कहा जा सकता क्योंकि न तो इनका शिक्षण स्तर ही बहुत अच्छा था और न ही इनकी संख्या पर्याप्त थी कि सभी को अनिवार्य रूप से प्राथमिक शिक्षा मिल सके ।

भारतीय शिक्षा के इतिहास में अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा का विचार बहुत आधुनिक है । वर्तमान भारत के शिक्षा इतिहास का प्रारंभ हम सन् 1813 से मान सकते हैं । सन् 1813 के ऐक्ट के अनुसार ब्रिटिश पार्लियामेंट ने ईस्ट इण्डिया कंपनी को भारतीयों की शिक्षा का उत्तरदायित्व वहन करने के लिए निर्देश दिया तथा आज्ञा दी कि इसके लिए प्रतिवर्ष एक लाख रुपये से कम न व्यय किया जाए ।

सन् 1813 से 1882 तक

वर्तमान भारतीय प्राथमिक अनिवार्य शिक्षा के सन् 1813 से 1882 तक के कार्यकाल को हम 6 भागों में विभाजित कर सकते हैं । इस काल में लार्ड मैकाले की 'अल्पाधार की नीति' का ही पालन हुआ । जिसके अनुसार यह कल्पना की गई थी कि कुछ थोड़े से लोगों को शिक्षित किया जाए तथा ये थोड़े से लोग ही जन सामान्य में शिक्षा का प्रसार करें । इस अल्पाधार की नीति के फलस्वरूप अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का प्रश्न न उठना स्वाभाविक था । यह अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की पूर्ण उपेक्षा का काल था ।

इस काल में दूसरी गलती अंगरेजी के माध्यम से उच्च शिक्षा को प्रोत्साहित करना था । ऐसा प्राथमिक शिक्षा तथा भारतीय भाषाओं की उपेक्षा कर के किया गया । यह सब अंगरेजी भाषा को राजभाषा बनाने के लिए किया गया था । इस काल में प्राथमिक शिक्षा की उपेक्षा का पता हमें निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण सरकारी प्रपत्रों से चलता है :

(i) वुड डिस्पेच (1854) : इसमें स्पष्ट उल्लेख है कि जन सामान्य की शिक्षा अभी तक उपेक्षित रही है अतः इसके प्रसार के लिए समुचित प्रयत्न किया जाना चाहिए ।

(ii) भारतीय शिक्षा आयोग (1882) : सन् 1854 में वुड डिस्पेच में

जन शिक्षा के उपेक्षा संबंधी इस उल्लेख के बाद सन् 1882 में भी भारतीय शिक्षा आयोग ने यह देखा कि माध्यमिक तथा पूर्व माध्यमिक शिक्षा की प्रगति प्राथमिक शिक्षा की प्रगति से अधिक हुई है।

इस काल में प्रायः देखा गया कि देशी विद्यालय ही उपेक्षित रहे। मुनरो, एलफिस्टन आदि महानुभावों द्वारा वहुत पहले भारतीय देशी शिक्षा को जन सामान्य की शिक्षा का आधार बनाने का सुझाव दिया गया था। सन् 1854 के वुड डिस्पेच में भी इसका उल्लेख है तथा सन् 1882 के भारतीय शिक्षा आयोग ने भी इसके महत्त्व पर बल दिया, पर इस काल में हमेशा शिक्षा के संख्यात्मक विकास की अपेक्षा गुणात्मक विकास पर ही अधिक बल दिया गया। सन् 1855 में शिक्षा विभाग बनने के बाद भी शिक्षा की गुणात्मक वृद्धि को ही अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया।

इस काल में अंगरेजी शासन के केंद्रीकरण, अंगरेजी शासन के भारतीय जन सामान्य के जीवन को सुधारने की असमर्थता तथा दूषित आर्थिक नीति के कारण भी जन सामान्य की शिक्षा की उपेक्षा हुई।

यह काल अनिवार्य शिक्षा संबंधी आंदोलन के प्रारंभ की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस काल में पूर्व-प्राथमिक शिक्षा की ओर कोई रुचि नहीं दिखाई गई, परंतु भारतीयों ने संगठित होकर तत्संबंधी आंदोलन प्रारंभ किया।

इस काल में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के आंदोलन प्रारंभ होने के निम्नलिखित कारण थे—

1. अंगरेजों के भारत आने तथा अनेक भारतीयों के इंग्लैंड जाकर अंगरेजों के संपर्क में आने से भारतीय समाज में क्रांतिकारी-परिवर्तन उपस्थित हुए।

2. 19वीं शताब्दी में भारत में धार्मिक सुधार के अनेक प्रयत्न किए गए। ये सुधार के प्रयत्न ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज तथा रामकृष्ण मिशन द्वारा किए गए। इन सुधारों में ऊंच-नीच का भेद मिटाना, पर्दा प्रथा को समाप्त करना, विधवा विवाह को मान्यता देना, हरिजनों की उन्नति, वाल विवाह रोकना, स्त्रियों की दशा सुधारना आदि महत्त्वपूर्ण थे। इसका प्रभाव भारतीय समाजिक दशा पर व्यापक रूप में पड़ा।

3. भारत में लोकतंत्र के सिद्धांतों को मान्यता देने से भी अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के आंदोलन को प्रोत्साहन मिला।

4. धार्मिक तथा सामाजिक सुधारों के फलस्वरूप देश की पददलित निम्न जातियों में उन्नति की भावनाओं का प्रादुर्भाव हुआ। इससे अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा आंदोलन को बल मिला।

5. भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावनाओं के विकास के कारण अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा आंदोलन को संगठित करने में प्रोत्साहन मिला।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 19वीं शताब्दी में भारत में सामाजिक एकता, ऊंच-नीच का भेदभाव दूर करने की भावनाओं के विकास, हरिजन, स्त्रियों आदि के उत्थान के प्रयत्नों आदि के फलस्वरूप अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा आंदोलन को प्रोत्साहन मिला, पर यह आंदोलन सरकारी नीति को प्रभावित करने योग्य सुसंगठित न हो सकने के कारण सफल न हो सका। साथ ही साथ जो अंगरेज सन् 1882 के पूर्व अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा को सिद्धांत रूप में स्वीकार करके भारत में इसके प्रचार के इच्छुक थे, वे भी देश की बदलती राजनीति के कारण इसके विरुद्ध हो गए। अभी तक भारतीय अंगरेजों के भक्त थे तथा अंगरेजों के शासन के प्रति कृतज्ञता का भाव रखते थे, पर राष्ट्रीयता के आंदोलन के विकसित होने के कारण यह सब संभव न रहा। फलस्वरूप अंगरेजों ने केवल कुछ गिने-चुने लोगों को शिक्षित करके जन सामान्य में अंगरेजों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने को बढ़ावा देने की नीति को पहले तो उपयुक्त समझा, पर बाद में इसे भी इसलिए त्याग दिया कि ये गिने-चुने लोग जनता की ओर से अनेक मांगें उपस्थित करने लगे थे।

इस काल में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के प्रश्न को उठाने का प्रथम महत्त्वपूर्ण अवसर सन् 1882 के भारतीय शिक्षा-आयोग की स्थापना से मिला। इस शिक्षा आयोग के समक्ष अनेक भारतीयों, अंगरेजों, मिशनरियों आदि ने बयान दिया तथा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा को अपनाने पर बल दिया। पर इस शिक्षा आयोग ने इस पर ध्यान नहीं दिया। अतः शासन ने अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के विचार को आदर्शात्मक माना। अंगरेज सरकार ने अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के सिद्धांत को कार्यान्वित न करने के निम्नलिखित कारण थे :

(1) भारत की जन संख्या तथा मृत्यु संख्या बहुत अधिक है। अतः अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा प्रारंभ करना बड़ा महंगा पड़ेगा।

(2) अंगरेज सरकार का भारतीयों पर अपने बच्चों को विद्यालयों में भेजने के लिए जबरदस्ती करना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इससे द्वेष ही बढ़ेगा।

(3) अनेक शासनात्मक कठिनाइयों, जैसे विद्यालय-भवन, शिक्षकों का चुनाव तथा उनका प्रशिक्षण, उपयुक्त हाजिरी, निरीक्षकों के अभाव आदि के कारण यह सब संभव नहीं है।

(4) भारत में जन सामान्य भी अभी इसके लिए तैयार नहीं है।

(5) अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा को प्रारंभ करने से अंगरेजों की धर्म-

निरपेक्ष नीति का पालन न हो सकेगा, क्योंकि इसमें हिंदू वच्चों के साथ हरिजनों का वैठना तथा वालिकाओं को विद्यालयों में पढ़ने के लिए भेजना अनिवार्य करना पड़ेगा।

इन सव कारणों से अंगरेज सरकार ने अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के प्रश्न को टाला, पर इस प्रकार के आंदोलन को भारतीयों ने छोड़ा नहीं। इस दिशा में सवसे अधिक सहयोग वड़ौदा के महाराजा सयाजीराव ने दिया। उन्होंने अपनी रियासत में सन् 1881 से (जव से वे गद्दी पर वैठे) 1892 तक प्राथमिक शिक्षा का अधिक से अधिक प्रसार किया। इतना ही नहीं, प्रयोग के लिए उन्होंने सन् 1893 में अपनी रियासत में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा प्रारंभ की तथा सन् 1906 में संपूर्ण रियासत में इसे लागू किया। इस प्रकार भारत में सर्वप्रथम अनिवार्य शिक्षा प्रारंभ करने का श्रेय वड़ौदा नरेश को ही है।

इसके बाद बंवई में सर इब्राहीम रहीमतुल्ला तथा सर सीतलवाड के प्रयत्नों के फलस्वरूप सन् 1906 में सरकार द्वारा अनिवार्य शिक्षा प्रारंभ करने के संवंध में जांच पड़ताल के लिए एक समिति का निर्माण हुआ। पर इस समिति ने यह निर्णय दिया कि अभी अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा प्रारंभ करने का उपयुक्त समय नहीं हुआ है।

सन् 1910 में श्री गोपाल कृष्ण गोखले ने केंद्रीय विधान सभा में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के संवंध में एक प्रस्ताव रखा। इसमें यह सुझाव रखा गया था कि इस संवंध में जांच के लिए एक आयोग की स्थापना की जाए। अंगरेजी शासन द्वारा इस प्रश्न की जांच को उचित महत्त्व देने के आश्वासन पर यह प्रस्ताव वापस ले लिया गया। पर सन् 1911 में पुन: श्री गोखले ने एक निजी प्रस्ताव के रूप में केंद्रीय विधान सभा में इस प्रश्न को उठाया तथा अंगरेजों के सभी आक्षेपों तथा कठिनाइयों का उत्तर अपने चिरस्मरणीय भाषण में दिया।

सन् 1910 से 1918 तक

इस काल में श्री गोखले द्वारा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा को सरकार द्वारा मान्यता दिए जाने के संवंध में स्मरणीय प्रयत्न किए गए। सन् 1911 में जो निजी प्रस्ताव श्री गोखले ने प्रस्तुत किया था उसमें उन्होंने सरकारी कठिनाइयों तथा आक्षेपों को दूर करने के लिए यह प्रावधान रखा कि अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का कार्य स्वायत्त संस्थाओं के जिम्मे रखा जाए तथा इसे प्रारंभ करने के पूर्व शासन की मंजूरी आवश्यक समझी जाए। जिस क्षेत्र में अनिवार्य शिक्षा प्रारंभ की जा रही हो उस क्षेत्र में वालकों की संख्या का एक निश्चित प्रतिशत विद्यालयों में पढ़ने के लिए भरती होना चाहिए। इसके साथ-साथ अनेक सामाजिक

तथा आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने के उद्देश्य से इस विल में अनिवार्य शिक्षा की अवधि 4 वर्ष (6 वर्ष से 10 वर्ष) की रखी गई थी तथा अनिवार्य शिक्षा केवल वालकों तक ही सीमित रखने का सुझाव था। वालिकाओं के लिए इसकी व्यवस्था उपयुक्त समय आने पर ही करने का सुझाव दिया गया था तथा यह आशा की जाती थी कि यह मंजूर हो जाएगा। श्री गोखले के इस विल को सभी क्षेत्रों के भारतीय नेताओं, स्वायत्त संस्थाओं तथा कुछ अंगरेजों का समर्थन प्राप्त था। चूंकि केंद्रीय विधान सभा में सरकारी पक्ष के सदस्यों का वहुमत था तथा सरकार इसके विरुद्ध थी अत: यह विल पास न हो सका। इस अवसर पर श्री गोखले का भाषण अभूतपूर्व तथा जोशीला था।

श्री गोखले तथा अन्य भारतीय नेताओं के प्रयत्न इस संवंध में असफल अवश्य रहे परंतु इससे प्राथमिक शिक्षा संवंधी अभी तक चली आ रही सरकारी नीति में अनुकूल परिवर्तन हुए तथा इस ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। इससे भारतीय जनता का ध्यान भी शिक्षा की ओर गया। फलस्वरूप सन् 1901–2 से सन् 1916–17 तक प्राथमिक शिक्षा में निजी प्रयासों के फलस्वरूप अच्छी प्रगति हुई।

यह काल अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के नवीन युग का प्रारंभ माना जाता है क्योंकि इस काल में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के सिद्धांत को मान्यता दी गई तथा अनेक प्रांतों तथा रियासतों में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा कानून वने।

सन् 1918 से 1930 तक

प्रथम महायुद्ध के वाद भारत के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन में वड़े परिवर्तन हुए। राजनैतिक दृष्टि से दो परिवर्तन अत्यंत महत्त्वपूर्ण थे (1) शिक्षा विभाग को जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथ में सौंपना, और (2) शिक्षा सेवा का भारतीयकरण। सन् 1919 के वाद भारतीय शिक्षा सेवा के कुल स्थानों में से 50 प्रतिशत स्थानों पर भारतीयों की नियुक्ति का सिद्धांत मान लिया गया। इसके पूर्व इन स्थानों पर अंगरेजों की नियुक्ति होती थी। सन् 1924 से अखिल भारतीय शिक्षा सेवा की प्रथा ही वंद कर दी गई तथा प्रांत अपनी आवश्यकताओं के अनुसार प्रांतीय शिक्षा सेवा के अंतर्गत नियुक्तियां करने लगा।

शिक्षा प्रसार, महायुद्ध के समय जागृति, गांधीजी के हरिजन उत्थान आंदोलन तथा अन्य अथक परिश्रमों के फलस्वरूप भारतीय सामाजिक जीवन के क्षेत्र में अनेक परिवर्तन हुए। इस काल में सामाजिक एकता तथा वरावरी की भावनाओं का विकास हुआ। इससे अनिवार्य शिक्षा के आंदोलन को वल मिला।

इस काल में लोकतंत्र को मान्यता प्राप्त हुई तथा देश में अनेक लोकतंत्रीय संस्थाओं का विकास हुआ। साथ ही साथ देश की जनता का शिक्षा में विश्वास बढ़ा तथा वह अपनी उन्नति के लिए शिक्षा को आवश्यक समझने लगी। इन दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों ने लोकतंत्र में बढ़ते हुए विश्वास तथा शिक्षा में आस्था ने अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा आंदोलन को बढ़ावा दिया। फलस्वरूप अनेक प्रांतों में अनिवार्य शिक्षा कानून पास किए गए।

अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा कानून सर्वप्रथम बनाने का श्रेय बंबई को है। सन् 1917 में श्री विट्ठलभाई पटेल ने बंबई विधान परिषद् में म्युनिसिपल क्षेत्रों के लिए अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा संबंधी प्रस्ताव रखा। यह गोखले के बिल के आधार पर ही बनाया गया था, परंतु इसमें सरकार को अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा को म्युनिसिपल क्षेत्रों तक ही सीमित करके अनुदान देने की स्वतंत्रता थी। अतः यह प्रस्ताव पारित हो गया। यह 'पटेल ऐक्ट' के नाम से जाना जाता है। इसके बाद तो अनेक प्रांतों तथा रियासतों में तत्संबंधी कानून पास हुए, जैसे बंगाल (27 मार्च, सन् 1919), बिहार और उड़ीसा (13 मार्च, सन् 1919), पंजाब (7 मार्च सन् 1919), संयुक्त प्रांत (13 मार्च, सन् 1919), मध्यप्रांत (13 मार्च, सन् 1920), मद्रास (4 अक्तूबर, सन् 1920) बंबई शहर जिला बोर्ड के लिए (16 दिसंबर, सन् 1922), आसाम (7 जुलाई, सन् 1926) संयुक्त प्रांत जिला बोर्ड (25 फरवरी, सन् 1926), बंगाल ग्रामीण 26 अगस्त, सन् 1930)। बड़ौदा रियासत तो सन् 1906 में ही अपनी रियासत में इस प्रकार का कानून बना चुकी थी। कोल्हापुर ने सन् 1917 तथा मैसूर ने सन् 1931 में तत्संबंधी कानून बनाए।

ये सभी कानून गोखले के बिल के आधार पर ही बनाए गए थे। इनकी निम्न बातें प्रमुख थीं :

(1) इन कानूनों के द्वारा स्वायत्त संस्थाओं पर ही अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का उत्तरदायित्व छोड़ा गया।

(2) सभी कानूनों में थोड़ा बहुत परिवर्तन करके बच्चों की गैरहाजिरी के संबंध में नियम बनाए गए।

(3) सभी कानूनों में प्राथमिक शिक्षा का पर्याप्त विकास अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के लिए आवश्यक माना गया। अतः स्वायत्त संस्थाएं अनिवार्य शिक्षा को एक क्षेत्र के बाद दूसरे क्षेत्र में प्रारंभ कर सकती थीं।

(4) सभी कानूनों में बालिकाओं के लिए अनिवार्य शिक्षा सतर्कता से तथा उपयुक्त परिस्थितियों के उत्पन्न होने पर ही प्रारंभ करने का प्रावधान था।

(5) प्रारंभिक काल में बने कानूनों में शासन को स्वतंत्रता थी कि वह

अनिवार्य शिक्षा के लिए आर्थिक सहायता दे या न दे, पर बाद के बने कानूनों में सरकार के लिए 50 से 66 प्रतिशत आर्थिक सहायता देने का प्रावधान है।

(6) सभी कानूनों में अनिवार्य शिक्षा की अवधि संबंधी प्रावधानों का समावेश था। कुछ कानूनों में 4 वर्ष कुछ में 5 वर्ष तथा कुछ में 7 वर्ष की अवधि का प्रावधान था। बालिकाओं के लिए कम अवधि ही रखी गई थी।

सन् 1930 से 1950 तक

यह काल अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के प्रारंभिक प्रयोग का था। इसमें कुछ चुने हुए क्षेत्रों में अनिवार्य शिक्षा प्रारंभ की गई। अभी तक के अनिवार्य शिक्षा के संबंध में किए गए कार्यों से पता चलता है कि केवल स्वायत्त संस्थाओं को कानून बनाकर अनिवार्य शिक्षा चालू करने की अनुमति ही देने का कार्य हो पाया था। इस काल में इन स्वायत्त संस्थाओं ने इन कानूनों के द्वारा दी गई अनुमति को कार्य रूप में परिणत करने का कार्य प्रारंभ किया।

जब हम सन् 1930 से 1950 तक के अनिवार्य शिक्षा विकास पर विचार करते हैं तब पता चलता है कि सन् 1921–22 तक भारतीयों के हाथ में शिक्षा का संगठन तथा उसकी व्यवस्था आ जाने पर भी केवल 8 शहरों में ही अनिवार्य शिक्षा प्रारंभ की जा सकी। हमारा देश गांवों का देश होते हुए भी अभी तक एक भी गांव में अनिवार्य शिक्षा प्रारंभ न की जा सकी थी (बड़ौदा रियासत को छोड़कर)। अगले 16–17 वर्षों में भी अनिवार्य शिक्षा की प्रगति बहुत मंद ही रही, क्योंकि सन् 1936–37 में देश के 2703 शहरों में से केवल 167 शहरी क्षेत्रों तथा 6,55,892 देहाती क्षेत्रों में से 13,062 क्षेत्रों में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा प्रारंभ की जा सकी थीं। इसके प्रमुख दो कारण थे :

(1) **भारतीय शिक्षा सेवा अधिकारियों की उपेक्षा :** क्योंकि वे श्री गोखले तथा अन्य भारतीय नेताओं द्वारा अनिवार्य शिक्षा के लिए किए गए प्रयत्नों के विरुद्ध थे तथा यह बतलाना चाहते थे कि उनका कथन ठीक था। अतः अनिवार्य शिक्षा के संबंध में कोई जल्दबाजी के कदम नहीं उठाए गए।

(2) **आर्थिक कारण :** 1919 के ऐक्ट के अनुसार प्रांतों की जो अर्थव्यवस्था की गई थी वह ठीक न थी। प्रांतों को केंद्र के घाटे की पूर्ति के लिए बहुत धन देना पड़ता था। इससे प्रांतों के पास आमदनी के साधन होते हुए भी शिक्षा के लिए अधिक धन नहीं बचता था। सन् 1927–28 में केंद्रों को पैसा देना अवश्य बंद कर दिया गया था फिर भी सन् 1930 में आर्थिक मंदी का काल (Depression) आया तथा इसका प्रभाव लगभग सन् 1935–36

तक बना रहा। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि अनिवार्य शिक्षा की अनेक योजनाएं मंजूर ही नहीं हो सकीं।

सन् 1937 में भारत के अधिकांश प्रांतों में जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों ने सरकार बनाई, तब यह आशा की जा सकती थी कि अनिवार्य शिक्षा की प्रगति होगी। पर दुर्भाग्यवश राजनैतिक कारणों से सन् 1931 में जनता के प्रतिनिधियों की सरकारों को त्यागपत्र देना पड़ा। इसके स्थान पर जो कामचलाऊ सरकार बनी उसने जैसी स्थिति थी वैसी ही बनी रहने देने की नीति अपनाई। फलस्वरूप सन् 1946 तक अनिवार्य शिक्षा के क्षेत्र में कोई विशेष प्रगति नहीं हो सकी।

सन् 1947 में देश स्वतंत्र हुआ और जनता की सरकार ने देश की बागडोर संभाली। स्वाभाविक था कि अब स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अनिवार्य शिक्षा की समुचित प्रगति होती। परंतु स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ-साथ देश पर नई जिम्मेदारियां आ गईं। देश विभाजन के फलस्वरूप झगड़े तथा दंगे हुए, करोड़ों विस्थापित लोग पंजाब, बंगाल, सिंध आदि प्रांतों से अपनी जायदादें और घर-बार छोड़कर जैसे-तैसे भागकर आए। इन सभी की समुचित व्यवस्था करना परम आवश्यक था। देश में शांति बनाए रखना भी अपरिहार्य था। देश विभाजन से कृषि के अच्छे उपजाऊ क्षेत्र पाकिस्तान में चले गए। वर्षा आदि की गड़बड़ी के कारण अनाज काफी कम पड़ गया। विदेशों से करोड़ों रुपयों का अनाज मंगाना पड़ा। देश में फैली 500 से अधिक देशी रियासतों का विलयन करके उनके नये राज्य बनाने का कार्य भी बड़ा महत्त्वपूर्ण और कठिन कार्य था। इन सब कारणों से अनिवार्य शिक्षा में अपेक्षित प्रगति न हो सकी। फिर भी आंकड़ों के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि अनिवार्य शिक्षा-संबंधी सन् 1937 के पूर्व की प्रगति से सन् 1937 के बाद की प्रगति अपेक्षाकृत अच्छी रही।

पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अनेक स्थानों में अनिवार्य शिक्षा चालू होने के बाद भी बालकों की विद्यालयों में उपस्थिति की अनिवार्यता केवल कागजी ही थी। इसे वास्तविक स्वरूप नहीं दिया जा सका था। अनेक स्थानों पर विद्यालय नहीं खोले गए तथा बालकों के गैरहाजिर रहने पर कोई सख्ती नहीं बरती जाती थी। इस प्रकार यह काल प्रायोगिक ही रहा। इस काल में कोई ठोस प्रगति संभव न हो सकी। पर हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि इन प्रयोगों का कोई मूल्य नहीं है। आगे की योजनाएं बनाने तथा कठिनाइयों का पता लगाने की दृष्टि से ये प्रयोग बड़े महत्त्व के हैं।

1950 से वर्तमान काल तक

यह काल देश में वास्तविक दृष्टि से अनिवार्य शिक्षा लागू करने का रहा है। इस काल में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के प्रसार तथा विकास के लिए निश्चित तथा ठोस कदम उठाए गए हैं।

हमारे संविधान की 45वीं धारा में यह स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि इस संविधान के लागू होने के प्रारंभ से 10 वर्षों के भीतर राज्य प्रत्येक बालक बालिकाओं की 14 वर्ष की आयु तक निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करने का प्रयत्न करेगा।

भारत में अनिवार्य शिक्षा के अभी तक के विकास से पता चलता है कि देश में न सिर्फ अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा के प्रारंभ होने में ही बहुत अधिक समय लग गया वरन् देर से प्रारंभ होने के बाद भी इसकी गति बहुत मंद रही और देश के बहुत कम क्षेत्रों में इसका विकास हो सका। जहां विकास हुआ भी वहां केवल नाममात्र के लिए ही हुआ तथा अभी भी इसकी स्थिति संतोषजनक नहीं कही जा सकती है। सन् 1950 के बाद इसके कारणों पर ठोस रीति से विचार किया गया तथा अनिवार्य शिक्षा को विधिवत् रूप से कार्यान्वित करने के उपाय किए गए।

अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा : विकास के अवरोधक कारण

(1) **भौतिक कारण** : अधिकांश भारतीय जनता ग्रामों में रहती है। देश की ग्रामीण परिस्थितियां ही अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के विकास में कठिनाई उपस्थित कर रही हैं। गांवों में आवागमन के साधनों तथा स्वस्थ मनोरंजन आदि की सुविधाओं का अभाव रहता है। इसके साथ ही हमारे देश में पहाड़ी तथा जंगली क्षेत्र भी अधिक है। यहां का जीवन कठिन, गांव छोटे-छोटे तथा दूर-दूर बसे हैं। यहां के लोगों को अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यहां वहां भटकना पड़ता है। आवहवा, पानी आदि के अनुकूल न होने से बीमारियां भी बहुत होती हैं। अतः ऐसे स्थानों में विद्यालय खोलना बहुत कठिन होता है। शिक्षक भी ऐसे स्थानों में रहना पसंद नहीं करते हैं। गांवों में बीमारी अधिक होती है। देश में अनेक स्थल तो बुरी आवहवा के लिए सरकार द्वारा मान्य किए गए हैं। ऐसे क्षेत्रों में शिक्षा का प्रसार तो बहुत ही कठिन कार्य होता है।

प्राथमिक शिक्षा विकास में बाधक उपरोक्त कारण देश के प्रत्येक प्रांत में थोड़े बहुत अंश में पाए जाते हैं। यह दूसरी बात है कि देश के पहाड़ी तथा जंगली प्रदेशों में जैसे असम, उड़ीसा मध्य प्रदेश आदि में ये कठिनाइयां

अधिक हैं। गंगा, यमुना के मैदान, विहार आदि में ये कम हैं।

(2) **सांस्कृतिक कारण :** सारा देश अनेक वोलियों और सांस्कृतिक इकाइयों में वंटा हुआ है। अनेक स्थानों का न तो कोई लिखित साहित्य है और न लिपि। अत: ऐसी परिस्थितियों में इन स्थानों के लोगों को किस भाषा में शिक्षित किया जाए, यह एक वड़ी समस्या है। इन क्षेत्रों की वोलियों की लिपि तथा साहित्य का विकास करके शिक्षा देना कोई साधारण काम नहीं है।

यह तो अविकसित वोलियों तथा भाषाओं के संवंध की कठिनाई हुई। विकसित भाषाओं का वाहुल्य तथा एक ही क्षेत्र में दो या अधिक वोलियों के उपयोग के कारण भी अनेक वाधाएं उपस्थित होती हैं। इन द्विभाषी या वहुभाषी क्षेत्रों में अल्पसंख्यकों की भाषा के माध्यम से शिक्षा देना आर्थिक दृष्टि से वड़ा महंगा पड़ता है।

भाषाओं तथा वोलियों की अधिकता के साथ-साथ भारतीय जनता का अज्ञान भी एक समस्या है। शिक्षित अभिभावक अशिक्षित अभिभावकों की अपेक्षा अपने वच्चों की शिक्षा-दीक्षा के लिए अधिक तत्पर तथा उत्सुक होता है। आज भी अधिकांश भारतीय जनता अशिक्षित तथा अनपढ़ है। अत: भारतीय जनता की अज्ञानता भी प्राथमिक शिक्षा के विकास में एक प्रमुख वाधा है।

(3) **सामाजिक कारण :** हमारे समाज में अनेक समस्याएं हैं जो शिक्षा के विकास में वाधा उपस्थित कर रही हैं। जैसे महिलाओं की हीन दशा, वाल विवाह, भारतीय समाज का वर्गभेद, हरिजनों की निम्न परिस्थिति तथा आदिम और जंगली जातियों का अत्यंत पिछड़ा तथा अविकसित होना। वर्तमान समय में ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकांश वच्चों की कम उम्र में शादी हो जाती है तथा उनका पढ़ना लिखना समाप्त हो जाता है। जाति प्रथा प्राथमिक शिक्षा के विकास में वाधक सिद्ध हो रही है। आज भी ऐसे लोग हैं जो वर्गभेद में अटूट विश्वास रखते हैं और अपने वच्चों का निम्न जाति के साथ पढ़ना-लिखना पसंद नहीं करते हैं। अत: ये कारण भी प्राथमिक शिक्षा के विकास को अवरुद्ध कर रहे हैं।

(4) **आर्थिक कारण :** प्राथमिक शिक्षा के विकास में धन का अभाव भी एक वहुत वड़ी तथा अनुल्लंघनीय वाधा रही है। धन की कमी दोतरफा है। एक तो राज्य के पास धन की कमी तथा दूसरे अभिभावकों का गरीव होना। यदि राज्य धन दे भी सकता तो शायद अभिभावक गरीवी के कारण अपने वच्चों को विद्यालय नहीं भेज पाता। अंगरेजी शासन काल में तो भारतीयों की गरीवी और भी अधिक वढ़ गई थी। इस वृद्धि के कारणों में जनसंख्या की

वृद्धि, देशी उद्योगों का ह्रास, अंगरेजों द्वारा भारतीयों का शोषण, कृषि की दशा का ठीक न होना प्रमुख हैं।

आर्थिक कठिनाइयां अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के विकास में अनेक प्रकार से बाधक सिद्ध होती हैं। सन् 1950 में हमारे संविधान में 10 वर्षों के भीतर 14 वर्ष की आयु तक के सभी बालकों के लिए अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करने का निश्चय किया गया था। परंतु प्रथम तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में प्राथमिक शिक्षा के कम विकास के आधार पर हम कह सकते हैं कि धन के अभाव के कारण ही सभी को 6 से 10 वर्ष तक शिक्षा देने की व्यवस्था न की जा सकी तथा तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल के अंत तक भी यह संभव न हो सका।

अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा भारतवर्ष प्राथमिक शिक्षा पर बहुत कम खर्च करता है। पाश्चात्य देश प्राथमिक शिक्षा पर संपूर्ण शिक्षा के कुल बजट का 50 प्रतिशत खर्च करते हैं जब कि भारत सिर्फ 35 प्रतिशत। अतः यह स्वाभाविक है कि प्राथमिक शिक्षा का पूर्णतः विकास होना कठिन सिद्ध होगा।

(5) **राजनीतिक कारण** : स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से यद्यपि हमारी भारतीय राजनीतिक परिस्थिति बदल गई है। परंतु इसके पूर्व अंगरेज सरकार इंग्लैंड की सरकार के प्रति उत्तरदायी थी। अतः ऐसी विदेशी सरकार से तो देश की भलाई तथा हित के लिए अनिवार्य शिक्षा को महत्त्व देने की बात करना केवल दुराशा मात्र था। पर आज स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी देश के राजनीतिक दल अनिवार्य शिक्षा को प्राथमिकता नहीं दे रहे हैं। यही कारण है कि अनिवार्य शिक्षा की ओर सरकार का ध्यान कम होता जाता है। इसके अतिरिक्त स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत के समक्ष अनेक राजनीतिक समस्याएं उपस्थित हुईं, जैसे चीन के साथ सीमा की समस्या, पाकिस्तान के साथ हमारे संबंध, काश्मीर की समस्या, शरणार्थियों की समस्या, देशी राज्यों की समस्या, बहुभाषा भाषी राज्यों की समस्या, हिन्दू मुसलमान दंगे, साम्प्रदायिकता आदि। इन्हीं समस्याओं को सुलझाने में सरकार इतनी व्यस्त रही है कि प्राथमिक शिक्षा के विकास पर आवश्यक ध्यान नहीं दे पाई है।

(6) **प्रशासनात्मक कारण** : अनिवार्य शिक्षा के लिए यह आवश्यक है कि विद्यालय जाने योग्य बालकों की गणना की जाए, शिक्षा के लिए विद्यालयों की व्यवस्था की जाए तथा अनिवार्य शिक्षा अवधि तक विद्यालय में रहने की व्यवस्था की जाए। इन सब कार्यों से अनेक प्रकार की प्रशासकीय समस्याएं संबंधित हैं, जैसे शिक्षा का स्थान, शिक्षा संगठन तथा प्राइमरी शिक्षा का स्थान, शिक्षा व्यवस्था की समस्याएं, अनिवार्य शिक्षा लागू करने की विधियां आदि।

वर्तमान समय में प्राथमिक शिक्षा का कार्यभार नगरपालिकाओं तथा जिला परिषदों के ऊपर है। पर नगरपालिकाओं तथा जिला परिषदों के अधिकारियों के पास धन एवं रुचि की कमी है। प्राथमिक विद्यालयों की संख्या तो बढ़ गई है पर उतनी संख्या में शिक्षा निरीक्षकों की संख्या में वृद्धि नहीं हुई है। इसलिए विद्यालयों का उचित रूप से निरीक्षण नहीं होता है। संपूर्ण शासन के संगठन में शिक्षा के स्थान तथा शिक्षा में प्राथमिक शिक्षा के स्थान का प्रश्न भी शासन से संबंधित है। प्रथम तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं के प्रावधानों पर जब हम विचार करते हैं तो पता चलता है कि कृषि उद्योग के बाद ही शिक्षा का स्थान आता है। तृतीय पंचवर्षीय योजना में अवश्य इसे बढ़ाया गया।

शिक्षा के अंतर्गत माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा के बाद ही प्राथमिक शिक्षा का स्थान है। अभी हमारे यहां अनेक राज्यों में प्राथमिक शिक्षा स्वायत्त संबंधी संस्थाओं के अधिकार में है। इन संस्थाओं के आय के साधन सीमित हैं तथा अधिकांशतः ये शिक्षा के लिए सरकारी आर्थिक सहायता पर ही अवलंबित रहती हैं। ऐसी परिस्थिति में इनसे अनिवार्य शिक्षा पर समुचित ध्यान देने की आशा करना व्यर्थ है। यदि हम वास्तव में इन स्वायत्त संस्थाओं से अनिवार्य शिक्षा संबंधी ठोस कार्य करवाना चाहते हैं तब यह आवश्यक है कि इनकी आय के साधनों में समुचित वृद्धि की जाए। आय के अभाव में अनिवार्य शिक्षा का भार उठाने में स्वायत्त संस्थाएं असमर्थ ही रहेंगी।

(7) प्रशिक्षित शिक्षकों की समस्या : देश में प्राथमिक शिक्षा का विकास समुचित रूप से न होने के कारण योग्य, कुशल एवं प्रशिक्षित शिक्षकों का अभाव है। वर्तमान समय में अधिकांश विद्यालयों में प्रशिक्षित शिक्षक नहीं हैं। ग्रामों में तो समस्या और भी जटिल है। वहां तो योग्य प्रशिक्षित शिक्षकों का नितांत अभाव है क्योंकि योग्य प्रशिक्षित शिक्षक वहां जाना ही नहीं चाहते। इसका कारण वहां वेतन का कम मिलना तथा गांवों के वातावरण में अपने आपको व्यवस्थित करने में असमर्थ होना है।

(8) विद्यालय भवन की समस्या : भारतवर्ष में ग्रामों का आधिक्य है। अनेक गांवों में स्कूल नहीं हैं, क्योंकि 500 से कम जनसंख्या वाले ग्रामों में स्कूलों की स्थापना नहीं हो सकती। भारत में अनेक गांव ऐसे हैं जहां 500 से कम जन-संख्या है। ऐसे गांवों के विद्यार्थी शिक्षा के लिए दूसरे गांवों को जाते हैं। परंतु अनेक प्राकृतिक बाधाओं के कारण बालक एक गांव से दूसरे गांव में शिक्षा प्राप्त करने के लिए नहीं जा पाते और अशिक्षित ही रह जाते हैं। अधिकांश विद्या-लय किराये के मकानों में, मंदिरों, मस्जिदों, धर्मशालाओं, धनी लोगों के घरों आदि में लगते हैं। इन विद्यालयों में उपयुक्त जगह तथा बैठने के लिए उपयुक्त

फर्नीचर की भी व्यवस्था नहीं होती है। कहीं-कहीं तो ऐसे अनेक स्थानों में विद्यालय स्थापित हैं जहां बहुत ही कोलाहल रहता है। ऐसे स्थानों में समुचित शिक्षा नहीं हो पाती है।

(9) पाठ्यक्रम की समस्या : प्राथमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम न तो रोचक है न ही आकर्षक। पाठ्यक्रम पूर्णत: पुस्तकीय है। इससे न तो विद्यार्थी और न ही अभिभावक स्कूलों के प्रति रुचि लेते हैं। पाठ्यक्रम स्थानीय परिस्थितियों को भी ध्यान में रखकर नहीं बनाया गया है। पाठ्यक्रम में रचनात्मक कार्यों का किंचित् मात्र भी ध्यान नहीं रखा गया है, जिससे बच्चे उसकी ओर आकर्षित हों।

(10) अरोचक एवं अनुपयुक्त शिक्षण विधियां : प्राथमिक विद्यालयों में रोचक एवं उपयुक्त शिक्षण विधियों का तो अभाव ही है। उन्हें माध्यमिक विद्यालय के विद्यार्थियों की भांति ही शिक्षा दी जाती है जो उनके लिए उपयुक्त नहीं होती। सहायक शिक्षण सामग्री का अभाव भी प्राथमिक विद्यालयों में रहता है। फलस्वरूप शिक्षण नीरस तथा अरुचिपूर्ण होता है।

बालिकाओं की समस्या : अधिकांश स्थानों में बालिकाओं के लिए पृथक् विद्यालयों की व्यवस्था नहीं है। बहुत से अभिभावक बालकों के साथ बालिकाओं को पढ़ाना पसन्द नहीं करते हैं। इसलिए बालिकाओं का अशिक्षित रह जाना स्वयंसिद्ध है। पृथक् विद्यालयों की समस्या के अतिरिक्त अध्यापिकाओं का भी अभाव है।

(11) अपव्यय तथा अवरोधन की समस्या : प्राथमिक शिक्षा का विकास समुचित रूप से न होने की सबसे भयंकर एवं जटिल समस्या अपव्यय तथा अवरोधन की है। अगर प्राथमिक विद्यालयों में 100 बालकों को प्रारंभ में प्रवेश मिलता है तो 40-45 बालक ही अपनी प्राथमिक शिक्षा पूर्ण कर पाते हैं। अधिकांश बालक बीच में ही शिक्षा को अधूरी छोड़कर चले जाते हैं। इससे अपव्यय होता है। इसी प्रकार प्राथमिक विद्यालयों में प्रत्येक कक्षा में फेल होने वाले बालक-बालिकाओं की संख्या भी काफी रहती है। फलस्वरूप अवरोधन का मान अधिक रहता है। इस प्रकार प्राथमिक स्तर पर अपव्यय तथा अवरोधन दोनों ही अधिक होते हैं तथा प्राथमिक शिक्षा का विकास ठीक तरह से नहीं हो पाता है।

भारत में स्थिरता की मात्रा का ज्ञान निम्न आंकड़ों से हो जाता है—

स्थिरता संबंधी आंकड़े कक्षा 1 से 8वीं तक—1965[1]

राज्य	कक्षाएं							
	1	2	3	4	5	6	7	8
1. आन्ध्र प्रदेश								
वालक	63·4	38·4	27·9	21·0	19·6	13·3	13·7	19·8
वालिकाएं	71·6	42·9	30·1	23·2	22·4	11·3	12·2	14·8
2. मध्य प्रदेश								
वालक	30·1	12·9	10·3	9·1	8·3	10·5	6.7	5.2
वालिकाएं	34·7	13·8	11·3	10·3	8·3	3·4	4·0	4·3
3. महाराष्ट्र								
वालक	39·3	25·5	22·7	25·7	21·1	15·8	12·5	11·3
वालिकाएं	52·5	35·8	33·3	38·5	23·5	17·2	12·6	7·6
4. राजस्थान								
वालक	29·5	24·0	34·6	36·8	32·7	14·1	22·8	19 0
वालिकाएं	23·7	23·7	44·2	57·0	45·3	34·8	46·4	62·9
5. पंजाव								
वालक	24·6	13·3	10·2	6·6	7·1	13·4	12·4	9.2
वालिकाएं	22·8	12·6	9·2	5·1	4·8	8·3	8·7	7·1
6. उत्तर प्रदेश								
वालक	27·1	14·2	9·1	6 4	4·3	4·9	6·1	12·5
वालिकाएं	18·5	14·3	11·5	9·4	9 1	12·7	10·7	25·5
7. मैसूर								
वालक	53·2	36·6	27·2	26·4	15·00	12·7	12·6	—
वालिकाएं	66·1	39·9	27·1	19·0	12·4	13·1	15 6	—
8. केरल								
वालक	27·2	26·9	26·0	29·0	27·2	26·0	24·8	—
वालिकाएं	26·3	26·0	24·6	27·1	26·6	23 1	25·7	—
9. उड़ीसा								
बालक	43·1	33·3	33·7	30·0	15·4	29·3	21·5	12·3
बालिकाएं	40·1	38·8	27·5	21·2	15·8	43·3	34·4	16·2
योग								
वालक	40·3	26·6	22·6	21·7	16·4	14·1	13·7	13·2
वालिकाएं	47·1	33·1	26·6	25·6	19·8	17·3	17·9	16.4

1. Report of Education Commission 1964–66, p. 156.

उपरोक्त आंकड़ों से यह स्पष्ट होता है कि भारत में कक्षा एक में स्थिरता सर्वाधिक है। कक्षा दो में यह समुचित रूप से कम हो जाती है। उच्च प्राथमिक स्तर पर यह और कम हो जाती है। वालिकाओं में वालकों की अपेक्षा स्थिरता का मान अधिक है। भारत में स्थिरता का मान विभिन्न स्थानों में विभिन्न है।

भारत में अपव्यय संबंधी आंकड़ों को निम्न तालिका स्पष्ट करती है—

प्राथमिक स्तर पर अपव्यय (1949–50 से 1961–62)[1]
कक्षा पहली से चौथी तक

वर्ष	वालक				वालिका			
	1ली	2री	3री	4थी	1ली	2री	3री	4थी
1949-50	100	—	—	—	100	—	—	—
1950-51	100	65·1	—	—	100	57·4	—	—
1951-52	100	66·0	54·2	—	100	59·6	44·5	—
1952-53	100	64·9	53·3	45·3	100	57·8	43·9	34·0
1953-54	100	65·8	54·8	46·8	100	58·7	45·6	35·2
1954-55	100	63·0	53·8	47·2	100	57·8	45·6	36·3
1955-56	100	61·8	52·7	46·7	100	58·2	45·4	36·7
1956-57	100	60·8	50·9	45·9	100	55·3	44·6	36·5
1957-58	100	61·4	50·0	42·9	100	50·0	43·0	35·2
1958-59	100	62·1	51·8	43·1	100	58·2	43·9	34·9
1959-60	—	61·1	51·2	44·3	100	56·4	45·8	35·5
1960-61	—	—	51·2	44·4	100	—	45·1	37·6
1961-62	—	—	—	44·4	100	—	—	37·5

अपव्यय संबंधी उपरोक्त आंकड़ों से यह स्पष्ट होता है कि भारत में निम्न प्राथमिक स्तर पर अपव्यय सन् 1949–50 की तुलना में सन् 1961–62 में थोड़ा कम हुआ है। परन्तु कक्षा पहली में स्थिरता शत प्रतिशत है। इसी अवधि में उच्च प्राथमिक स्तर पर स्थिरता का मान प्रत्येक कक्षा में वालक एवं वालिकाओं दोनों के लिए वर्द्धित है।

भाषा की समस्या : भाषा की समस्या भी प्राथमिक शिक्षा के विकास में

1. Report of Education Commission (1964–66) Ministry of Education, New Delhi, p. 158

बाधक है। एक ही राज्य में अनेक भाषाएं एवं बोलियां बोलनेवाले लोग रहते हैं। इनके बच्चों के लिए पृथक्-पृथक् विद्यालयों की स्थापना बहुत कठिन है।

इसके अतिरिक्त उपयुक्त पाठ्यपुस्तकों का अभाव तथा शिक्षा से संबंधित आंकड़ों को एकत्र करने वाली एवं सहायक सेवाओं का अभाव, जैसे—मध्याह्न भोजन व्यवस्था, चिकित्सा संबंधी सुविधाएं, निःशुल्क पुस्तकों की व्यवस्था, चिकित्सा की व्यवस्था आदि।

इन समस्याओं को दूर करने के उपाय

(1) भौतिक समस्याओं को हल करने के लिए आवागमन के साधनों का विकास करना आवश्यक है। गांवों के जीवन को स्वस्थ, रुचिकर एवं मनोरंजक बनाने के लिए वहां चिकित्सालय, डाक्टर, डाकघर, प्रौढ़ शिक्षा केंद्र आदि खोले जाने चाहिए। जब तक ऐसी व्यवस्था नहीं होगी, तब तक शिक्षक गांवों में जाकर शिक्षा देना पसन्द नहीं करेंगे। यदि विद्यालय खुल भी गए तो बालक बीमारी आदि के कारण विद्यालयों में कम दिन आएंगे। इसके कारण अनिवार्य शिक्षा व्यवस्था आरंभ करने में कठिनाई होगी। पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत अनेक विकास कार्य चल रहे हैं। अतः आशा है कि ये समस्याएं इन विकास कार्यक्रमों के माध्यम से हल की जा सकेंगी।

(2) सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिए सामाजिक ढांचे में परिवर्तन करना आवश्यक है। पं० जवाहरलाल नेहरू तथा अन्य नेताओं के प्रयत्नों के फलस्वरूप ही हिंदू कोडबिल बड़ी कठिनाई से पास हुआ। इस बिल में महिलाओं की स्थिति तथा अधिकार के संबंध में बड़े अनुकूल परिवर्तन किए गए। इस से महिलाओं की दशा बहुत कुछ सुधरने की आशा है। बाल विवाह के लिए 'शारदा ऐक्ट' लागू कर दिया गया। पर उसका और अधिक कड़ाई से पालन किया जाना आवश्यक है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय समाज में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है तथा भारतीय दृष्टिकोण स्वस्थ रूप से विकसित हो रहा है। हरिजन उद्धार, आदिम तथा जंगली जातियों के कल्याण के प्रयत्न भी अधिक किए जा रहे हैं। इन सब सुधारों से भारतीय समाज का पुनरुत्थान हो रहा है। परंतु प्रयत्न निश्चित दिशा में और अधिक सघन रूप से किए जाने चाहिए।

(3) प्राथमिक शिक्षा के विकास को समुचित रूप से करने के लिए वांछित धन की व्यवस्था करना आवश्यक है। निम्न उपायों से धन की व्यवस्था बहुत कुछ अंशों में की जा सकेगी :

(i) केंद्र अनिवार्य शिक्षा संबंधी अपनी जिम्मेदारी को समझे तथा

अपरिहार्य रूप से राज्यों में अनिवार्य शिक्षा पर होने वाले व्यय का 30 प्रतिशत खर्च वहन करे ।

(ii) प्रत्येक राज्य को अपने कुल राजस्व का 20 प्रतिशत शिक्षा पर व्यय करना चाहिए तथा शिक्षा के लिए निश्चित की गई रकम का 75 प्रतिशत प्राथमिक शिक्षा पर व्यय करना चाहिए । इससे प्राथमिक शिक्षा के विकास के लिए काफी धन मिलने लगेगा ।

(iii) स्वायत्त संस्थाओं के संबंध में भी यह निश्चित किया जाए कि उन्हें अपनी आय का कम से कम कितना भाग प्राथमिक शिक्षा पर अनिवार्य रूप से व्यय करना होगा । पर इसके लिए आवश्यक है कि उनकी आय के साधनों में वृद्धि की जाए । इसके विना यह कार्य पूर्ण नहीं होगा ।

(iv) शुल्क आयु के अनुसार माफ न करके कक्षा के अनुसार माफ किया जाना चाहिए, जैसे अनिवार्य शिक्षा पहली तथा दूसरी तक ही सीमित है तो 6 वर्ष की आयु के बालकों का शुल्क माफ न करके पहली तथा दूसरी में पढ़ने वाले वालकों का शुल्क ही माफ किया जाए ।

(4) पारूलेकर महोदय ने इसके अतिरिक्त कुछ सुझाव दिए हैं । वे निम्न प्रकार हैं :

(अ) अनिवार्य शिक्षा की अवधि 5 वर्ष की न रखकर केवल 4 वर्ष की रखी जाए तथा जैसे-जैसे देश की आर्थिक स्थिति सुधरती जाए अनिवार्य शिक्षा की अवधि बढ़ाई जाए ।

(ब) अनिवार्य शिक्षा 6 वर्ष से प्रारंभ न करके 7 वर्ष की आयु से आरंभ की जाए क्योंकि इस आयु में भारतीय वालक वीमारियों आदि से मुक्त एवं स्वस्थ रहते हैं । भारतीय वर्णमाला तथा प्राचीन शिक्षण पद्धतियां वह 6 वर्ष की आयु में ठीक से पढ़ ही नहीं सकेगा । अतः हमारे देश में भी इसे मान्य किया जा सकता है ।

(स) एक शिक्षक के पास 50 या 60 वालक रखे जाने चाहिए ।

(5) श्री जे० पी० नायक के सुझावों के अनुसार पढ़ाई के घंटों में कमी करके तीन घंटों को ही इसके लिए रखा जाए । यह स्थानीय आवश्यकतानुसार दिन में कभी भी रखे जा सकते हैं । इससे गरीब अभिभावक अपने वच्चों को विद्यालय भेज सकेंगे तथा उनकी हानि भी नहीं होगी । प्राथमिक शिक्षा स्तर के लिए तीन घंटे का शिक्षण उचित है । इससे एक शिक्षक वाले विद्यालयों की की समस्या भी हल हो सकेगी । अभी तक एक शिक्षक वाले विद्यालयों में एक शिक्षक 5 कक्षाएं पढ़ाता है । वह मुश्किल से 1 घंटा प्रत्येक कक्षा में दे पाता है । यदि विद्यालय दो बार लगाए जाएं तथा तीन घंटे ही पढ़ाई हो तो प्रत्येक

कक्षा में अधिक समय दिया जा सकेगा। इससे बालकों का समय भी व्यर्थ में नष्ट न होगा। इससे विद्यालयों में अपव्यय भी कम होगा क्योंकि अनेक गरीब अभिभावक बच्चों को इसलिए विद्यालय से निकाल लेते हैं कि वे पूरे समय के लिए अधिक वर्षों तक बालकों को शिक्षा के लिए घर के काम से छुट्टी नहीं दे सकते हैं। इस प्रकार इस विधि से भी धन का व्यय कम होता है।

(6) श्री राजगोपालाचार्य ने सुझाव दिया है कि विद्यालय सप्ताह में तीन दिन परंतु पूरे समय लगे। बाकी के दो दिन बालक अपने-अपने घरों में माता-पिता के काम में हाथ बटाएं। इससे दो बार में दुगुने बालक शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे।

(7) अनेक विद्वानों द्वारा दोहरी कक्षा लगाने का सुझाव दिया गया है। इससे इमारत, फर्नीचर, शिक्षण सामग्री आदि का खर्च बच सकता है। शहरों में तो इस तरह के स्कूल चल ही रहे हैं।

प्रशासन तथा संगठन संबंधी समस्याओं को दूर करने के उपाय

(1) सबसे पहले तो शैक्षणिक सर्वेक्षण किया जाना चाहिए जिससे यह पता लग सके कि किन-किन स्थानों पर विद्यालय नहीं हैं तथा किस प्रकार के विद्यालय खोले जाने चाहिए। अभी दो-तीन साल पहले शैक्षणिक सर्वेक्षण किया गया था और उसी के आधार पर अनिवार्य शिक्षा की योजना भी तैयार की गई थी। पर इस तरह के सर्वेक्षण समय-समय पर होते रहने चाहिए जिससे कि सभी समस्याएं ज्ञात होती रहें तथा उनको दूर करने का प्रयास किया जा सके। सर्वेक्षण संबंधी शोध कार्य भी किया जाना उपयोगी होगा।

(2) अनिवार्य शिक्षा को क्रमशः लागू किया जाए, जैसे 6 से 7 वर्ष की आयु तक सभी स्थानों में तथा बाद में धीरे-धीरे अवधि बढ़ाई जाए।

(3) श्री जे० पी० नायक के निम्नलिखित चार सुझाव अनिवार्य शिक्षा को प्रारंभ करने के संबंध में हैं :

(क) ऐसे क्षेत्रों का सर्वेक्षण किया जाए जहां कोई विद्यालय नहीं है तथा वहां विद्यालय खोलने की योजना बनाई जाए। इस प्रकार प्रतिवर्ष कुल विद्यालयों के 20 प्रतिशत विद्यालय अवश्य खोले जाएं।

(ख) जिन क्षेत्रों के विद्यालयों में जनसंख्या के 8 से 10 प्रतिशत तक बालक उपस्थित नहीं हैं, वहां जनता द्वारा शिक्षा में रुचि लेने के लिए प्रचार कार्य किया जाना चाहिए। 10 वर्ष में इन क्षेत्रों में जनसंख्या का कम से कम 10 प्रतिशत भाग विद्यालयों में पढ़ने के लिए जाने लगना चाहिए।

(ग) जिन क्षेत्रों में 8 से 10 प्रतिशत भाग उपस्थित होता है वहां 4 या

अपरिहार्य रूप से राज्यों में अनिवार्य शिक्षा पर होने वाले व्यय का 30 प्रतिशत खर्च वहन करे।

(ii) प्रत्येक राज्य को अपने कुल राजस्व का 20 प्रतिशत शिक्षा पर व्यय करना चाहिए तथा शिक्षा के लिए निश्चित की गई रकम का 75 प्रतिशत प्राथमिक शिक्षा पर व्यय करना चाहिए। इससे प्राथमिक शिक्षा के विकास के लिए काफी धन मिलने लगेगा।

(iii) स्वायत्त संस्थाओं के संबंध में भी यह निश्चित किया जाए कि उन्हें अपनी आय का कम से कम कितना भाग प्राथमिक शिक्षा पर अनिवार्य रूप से व्यय करना होगा। पर इसके लिए आवश्यक है कि उनकी आय के साधनों में वृद्धि की जाए। इसके विना यह कार्य पूर्ण नहीं होगा।

(iv) शुल्क आयु के अनुसार माफ न करके कक्षा के अनुसार माफ किया जाना चाहिए, जैसे अनिवार्य शिक्षा पहली तथा दूसरी तक ही सीमित है तो 6 वर्ष की आयु के वालकों का शुल्क माफ न करके पहली तथा दूसरी में पढ़ने वाले वालकों का शुल्क ही माफ किया जाए।

(4) पारूलेकर महोदय ने इसके अतिरिक्त कुछ सुझाव दिए हैं। वे निम्न प्रकार हैं :

(अ) अनिवार्य शिक्षा की अवधि 5 वर्ष की न रखकर केवल 4 वर्ष की रखी जाए तथा जैसे-जैसे देश की आर्थिक स्थिति सुधरती जाए अनिवार्य शिक्षा की अवधि बढ़ाई जाए।

(ब) अनिवार्य शिक्षा 6 वर्ष से प्रारंभ न करके 7 वर्ष की आयु से आरंभ की जाए क्योंकि इस आयु में भारतीय वालक वीमारियों आदि से मुक्त एवं स्वस्थ रहते हैं। भारतीय वर्णमाला तथा प्राचीन शिक्षण पद्धतियां वह 6 वर्ष की आयु में ठीक से पढ़ ही नहीं सकेगा। अतः हमारे देश में भी इसे मान्य किया जा सकता है।

(स) एक शिक्षक के पास 50 या 60 बालक रखे जाने चाहिए।

(5) श्री जे० पी० नायक के सुझावों के अनुसार पढ़ाई के घंटों में कमी करके तीन घंटों को ही इसके लिए रखा जाए। यह स्थानीय आवश्यकतानुसार दिन में कभी भी रखे जा सकते हैं। इससे गरीब अभिभावक अपने बच्चों को विद्यालय भेज सकेंगे तथा उनकी हानि भी नहीं होगी। प्राथमिक शिक्षा स्तर के लिए तीन घंटे का शिक्षण उचित है। इससे एक शिक्षक वाले विद्यालयों की की समस्या भी हल हो सकेगी। अभी तक एक शिक्षक वाले विद्यालयों में एक शिक्षक 5 कक्षाएं पढ़ाता है। वह मुश्किल से 1 घंटा प्रत्येक कक्षा में दे पाता है। यदि विद्यालय दो वार लगाए जाएं तथा तीन घंटे ही पढ़ाई हो तो प्रत्येक

कक्षा में अधिक समय दिया जा सकेगा। इससे बालकों का समय भी व्यर्थ में नष्ट न होगा । इससे विद्यालयों में अपव्यय भी कम होगा क्योंकि अनेक गरीब अभिभावक बच्चों को इसलिए विद्यालय से निकाल लेते हैं कि वे पूरे समय के लिए अधिक वर्षों तक बालकों को शिक्षा के लिए घर के काम से छुट्टी नहीं दे सकते हैं। इस प्रकार इस विधि से भी धन का व्यय कम होता है।

(6) श्री राजगोपालाचार्य ने सुझाव दिया है कि विद्यालय सप्ताह में तीन दिन परंतु पूरे समय लगे। बाकी के दो दिन बालक अपने-अपने घरों में माता-पिता के काम में हाथ बटाएं। इससे दो बार में दुगुने बालक शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे।

(7) अनेक विद्वानों द्वारा दोहरी कक्षा लगाने का सुझाव दिया गया है। इससे इमारत, फर्नीचर, शिक्षण सामग्री आदि का खर्च बच सकता है। शहरों में तो इस तरह के स्कूल चल ही रहे हैं।

प्रशासन तथा संगठन संबंधी समस्याओं को दूर करने के उपाय

(1) सबसे पहले तो शैक्षणिक सर्वेक्षण किया जाना चाहिए जिससे यह पता लग सके कि किन-किन स्थानों पर विद्यालय नहीं हैं तथा किस प्रकार के विद्यालय खोले जाने चाहिए। अभी दो-तीन साल पहले शैक्षणिक सर्वेक्षण किया गया था और उसी के आधार पर अनिवार्य शिक्षा की योजना भी तैयार की गई थी। पर इस तरह के सर्वेक्षण समय-समय पर होते रहने चाहिए जिससे कि सभी समस्याएं ज्ञात होती रहें तथा उनको दूर करने का प्रयास किया जा सके। सर्वेक्षण संबंधी शोध कार्य भी किया जाना उपयोगी होगा।

(2) अनिवार्य शिक्षा को क्रमशः लागू किया जाए, जैसे 6 से 7 वर्ष की आयु तक सभी स्थानों में तथा बाद में धीरे-धीरे अवधि बढ़ाई जाए।

(3) श्री जे० पी० नायक के निम्नलिखित चार सुझाव अनिवार्य शिक्षा को प्रारंभ करने के संबंध में हैं :

(क) ऐसे क्षेत्रों का सर्वेक्षण किया जाए जहां कोई विद्यालय नहीं है तथा वहां विद्यालय खोलने की योजना बनाई जाए। इस प्रकार प्रतिवर्ष कुल विद्यालयों के 20 प्रतिशत विद्यालय अवश्य खोले जाएं।

(ख) जिन क्षेत्रों के विद्यालयों में जनसंख्या के 8 से 10 प्रतिशत तक बालक उपस्थित नहीं हैं, वहां जनता द्वारा शिक्षा में रुचि लेने के लिए प्रचार कार्य किया जाना चाहिए। 10 वर्ष में इन क्षेत्रों में जनसंख्या का कम से कम 10 प्रतिशत भाग विद्यालयों में पढ़ने के लिए जाने लगना चाहिए।

(ग) जिन क्षेत्रों में 8 से 10 प्रतिशत भाग उपस्थित होता है वहां 4 या

5 वर्ष की अनिवार्य शिक्षा प्रारंभ करना चाहिए।

(घ) जहां 4 या 5 वर्ष की अनिवार्य शिक्षा चल रही है वहां 7 या 8 वर्ष की अनिवार्य शिक्षा अवधि करना चाहिए।

इस योजना से पिछड़े क्षेत्रों में विद्यालय खुल जाएंगे तथा अनिवार्य शिक्षा का कार्य भी आगे बढ़ता जाएगा। इसके लिए एकदम अधिक धन की आवश्यकता भी नहीं होगी।

(4) शिक्षकों की कमी के कारण अधिक योग्य तथा प्रशिक्षित शिक्षकों की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। जैसे भी हो, जिस प्रकार के शिक्षक प्राप्त हों, कार्य प्रारंभ कर दिया जाना चाहिए। धीरे-धीरे उन्हें प्रशिक्षित करने के लिए प्रशिक्षण विद्यालयों की स्थापना करनी चाहिए।

भवन संबंधी समस्याओं को हल करने के उपाय

विद्यालयों में भवन की व्यवस्था के लिए निम्नलिखित सुझाव उपयोगी सिद्ध होंगे :

(1) प्रारंभ में ग्राम पंचायत भवन, मंदिर, मस्जिद आदि में ही कार्य चालू कर दिया जाए।

(2) सस्ती तथा उपयोगी प्रकार की इमारतें बनवाई जाएं।

(3) विद्यालय भवन निर्माण के लिए जनता से कर्ज लिया जाए।

(4) दुहरी पाली में विद्यालय चलाए जाएं।

(5) स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार विद्यालय खुलने या बंद होने का समय निश्चित किया जाए।

इसके अतिरिक्त गांवों से विद्यालय भवन की समस्या जटिल है। सबसे पहले ऐसे स्थानों में विद्यालय भवन निर्मित किए जाएं, जहां बहुत आवश्यकता है तथा जहां आसपास के गांवों के बच्चे आसानी से शिक्षा प्राप्त करने आ सकें। यह समस्या तो धीरे-धीरे सुलझाई जा सकती है। धन की व्यवस्था के अनुसार विद्यालयों की स्थापना करवानी चाहिए।

अन्य उपाय

प्राथमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम को सरस तथा रोचक बनाना चाहिए। पाठ्यक्रम स्थानीय परिस्थितियों को ध्यान में रखकर बनाया जाना चाहिए। इसमें रचनात्मक कार्यों को प्राथमिकता मिलनी चाहिए। भारतीय शिक्षा आयोग (1964–66) ने प्राथमिक शिक्षा पाठ्यक्रम को व्यावहारिक तथा उपयोगी बनाने के लिए सुझाव दिया है।

(1) आयोग का विचार है कि (i) प्राथमिक स्तर पर शिक्षा की सार्वजनिक व्यवस्था, (ii) सार्वजनिक दर्ज संख्या तथा (iii) सार्वजनिक रूप से बच्चों को विद्यालय में भरती करना आवश्यक है। इन तीनों गतिविधियों की व्यवस्था करना उपयोगी होगा। सार्वजनिक व्यवस्था के लिए प्रत्येक मील पर निम्न प्राथमिक विद्यालय तथा प्रत्येक 3 मील पर एक उच्च प्राथमिक विद्यालय स्थापित किए जाने का सुझाव है। सार्वजनिक दर्ज संख्या से आयोग का तात्पर्य है प्रत्येक बच्चे को जो विद्यालय जा सके उसे दर्ज किया जाए। इस हेतु विद्यालय आयु में एक वर्ष पूर्व बच्चों को दर्ज किया या जाए तथा उनका लेखा रखा जाए। अभी भारत में इस प्रकार दर्ज करने की प्रथा नहीं है। देहाती क्षेत्रों में तो अनेक पालक अपने बच्चों की आयु भी नहीं बतला सकते। अतः दर्ज संख्या अभियान चलाना आवश्यक है। सार्वजनिक रूप से बच्चों को विद्यालय में भरती रखने से तात्पर्य है कि दर्ज किए गए बच्चे शिक्षा की निर्धारित अवधि के पूर्व विद्यालय न छोड़ें। इसके लिए स्थिरता और अपव्यय को कम करना उपयोगी होगा। स्थिरता को कम करने के लिए पहली कक्षा में परीक्षा न ली जाए तथा पहली से तीसरी तक की कक्षाओं को एक इकाई मानकर शिक्षा की व्यवस्था की जाए तथा कक्षा वार शिक्षण न करके मूल्यांकन इकाई वार किया जाए जिससे वालक की जैसी प्रगति हो उसे वैसे ही आगे बढ़ने का अवसर दिया जाए। यदि संभव हो तो उच्च प्राथमिक स्तर पर अल्पकालीन पाठ्यक्रम व्यवस्थित करके पार्ट टाइम शिक्षण की व्यवस्था करना भी उपयोगी होगा। इन कक्षाओं में हाजिरी ऐच्छिक हो।

(2) प्राथमिक शिक्षा को रोचक बनाने के लिए आवश्यक है कि वालकों को उपयुक्त शिक्षण विधियों द्वारा शिक्षा दी जाए। विद्यालयों में उपयुक्त शिक्षण सामग्री को व्यवस्थित किया जाए जिससे वालक बालिकाओं को आकर्षित किया जा सके तथा वे शिक्षा के प्रति ध्यान दें। भारतीय शिक्षा आयोग सन् 1964–66 का विचार है कि उत्तम शिक्षण विधियों का प्रयोग शिक्षकों की रूढ़िवादिता एवं प्रशासनीय उपेक्षा के कारण नहीं हो पाता है। अतः इन दोनों कारणों को दूर किया जाना चाहिए।

(3) वालिकाओं के लिए पृथक् विद्यालयों की व्यवस्था होनी चाहिए तथा उनका पाठ्यक्रम भी वालकों से अलग होना चाहिए। वह ऐसा हो कि वे उसके प्रति आकर्षित होकर उसमें रुचि लें। वह व्यावहारिक एवं जीवनोपयोगी होना चाहिए। अध्यापिकाओं की संख्या में वृद्धि की जानी चाहिए। इससे स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन मिलना प्रारंभ होगा। वर्तमान में पहले की अपेक्षा महिलाएं कहीं अधिक शिक्षित हो रही हैं तथा शिक्षा क्षेत्र में कार्य करने की ओर आर्कषित

हो रही हैं। अपव्यय एवं अवरोधन की समस्या का भी हल होना चाहिए। इस के लिए निम्नलिखित कार्य करना आवश्यक है :

(अ) जो बालक निर्धनता के कारण शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाते हैं उनके लिए निःशुल्क शिक्षा, भोजन तथा वस्त्र आदि की व्यवस्था करनी चाहिए।

(ब) श्रमिक तथा हरिजन बस्तियों में संध्याकालीन विद्यालय खोले जाएं जिससे उनके अभिभावकों को अपने बच्चों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजने में सुविधा हो क्योंकि दिन में वे लोग अपने-अपने काम पर चले जाते हैं और बच्चे को घर पर ही रहना पड़ता है।

(स) ग्रामीण क्षेत्रों में बुवाई और कटाई के अवसरों पर बच्चों की छुट्टियां कर देनी चाहिए जिससे वे अपने माता-पिता के साथ काम में हाथ बंटा सकें।

(द) हिंदू कोड बिल, शारदा ऐक्ट का कड़ाई से पालन किया जाए जिससे बाल-विवाह इत्यादि रुक सके।

(इ) प्राथमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम को रोचक, जीवनोपयोगी एवं व्यावहारिक होना चाहिए। पाठ्यक्रम को सुधारना आवश्यक है।

(ई) जनता शिक्षा में रुचि लेने लगे इसके लिए प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था की जाए। अमेरिका में प्रयोगों तथा शोधकार्य द्वारा यह निष्कर्ष निकाला गया है कि प्रौढ़ शिक्षा से विद्यालय में बालकों की हाजिरी का सीधा संबंध है। अतः समाज शिक्षा की उचित व्यवस्था से माता-पिता की शिक्षा के प्रति रुचि उत्पन्न की जा सकती है।

(उ) स्त्री शिक्षा को अधिक से अधिक प्रोत्साहन मिलना चाहिए। प्रारंभ में बालकों की शिक्षा अनिवार्य की जाए तथा बाद में बालिकाओं पर भी इसे लागू किया जाए।

(ऊ) प्राथमिक विद्यालयों में बालकों की हाजिरी के संबंध में प्रयत्न किया जाए। गैरहाजिरी के आर्थिक, सामाजिक, शिक्षा व्यवस्था का अरुचिकर होना, बालकों की उपेक्षा आदि कारण हो सकते हैं। इन कारणों का पता लगाकर इन्हें दूर करना चाहिए।

(क) इसके साथ-साथ अनिवार्य शिक्षा क्षेत्र में गैरहाजिर बालकों के प्रति कार्यवाही करने का तरीका भी सरल तथा सुगम बनाया जाना चाहिए। जिससे शीघ्र तथा उचित कार्यवाही शिक्षक व गांव के लोग कर सकें।

(ख) प्राथमिक शिक्षा पर अधिक धन व्यय किया जाना चाहिए। आदिम, अनुसूचित, अल्पसंख्यक तथा पिछड़ी हुई जातियों के लिए विशिष्ट स्कूलों की स्थापना होनी चाहिए। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत ने इस ओर काफी

प्रगति की है। इनके बच्चों को निःशुल्क शिक्षा, छात्रवृत्तियां आदि की सहायता दी जा रही है। सरकारी सहायता के अलावा देश की जनता को भी इसमें सहयोग देना चाहिए, तभी यह समस्या हल हो सकेगी। देश के सभी राजनीतिक दलों को सामाजिक शिक्षा के विकास में सहायता देनी चाहिए और उसको अपना प्रमुख कर्तव्य समझकर सहयोग करना चाहिए। कम से कम शासन करने वाले दल को तो ऐसा मानकरचलना ही चाहिए।

उपरोक्त सुझावों के आधार पर प्राथमिक शिक्षा की समस्याओं को हल किया जा सकता है। लोकतंत्र की सुरक्षा के लिए अनिवार्य निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। संख्यात्मक उन्नति के साथ ही साथ गुणात्मक उन्नति करना अनिवार्य है। अनिवार्य शिक्षा लोकतंत्र की सुरक्षा की ढाल है तथा भारतीय जीवन के विकास की नींव है। इसी के सहारे समाज की बहुत कुछ बुराइयां एवं दोष भी दूर किए जा सकते हैं। अतः हमें अनिवार्य शिक्षा योजना को सफल बनाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

3

माध्यमिक शिक्षा

प्रारंभ

माध्यमिक शिक्षा वर्तमान काल की ही विशेषता है। प्राचीन काल में जब समाज का संगठन सरल तथा सीधा था, तब समाज के बच्चों को प्राथमिक शिक्षा देना ही उपयोगी समझा जाता था। उस काल में प्राथमिक शिक्षा के स्तर तक के ज्ञान से सभी आवश्यक कार्य चल जाते थे। परंतु विज्ञान के विकास तथा जीवन की जटिलता के कारण यह आवश्यक हो गया है कि बालकों को प्राथमिक शिक्षा के स्तर से आगे का ज्ञान भी दिया जाए। आजकल वास्तव में प्राथमिक स्तर तक का ज्ञान तो बहुत कम समझा जाने लगा है। प्राचीन काल में शिक्षा का संबंध धर्म से था। जो व्यक्ति प्राथमिक स्तर से अधिक शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे वे धर्म संबंधी शिक्षा प्राप्त करते थे। बाकी सभी प्राथमिक स्तर की शिक्षा प्राप्त करके अपना व्यवसाय करने लगते थे। पर आज सामाजिक गार्हस्थ्य जीवन समुचित रूप से व्यतीत करने तथा देश के लोकतंत्रात्मक जीवन में सक्रिय योग देने के लिए यह आवश्यक हो गया है कि जनसाधारण को और भी अधिक शिक्षा मिले।

पाश्चात्य देशों में माध्यमिक विद्यालयों का उल्लेख यूनानियों के 'रेटोरिक' तथा 'ऐकेडेमिक' हाई स्कूल के रूप में मिलता है। यूनानियों ने जन जीवन को उन्नत तथा समृद्ध बनाने के लिए इन दो प्रकार के विद्यालयों को उपयोगी माना था। रोम ने भी इन्हीं आधारों पर अपने माध्यमिक विद्यालयों का संगठन किया। सन् 1821 में बोस्टन में 'ऐकेडेमी' के स्थान पर हाई स्कूल स्थापित किया गया। अमेरिका में 17वीं शताब्दी के प्रारंभ में माध्यमिक शिक्षा के विद्यालय खुले। परंतु शायद इसके पूर्व भी परोक्ष रूप से माध्यमिक स्तर का ज्ञान विभिन्न प्रकार की संस्थाओं द्वारा दिया जाता रहा होगा। इंग्लैंड के लेटिन ग्रामर विद्यालय भी माध्यमिक विद्यालयों का ही प्रारंभिक रूप हैं।

वर्तमान भारतीय माध्यमिक शिक्षा का प्रारंभ 19वीं सदी के प्रारंभ से ही मानना चाहिए। सन् 1813 के ऐक्ट के अनुसार 1 लाख रुपया भारतीयों की शिक्षा के लिए कंपनी को खर्च करने का आदेश दिया गया। इस धन की व्यवस्था के लिए एक लोक शिक्षा समिति बनाई गई। अनेक कारणों से इस समिति में दो दल हो गए। एक दल प्राच्य शिक्षा तथा साहित्य को प्रोत्साहित करना चाहता था तो दूसरा दल पाश्चात्य शिक्षा को। यह झगड़ा अनेक वर्षों तक चलता रहा, इसके फलस्वरूप इस समिति का कार्य ही ठप्प हो गया। अंत में लॉर्ड मैकाले इसके अध्यक्ष बनाए गए। उन्होंने पाश्चात्य शिक्षा तथा अंगरेजी के प्रसार की नीति अपनाने का सुझाव सरकार को दिया। परिणामस्वरूप तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बेंटिंग ने एक आदेश जारी किया, जिसमें सरकार द्वारा अंगरेजी तथा यूरोपीय शिक्षा के प्रसार की नीति अपनाने के निर्णय की घोषणा थी। वैसे इस आदेश में भारतीय देशी विद्यालयों तथा शिक्षा को चालू रखने संबंधी सुझाव भी थे। परंतु लार्ड मैकाले के सुझाव तथा उनके सुझाव के आधार पर सन् 1835 का सरकारी निर्णय ही यूरोपीय साहित्य तथा विज्ञान के विद्यालयों को भारत में प्रारंभ कराने में प्रमुख रूप से सहायक हुए। इस प्रकार के विद्यालय राजा राममोहनराय तथा अन्य भारतीयों के प्रभाव के कारण शीघ्र ही व्यापक हुए। इन विद्यालयों में अंगरेजी शिक्षा प्राप्त करने पर कंपनी में अच्छी नौकरियां भी मिलती थीं, क्योंकि सन् 1844 में लार्ड हार्डिंग्ज ने यह घोषित किया था कि अंगरेजी शिक्षा प्राप्त लोगों को सरकारी नौकरियों में प्राथमिकता दी जाएगी। इसका परिणाम यह हुआ कि जो अंगरेजी शिक्षा यूरोपीय ज्ञान और विज्ञान के प्रसार के लिए भारत में प्रारंभ की गई थी, उसका उद्देश्य अब केवल नौकरी दिलाने तक ही सीमित तथा संकुचित मान लिया गया। पाश्चात्य शिक्षा के लिए जो माध्यमिक विद्यालय थे उनमें अंगरेजी तथा साहित्य का अच्छा ज्ञान कराए जाने पर बल दिया जाने लगा था, परंतु विज्ञान की व्यावहारिक शिक्षा उपेक्षित ही रहती थी। इस प्रकार एक दूषित तथा संकुचित आधार को लेकर भारत में पाश्चात्य शिक्षा के माध्यमिक विद्यालयों की स्थापना हुई।

प्रारंभ से ही माध्यमिक शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य बालक को उपयोगी तथा सुखी नागरिक बनाना रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि माध्यमिक शिक्षा द्वारा व्यक्ति की सामाजिक क्षमता बढ़ाने का प्रयत्न ही किया जाता है। संसार के विभिन्न देशों में माध्यमिक शिक्षा के ढंग में विभिन्नता होते हुए भी प्रायः सभी प्रकार की माध्यमिक शिक्षा का यही प्रमुख उद्देश्य रहा है। इसके साथ-साथ महाविद्यालयीय या उच्च शिक्षा के लिए प्रवेश पाने योग्य बनाना भी

माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य रहा है। वैसे लेटिन ग्रामर स्कूल या ऐकेडेमीज तथा उच्च शिक्षा के महाविद्यालयों के विषयों में वहुत कम संवंध रहता था, परन्तु फिर भी माध्यमिक विद्यालय उच्च शिक्षा से प्रभावित होते रहे हैं। मध्यकाल में तो उच्च शिक्षा के योग्य वनाना ही माध्यमिक शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य था। 20वीं सदी में भी माध्यमिक शिक्षा उच्च शिक्षा से प्रभावित रही है।

भारतीय माध्यमिक शिक्षा का विकास

जैसा कि प्रारंभ में वताया जा चुका है, लार्ड मैकाले की नीति के फलस्वरूप सन् 1835 में भारत में अंगरेजी विद्यालयों की वृद्धि हुई। इन्हीं से हमारे वर्तमान माध्यमिक विद्यालयों का प्रारंभ होता है। सन् 1844 में लार्ड हार्डिंग्ज द्वारा सरकारी नौकरी में अंगरेजी पढ़े-लिखे लोगों की नियुक्ति को प्राथमिकता देने की नीति से भी इसे प्रोत्साहन मिला।

सन् 1854 का महाविधान

सन् 1853 तक शिक्षा के क्षेत्र में अनेक समस्याएं खड़ी हुई थीं। इसके लिए विस्तृत जांच आवश्यक थी। अभी तक की प्रगति की जांच के आधार पर सन् 1854 में वुड डिस्पेच या शिक्षा महाविधान के रूप में शिक्षा क्षेत्र में की गई प्रगति तथा वर्तमान समस्याओं के हल के सुझाव प्रस्तुत किए गए थे। सन् 1854 में शिक्षा महाविधान के प्रमुख सुझाव शिक्षा विभाग स्थापित करने, विश्वविद्यालय स्थापना, क्रमवार राजकीय विद्यालयों की स्थापना, निजी संस्थाओं को आर्थिक सहायता, शिक्षकों के उचित प्रशिक्षण की व्यवस्था आदि से संवंधित थे। सन् 1854 में शिक्षा महाविधान के फलस्वरूप वंवई, कलकत्ता आदि विश्वविद्यालय खुलने से माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम, क्षेत्र आदि पर वड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। इसके कारण माध्यमिक शिक्षा स्वयं स्वतंत्र न रह सकी। सन् 1854 के वाद अगले 20–25 वर्षों में भारतीय माध्यमिक शिक्षा के संवंध में अपनाई गई नीति के कारण अनेक दोष परिलक्षित होने लगे, जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं—

(1) शिक्षा का माध्यम अंगरेजी होना।

(2) शिक्षा का जीवन की आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों से अलग होना।

(3) माध्यमिक शिक्षकों के प्रशिक्षण की कोई उत्तम व्यवस्था न होना।

(4) मैट्रिक परीक्षा का संपूर्ण माध्यमिक शिक्षा के साथ प्राथमिक शिक्षा पर भी अधिक प्रभाव होना।

सन् 1882 का हंटर कमीशन

सन् 1882 में भारतीय शिक्षा की प्रगति तथा समस्याओं के हल के हेतु हंटर कमीशन नियुक्ति की गई थी। माध्यमिक शिक्षा के संबंध में इस कमीशन को स्तर तथा स्वरूप की जांच कर सुझाव देने का कार्य सौंपा गया था। इस कमीशन ने सुझाव दिया कि माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था आर्थिक अनुदान के आधार पर की जाए। जहां तक बने सरकार माध्यमिक शिक्षा व्यवस्था अपने हाथ में न ले।

माध्यमिक शिक्षा की दृष्टि से हंटर कमीशन की कुछ सिफारिशें बड़ी महत्त्वपूर्ण थीं : जैसे, माध्यमिक स्तर पर पाठ्यक्रम को बहुउद्देशीय बनाया जाए, माध्यमिक स्तर पर व्यावसायिक शिक्षा दी जाए, शिक्षा का माध्यम अंगरेजी रखना आवश्यक नहीं है, शिक्षकों के प्रशिक्षण की उत्तम व्यवस्था की जाए आदि। परंतु इन सुझावों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। फलस्वरूप माध्यमिक शिक्षा में अनेक दोष बने रहे। परंतु सन् 1902 तक भारत में माध्यमिक शिक्षा का अधिक प्रसार हुआ, जो निम्न आंकड़ों से प्रतीत होता है।

	1881-82	1901-2
(1) माध्यमिक विद्यालय	3,916	5,124
(2) माध्यमिक विद्यालयों में छात्र	2,14,077	5,90,129

सन् 1902 तक इस अभूतपूर्व प्रगति के दो कारण मुख्य थे :

(1) निजी प्रयासों का उत्साह एवं वृद्धि तथा

(2) आर्थिक अनुदान प्रणाली का अपनाया जाना।

सन् 1902 का विश्वविद्यालय आयोग

लार्ड कर्जन ने भारत में आने पर शिक्षा में सुधार करने के लिए अनेक प्रयत्न किए। विश्वविद्यालयीय शिक्षा के सुधार के लिए उसने 1902 में विश्वविद्यालय आयोग की स्थापना की। इस आयोग ने विश्वविद्यालयीय शिक्षा के नियंत्रण तथा संगठन के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए। फलस्वरूप माध्यमिक शिक्षा विश्वविद्यालयीय शिक्षा से और भी प्रभावित होने लगी, क्योंकि सन् 1904 का जो विश्वविद्यालयीय कानून बना उसके अनुसार माध्यमिक विद्यालयों को विश्वविद्यालयों से मान्यता प्राप्त करना आवश्यक हो गया। लार्ड

कर्जन ने माध्यमिक शिक्षा के नियंत्रण के लिए विभागीय मान्यता देने, आर्थिक तथा व्यावहारिक सहूलियतें देने, गैरमान्यता प्राप्त विद्यालयों के छात्रों के मान्यता प्राप्त विद्यालयों में भरती किए जाने पर प्रतिबंध आदि लगाने जैसे कई काम किए। माध्यमिक शिक्षा के स्तर के सुधार के लिए उसने प्रत्येक जिले में सरकारी माध्यमिक विद्यालय स्थापित किए तथा गैरसरकारी विद्यालय को और भी अधिक आर्थिक सहायता दी। शिक्षकों के प्रशिक्षण की सुविधाएं भी बढ़ाईं। मिडिल कक्षाओं तक मातृभाषा के माध्यम को अपनाया गया।

इस समय यह अनुभव किया जाने लगा था कि विश्वविद्यालय माध्यमिक शिक्षा पर बहुत अधिक नियंत्रण रखते हैं। अतः उन्हें इस नियंत्रण से मुक्ति दिलाने तथा स्वतंत्र करने के लिए माध्यमिक शिक्षा मंडलों की स्थापना भी कई प्रांतों में की गई। ये प्रमंडल माध्यमिक शिक्षा के विद्यालयों के लिए पाठ्य-क्रम बनाते थे, अंतिम परीक्षा लेते थे तथा पुस्तकों को निर्धारित करते थे।

कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग—1917

सर सैंडलर की अध्यक्षता में सन् 1917 में कलकत्ता विश्वविद्यालय की शिक्षा संबंधी जांच तथा सुझाव के हेतु एक आयोग की स्थापना की गई। इसे सैडलर आयोग भी कहते हैं। इस आयोग ने माध्यमिक शिक्षा पर भी विचार किया तथा यह मत व्यक्त किया कि माध्यमिक शिक्षा का सुधार विश्व-विद्यालयीय शिक्षा के विकास तथा सुधार के लिए आवश्यक है। सैंडलर आयोग ने इस संबंध में निम्नलिखित सुझाव दिए हैं :

(1) माध्यमिक शिक्षा तथा विश्वविद्यालयीय शिक्षा के बीच की कड़ी मैट्रिक परीक्षा न होकर इंटरमीडियट परीक्षा होनी चाहिए।

(2) अतः इंटरमीडिएट परीक्षाओं के लिए संस्थाएं खोली जाएं। ये चाहे स्वतंत्र हों या माध्यमिक विद्यालयों से संलग्न रहें।

(3) माध्यमिक तथा इंटरमीडिएट शिक्षा बोर्ड की स्थापना की जाए।

(4) विश्वविद्यालयों में प्रवेश इंटरमीडिएट के बाद दिया जाए।

सैंडलर आयोग की सिफारिशों के अनुसार, जो कलकत्ता विश्वविद्यालय के संबंध में ही थीं, अनेक भारतीय विश्वविद्यालयों ने कार्य करना प्रारंभ कर दिया। इसके बाद तो माध्यमिक शिक्षा का बहुत अधिक प्रसार हुआ। परंतु पाठ्यक्रम में विविधता, व्यावसायिक शिक्षा, शिक्षकों का प्रशिक्षण, उनका वेतन तथा सेवा की शर्तें, माध्यम आदि की समस्याएं ज्यों की त्यों रहीं तथा इनमें कोई सुधार न हो सका।

द्विविध शासन तथा माध्यमिक शिक्षा

सन् 1921 में भारतीय शासन में सुधार हुआ तथा प्रांतों में दुहरे शासन का आरंभ हुआ। इससे शिक्षा तथा कुछ अन्य विषय भारतीयों के हाथ में रहे। पर अर्थ विभाग अंगरेजों के हाथ में था तथा शिक्षा विभाग के अनेक उच्च अधिकारी शिक्षा के उन्नत स्तर के पक्ष में थे। परंतु भारतीय जनता तो शिक्षा का प्रसार चाहती थी। इस प्रकार एक द्वंद्व चला।

हार्टाग समिति

सन् 1929 में भारतीय शिक्षा की जांच करने तथा सुधार के सुझाव देने के लिए हार्टाग कमीशन का गठन किया गया। इस समिति ने भी यह व्यक्त किया कि अभी भी विश्वविद्यालयीय शिक्षा का वहुत अधिक प्रभाव माध्यमिक शिक्षा पर है। इसके सुधार के लिए हार्टाग समिति ने पाठ्यक्रम की विविधता तथा अधिकांश वालकों को पूर्व माध्यमिक स्तर तक शिक्षा देने की सिफारिश की। साथ ही हार्टाग समिति ने वालकों को औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा की ओर उन्मुख करने का सुझाव भी दिया है। इस समिति ने शिक्षकों की दशा तथा प्रशिक्षण को असंतोषप्रद वताया। परंतु इसके सुधार के कोई ठोस उपाय नहीं सुझाए।

केंद्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद्

सन् 1923 में भारत सरकार ने शिक्षा संवंधी मामलों में सलाह देने के लिए केंद्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् की स्थापना की।

सप्रू समिति

सन् 1934 में संयुक्त प्रांत की सरकार ने अपने प्रांत की वेकारी के कारणों की जानकारी प्राप्त करने तथा उसे दूर करने के उपाय सुझाने के लिए सप्रू समिति की स्थापना की जिसके अध्यक्ष सप्रू महोदय थे। इस समिति ने शिक्षा को केवल परीक्षा पास करने वाली ही निरूपित किया और इसके सुधार के लिए निम्नलिखित उपाय सुझाए :

(1) माध्यमिक शिक्षा स्तर पर विविधता वाले पाठ्यक्रम वनाए जाएं।

(2) वर्तमान इंटरमीडिएट स्तर अलग करके माध्यमिक स्तर में इसका एक वर्ष जोड़ दिया जाए।

(3) व्यावसायिक तथा प्राविधिक कोर्स मिडिल स्तर के बाद प्रारंभ किए जाएं।

(4) विश्वविद्यालयीय डिग्री कोर्स 3 वर्षीय रहे।

सन् 1935 का संविधान

सन् 1937 तक माध्यमिक शिक्षा के दोष स्पष्ट हो गए थे। जहां-तहां वेकारी फैलने लगी थी। राष्ट्रीय आंदोलनों को भी वल मिलने लगा था। जहां-तहां माध्यमिक विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों से निकलने वाले विद्यार्थियों की आवाजें आने लगी थीं। अनेक राष्ट्रीय संस्थाएं भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि को वनाए रखकर शिक्षा के प्रयोग कर रही थीं। अत: शिक्षा में आमूल परिवर्तन तथा सुधार आवश्यक हो गया था। इसी समय सन् 1935 के भारतीय संविधान के अनुसार देश के अनेक प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल स्थापित हुए। फलस्वरूप शिक्षा में सुधार के प्रयत्न किए जाने लगे। परंतु शीघ्र ही युद्ध आरंभ हो गया तथा अनेक राजनीतिक कारणों से कांग्रेसी मंत्रिमंडल ने इस्तीफा दे दिया। इससे इस दिशा में अधिक काम न हो सका।

वुड तथा ऐबट रिपोर्ट

सन् 1936-37 में भारत सरकार ने श्री वुड तथा श्री ऐवट नाम के दो सज्जनों को शिक्षा पुनर्गठन, विशेषत: औद्योगिक शिक्षा के पुनर्गठन के लिए आमंत्रित किया। इन दो सज्जनों की समिति को निम्न कार्य सौंपे गए :

(1) प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर पर औद्योगिक शिक्षा के स्वरूप तथा उसे प्रारंभ करने संवंधी सुझाव देना।

(2) तात्कालिक व्यावसायिक तथा औद्योगिक संस्थाओं के पुनर्गठन तथा विकास के सुझाव देना।

(3) समिति ने देश में माध्यमिक स्तर के औद्योगिक तथा व्यावसायिक विद्यालय खोलने का सुझाव दिया। इस समिति के सुझावों के फलस्वरूप देश में औद्योगिक, कृषि, व्यावसायिक विद्यालय तथा पोलीटेकनिक संस्थाएं स्थापित हुईं।

सार्जेंट रिपोर्ट

द्वितीय महायुद्ध के वाद सन् 1944 में केंद्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् ने युद्धोत्तर काल में शिक्षा के विकास के लिए एक विस्तृत योजना प्रस्तुत की। इसे सार्जेंट रिपोर्ट भी कहते हैं। इस रिपोर्ट में अनिवार्य नि:शुल्क शिक्षा की व्यवस्था (6 से 14 वर्ष के वालक-वालिकाओं के लिए) की गई थी तथा माध्यमिक शिक्षा को एक पूर्ण स्वतंत्र अंग के रूप में रखा गया था। माध्यमिक शिक्षा

के लिए इसमें दो प्रकार के विद्यालयों का सुझाव प्रस्तुत किया गया था : (1) साहित्यिक तथा (2) व्यावसायिक। इन दोनों प्रकार के विद्यालयों का प्रमुख उद्देश्य था माध्यमिक स्तर पर सर्वांगीण शिक्षा की व्यवस्था करना तथा बालकों को विद्यालय छोड़ने पर किसी एक उद्योग को चुनने तथा करने में सहायक सिद्ध होना।

केंद्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् तथा डा० ताराचंद समिति

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सन् 1948 में अपनी 14वीं बैठक में केंद्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् ने माध्यमिक शिक्षा संबंधी समस्याओं पर विचार किया। फलस्वरूप डा० ताराचंद की अध्यक्षता में, जो कि उस समय केंद्रीय शिक्षा विभाग के शिक्षा सचिव थे, एक समिति का गठन हुआ जिसने माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन के लिए अनेक सुझाव दिए। इन सुझावों पर केंद्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् ने सन् 1949 में इलाहाबाद में हुई अपनी 15वीं बैठक में विचार किया। इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये गए जैसे, विश्वविद्यालय में प्रवेश के लिए 4 वर्षीय माध्यमिक शिक्षा आवश्यक हो, अंगरेजी माध्यम समाप्त करके मातृभाषा को माध्यम बनाया जाए, राष्ट्रभाषा की शिक्षा अनिवार्य की जाए, प्रांतीय शिक्षा बोर्ड स्थापित किए जाएं आदि। इनके साथ-साथ माध्यमिक शिक्षा पुनर्गठन के लिए सुझाव देने के हेतु एक उच्च स्तरीय माध्यमिक शिक्षा आयोग की स्थापना की जाए। केंद्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् ने अपनी 1951 की बैठक में माध्यमिक शिक्षा आयोग की स्थापना के प्रस्ताव को पुन: दुहराया। फलस्वरूप केंद्रीय सरकार ने 23 सितंबर, सन् 1952 को एक माध्यमिक शिक्षा आयोग की स्थापना की, जिसके अध्यक्ष डा० मुदालियर थे। अत: इसे मुदालियर कमीशन कहा जाता है।

इसी बीच केंद्रीय सरकार ने विश्वविद्यालयीय शिक्षा के पुनर्गठन संबंधी सुझाव देने के लिए सन् 1948 में डा० राधाकृष्णन की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग की स्थापना की। विश्वविद्यालय शिक्षा संबधी विचार करते समय इस आयोग ने माध्यमिक शिक्षा पर भी विचार किया तथा माध्यमिक शिक्षा को इंटरमीडिएट कक्षा स्तर का बनाने का सुझाव दिया। इस आयोग ने स्पष्ट रूप से यह विचार व्यक्त किया कि भारतीय शिक्षा में माध्यमिक शिक्षा सबसे कमज़ोर कड़ी है। अत: इसमें तत्काल सुधार आवश्यक है।

माध्यमिक शिक्षा आयोग—1952

इस आयोग की स्थापना 23 सितंबर, सन् 1952 को हुई। इसके अध्यक्ष

डा० मुदालियर के अतिरिक्त इसमें निम्न सदस्य थे :

(1) प्रिंसिपल जान क्रिस्ट, आक्सफोर्ड ।
(2) डा० केनेथ रास्ट विलियम्स (यू० एस० ए०) ।
(3) श्रीमती हंसा मेहता ।
(4) श्री तारापोरवाला ।
(5) डा० के० एल० श्रीमाली ।
(6) श्री टी० एस० व्यास ।
(7) श्री के० जी० सैयदैन ।
(8) प्रिंसिपाल ए० एन० वसु ।

इस आयोग का उद्‌घाटन भारत के तत्कालीन केंद्रीय शिक्षा मंत्री मौलाना आजाद ने 6 अक्टूबर, सन् 1952 को किया था । आयोग ने अपना विस्तृत प्रतिवेदन जून, सन् 1953 को केंद्रीय सरकार को अर्पित किया । इस प्रतिवेदन में भारतीय मान्यताओं, आदर्शों तथा आवश्यकताओं की पृष्ठभूमि में माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन के सुझाव प्रस्तुत किए गए थे ।

आयोग ने माध्यमिक शिक्षा में निम्न दोष वतलाए :

(1) वर्तमान माध्यमिक शिक्षा अरोचक तथा कृत्रिम है । यह लचीली भी नहीं है ।

(2) यह वालक-वालिकाओं की विभिन्न रुचियों या एक ही बालक-वालिका की विभिन्न रुचियों तथा आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करती है ।

(3) यह छात्रों को सुनागरिक नहीं वनाती । यह उनमें सुनागरिक के लिए आवश्यक गुणों, जैसे अनुशासन, विनय, सहयोग, स्वावलंवन, नेतृत्व आदि का विकास नहीं करती ।

(4) यह परीक्षा को वहुत महत्त्वपूर्ण समझती है । परीक्षा प्रणाली भी दूषित है क्योंकि इसके द्वारा छात्रों के ज्ञान की वास्तविक परीक्षा नहीं हो पाती ।

(5) यह पुस्तकीय है । फलस्वरूप यह वालक-वालिकाओं को उपयोगी व्यवसाय दिलाने में असमर्थ रहती है ।

(6) इसका पाठ्यक्रम बोझिल तथा पाठ्य पुस्तकों में बालक-वालिकाओं की रुचि, योग्यता तथा आवश्यकताओं के अनुकूल पाठ्य सामग्री नहीं होती ।

(7) इसमें शिक्षण नीरस तथा भार स्वरूप होता है । इससे शिक्षक तथा वालक दोनों अपनी योग्यता का पूर्ण परिचय नहीं दे पाते ।

(8) माध्यमिक विद्यालयों में वालकों की संख्या भी वहुत अधिक रहती है जिससे शिक्षक-विद्यार्थी संपर्क तथा संवंध घनिष्ठ रूप से स्थापित नहीं हो पाता है ।

(9) शिक्षा के अत्यधिक विकास के कारण योग्य तथा अनुभवी शिक्षकों की कमी है।

(10) माध्यमिक विद्यालयों में अनेक छात्र ऐसे भरती होते हैं जिनके घर का वातावरण विद्यालय की शिक्षा का पूरक तथा उसमें सहायक नहीं होता। अतः माध्यमिक विद्यालयों को इस उत्तरदायित्व को भी वहन करना चाहिए। पर आज वे इस उत्तरदायित्व का वहन नहीं कर रही हैं।

(11) माध्यमिक विद्यालयों में ऐसी सहपाठ्यक्रमगामी क्रियाओं की व्यवस्था नहीं है जो बालक के सर्वांगीण विकास में सहायक हों। तात्पर्य यह है कि मस्तिष्क, संवेग, रुचियों, शारीरिक विकास तथा सामाजिकता के गुणों का विकास करने वाली सहपाठ्यक्रमगामी क्रियाओं का वर्तमान माध्यमिक विद्यालयों में अभाव है।

(12) खेल तथा मनोरंजन क्रियाओं की सुविधाओ की कमी भी अत्यधिक है।

आयोग के उपरोक्त दर्शाए गए दोषों को निम्न 6 भागों में विभक्त किया जा सकता है :

(1) माध्यमिक शिक्षा का भावी जीवन से अलगाव।

(2) माध्यमिक शिक्षा का एकांगीपन तथा संकीर्णता।

(3) शिक्षा का माध्यम के रूप में अनेक स्थानों पर अंगरेजी को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त।

(4) शिक्षा पद्धतियों में स्वतंत्र चिंतन तथा कार्य करने की क्षमता का विकास करने की क्षमता न होना।

(5) शिक्षक-विद्यार्थी संपर्क तथा संबंध की कमी।

(6) परीक्षा का महत्त्व अधिक होने से शिक्षा का चरित्र निर्माण में सहायक न होना।

आयोग ने इन दोषों के दूर करने तथा माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन के लिए सुझाव दिए :

इनके संबंध में विस्तृत चर्चा इसी अध्याय में हो चुकी है। अतः यहां संक्षेप में संकेत मात्र ही किया जा रहा है। भारत एक धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्रात्मक गणतंत्र है। भारत प्राकृतिक साधनों से समृद्ध है परंतु इनका उपयोग न होने से देशवासी गरीब हैं तथा उनका जीवन-स्तर निम्न है। गरीबी का ही कारण है कि देशवासियों का ध्यान सांस्कृतिक तथा सामाजिक गतिविधियों की ओर नहीं रहता।

माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्य : इन परिस्थितियों तथा मान्यताओं के आधार पर माध्यमिक शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य होने चाहिए :

(1) आदर्श नागरिकों का निर्माण करना, जिससे वे भारतीय धर्मनिरपेक्ष गणतंत्र के उत्तरदायित्वों का वहन कर सकें।

(2) छात्रों की व्यावहारिक तथा व्यावसायिक क्षमताओं का विकास करना, जिससे देश का अधिक उत्थान संभव हो।

(3) मानवीय गुणों का विकास करना, जिससे देश का सांस्कृतिक उत्थान हो सके तथा एक प्रगतिशील राष्ट्रीय संस्कृति का विकास संभव हो।

(4) मानवीय गुणों के विकास के साथ-साथ नेतृत्व की भावना का विकास करना जिससे छात्र देश के नागरिकों के सच्चे नेता वन सकें।

माध्यमिक शिक्षा का संगठन : इसके संवंध में इसी अध्याय में अन्यत्र विस्तार से चर्चा हो गई है। संक्षेप में माध्यमिक शिक्षा का संगठन निम्न प्रकार सुझाया गया है :

(अ) 4 या 5 वर्ष की प्राथमिक शिक्षा।

(व) 3 वर्ष की पूर्व-माध्यमिक या सीनियर वेसिक स्तर की शिक्षा।

(स) 3 अथवा 4 वर्ष की उच्चतर माध्यमिक स्तर की शिक्षा।

शिक्षा का माध्यम तथा भाषाओं की शिक्षा : आयोग ने माध्यमिक शिक्षा का माध्यम मातृभाषा या प्रादेशिक भाषा रखने का सुझाव दिया। अंगरेजी पढ़ने के संवंध में वड़ा मतभेद रहा। आयोग ने अंगरेजी को वैकल्पिक रूप में पढ़ाने की सिफारिश की। राज्य में विभिन्न भाषा वोलने वाले अल्पसंख्यकों के लिए आयोग ने केंद्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् द्वारा सन् 1949 की वैठक में दिए सुझावों के अनुसार सुविधा देने की सिफारिश की।

मिडिल या पूर्व माध्यमिक स्तर पर प्रत्येक छात्र को कम से कम दो भाषाएं पढ़ाई जाएं पर एक ही वर्ष में दो भाषाएं न सिखाई जाएं। अंगरेजी तथा हिन्दी जूनियर वेसिक स्तर के आखिरी वर्ष से प्रारंभ की जाए।

पाठ्यक्रम : माध्यमिक तथा उच्चतर माध्यमिक स्तर पर कम से कम दो भाषाओं का ज्ञान दिया जाए, जिनमें से एक मातृभाषा या प्रादेशिक भाषा हो।

आयोग ने पाठ्यक्रम में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक वताया है :

(1) पाठ्यक्रम वालकों की विभिन्न प्रवृत्तियों का विकास करने वाला हो।

(2) वालकों की आवश्यकताओं के अनुसार शीघ्र परिवर्तन किया जाए।

(3) सामाजिक आवश्यकताओं के अनुकूल हो।

(4) समय का सदुपयोग सिखाने वाला हो।

(5) विषयों में वंटा हुआ न होकर ज्ञान क्षेत्रों में वंटा हुआ हो।

उपरोक्त सिद्धांतों पर आधारित पाठ्यक्रम में निम्न विषय निर्धारित किए गए हैं। मिडिल स्कूलों के लिए सभी अनिवार्य हैं।

(1) भाषा (2) सामाजिक अध्ययन (3) सामान्य विज्ञान (4) गणित (5) कला और संगीत (6) उद्योग (7) शारीरिक शिक्षा।

(अ) हाई स्कूल की कक्षाओं के लिए अनिवार्य विषय :

(1) भाषा (2) सामान्य विज्ञान (3) सामाजिक अध्ययन (4) उद्योग।

(ब) विविधता वाले वैकल्पिक विषयों के समूह :

(1) मानवीय विषय (2) विज्ञान (3) टेक्नीकल (4) व्यापारिक (5) कृषि (6) ललित कलाएं (7) गृह विज्ञान। ये विविधता वाले विषय माध्यमिक स्तर के द्वितीय वर्ष से प्रारंभ किए जाएं।

पाठ्यपुस्तकें : पाठ्यपुस्तकों का शिक्षा स्तर पर अधिक प्रभाव है। अतः आयोग ने पाठ्यपुस्तकों के उच्च स्तर वनाए रखने के लिए एक उच्च शक्ति प्राप्त समिति गठन करने का सुझाव दिया। इस समिति में निम्न सदस्य होंगे :

(1) उच्च न्यायालय का न्यायाधीश।

(2) राज्य जन-सेवा आयोग का सदस्य।

(3) राज्य के किसी एक विश्वविद्यालय का उपकुलपति।

(4) राज्य का एक प्रधानाध्यापक या प्रधानाध्यापिका।

(5) शिक्षा संचालक।

इसके साथ-साथ पुस्तक चित्रण कला के विकास के लिए विशिष्ट संस्था खोलने, केंद्र तथा राज्य सरकार के अच्छे चित्रों के ब्लाक के संग्रहालय खोलने तथा उनके प्रकाशकों को ब्लाक उधार देने, किसी विषय के लिए केवल एक ही पुस्तक निर्धारित करने आदि के सुझाव भी दिए गए।

शिक्षण की गतिशील विधियां : किसी भी पाठ्यक्रम की सफलता के लिए उत्तम शिक्षण विधियों का होना आवश्यक है। अच्छी शिक्षण विधि में निम्न गुण होना आवश्यक है :

(1) कार्य के प्रति रुचि बढ़ाने तथा उसे अच्छे से अच्छे ढंग से पूण करने की अभिलाषा का होना।

(2) ज्ञान को सार्थक तथा वास्तविक बनाएं।

(3) जीवन विद्यालय तथा समाज के बीच की दूरी को कम करें।

(4) स्पष्ट चिन्तन की प्रेरणा दें।

(5) अभिरुचियों का वृत्त विस्तृत करें।

आज की शिक्षण विधियों में उपरोक्त गुण नहीं होते हैं। अतः उनमें निम्न सुधार किए जाने चाहिए।

(1) शब्दों द्वारा ज्ञान देने पर बल न देकर क्रिया के आधार पर ज्ञान दिया जाए।

(2) विद्यालय कार्यक्रम में 'अभिव्यक्ति-कार्य' को प्रोत्साहित किया जाए।

(3) छात्रों को स्वयं अध्ययन करके स्वाध्याय द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की रीतियों में प्रशिक्षित किया जाए।

(4) छात्रों को 'समूह में कार्य' करने के अवसर अधिक दिए जाएं।

(5) अच्छे पुस्तकालयों की व्यवस्था की जाए।

आयोग ने चरित्र निर्माण पर अधिक महत्त्व दिया है। चरित्र निर्माण इस प्रकार होना चाहिए कि विद्यार्थियों की सभी अंतर्निहित शक्तियां अधिकतम मात्रा में विकसित हों तथा समाज का कल्याण हो। इसके लिए आयोग ने निम्न सुझाव दिए :

(1) विद्यालयों को समाज के दोषों को दूर कर उसके विकास तथा उत्थान के प्रयत्न करने चाहिए।

(2) चरित्र निर्माण में समाज, शिक्षक, अभिभावक सभी का सहयोग प्राप्त करना चाहिए।

(3) चरित्र निर्माण की शिक्षा किसी घंटे विशेष तक सीमित नहीं होनी चाहिए।

(4) अनुशासनहीनता दूर होना आवश्यक है। इसके लिए सभी को सम्मिलित प्रयत्न करना चाहिए।

(5) धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा चरित्र निर्माण के लिए आवश्यक है। पर धर्मनिरपेक्ष गणतंत्र होने से विद्यालयों में किसी धर्म विशेष की शिक्षा नहीं दी जा सकती, पर नैतिक प्रशिक्षण अवश्य दिया जा सकता है। धर्म की शिक्षा स्वेच्छा से विद्यालय के घंटों के वाद दी जा सकती है।

(6) सहपाठ्यक्रमगामी क्रियाओं का वाहुल्य तथा उचित व्यवस्था की जाए। इन्हें विद्यालय पाठ्यक्रम का अंगांगी समझा जाए।

(7) 17 वर्ष से कम आयु के वालकों का उपयोग राजनीतिक प्रचार में न करने के लिए कानून बनाया जाए।

(8) राज्य में कैंप आदि का आयोजन किया जाए। पूर्व-प्राथमिक चिकित्सा, सेंट जान एम्बुलेंस आदि के प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था की जाए।

(9) राष्ट्रीय छात्र सैनिक दल की व्यवस्था (एन० सी० सी०) केंद्रीय सरकार द्वारा हो।

शिक्षा निर्देश तथा परामर्श : अच्छी शिक्षा प्रणाली की सफलता के लिए छात्रों की रुचियों तथा क्षमताओं का समुचित ज्ञान होना आवश्यक है। अतः प्रत्येक माध्यमिक विद्यालय में छात्रों को उचित शैक्षणिक निर्देश तथा परामर्श मिलना चाहिए। वालकों को विभिन्न व्यवसायों तथा उद्योगों की आवश्यकताओं, कामनाओं, कार्यों, महत्त्वों आदि से परिचित कराने के लिए फिल्मों, औद्योगिक स्थानों के भ्रमण आदि की व्यवस्था करनी चाहिए। विद्यालयों में शैक्षणिक तथा व्यावहारिक परामर्शदाताओं की नियुक्ति की जाए। इनके प्रशिक्षण की व्यवस्था भी प्रत्येक राज्य में की जाए। छात्रों के शारीरिक स्वास्थ पर समुचित ध्यान दिया जाए। इसके लिए प्रत्येक राज्य में सुव्यवस्थित विद्यालय चिकित्सा सेवा संगठित की जाए। छात्रों की पूर्ण जांच तथा बीमारियों की चिकित्सा की व्यवस्था की जाए। छात्रावासों में अच्छा पौष्टिक भोजन दिया जाए। छात्रों के शारीरिक कार्यों का लेखा रखा जाए, विद्यालय के आसपास सफाई रखी जाए तथा वालकों से इसमें सहायता ली जाए, शिक्षकों को शारीरिक शिक्षा में प्रशिक्षित करने की सुविधाएं वढ़ाई जाएं, शिक्षकों को पूर्व-प्राथमिक चिकित्सा का प्रशिक्षण दिया जाए तथा शारीरिक शिक्षा की उचित व्यवस्था की जाए।

शिक्षक तथा शिक्षक-प्रशिक्षण : आयोग ने इसे वहुत अधिक महत्त्वपूर्ण माना है क्योंकि किसी भी विद्यालय का नाम शिक्षक की योग्यता, विद्यालय तथा समाज में उनका स्थान, उनके व्यवसाय के प्रशिक्षण आदि पर निर्भर करता है। आयोग ने शिक्षकों तथा उनके प्रशिक्षण की स्थिति को असंतोषजनक निरूपित किया तथा इसमें पर्याप्त सुधार करना आवश्यक वताया। इसके लिए उसने निम्न सुझाव दिए :

(1) माध्यमिक विद्यालयों में स्नातक तथा शिक्षक प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षक रहें। प्राविधिक विषयों की शिक्षा देनेवाले शिक्षक प्राविधिक में स्नातक हों।

(2) एक सी योग्यता तथा समान श्रेणी के कार्य करने वाले शिक्षकों का वेतन समान हो।

(3) शिक्षकों को उचित वेतन देने की व्यवस्था की जाए।

(4) शिक्षकों की आर्थिक स्थिति सुधारने में त्रिमुखी योजना अर्थात् पेंशन, प्रोविडेंट फंड तथा बीमा प्रारंभ किया जाए।

(5) शिक्षकों की कठिनाइयों तथा प्रार्थनाओं को सुनने के लिए निर्णायक मंडल या समितियां वनाई जाएं।

(6) शिक्षकों के भारमुक्त होने की अवधि शिक्षा निर्देशक के परामर्श पर 60 वर्ष रखी जाए।

(7) शिक्षकों के बच्चों को निःशुल्क शिक्षा संपूर्ण विद्यार्थी जीवन भर दी जाए।

(8) शिक्षकों तथा उनके आश्रितों को निःशुल्क चिकित्सा भी उपलब्ध करने का प्रावधान किया जाए।

(9) ट्यूशन प्रथा बिल्कुल बंद की जाए।

(10) माध्यमिक विद्यालयों में प्रधानाध्यापकों का पद महत्त्वपूर्ण समझा जाए तथा इसके लिए अच्छे वेतन की व्यवस्था की जाए।

(11) स्नातकों के लिए एक वर्ष तथा विश्वविद्यालयों से संवद्ध माध्यमिक शिक्षा प्राप्त शिक्षकों के लिए दो वर्ष के शिक्षक-प्रशिक्षण विद्यालय होने होने चाहिए।

शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं में प्रत्यास्मरण कोर्स आयोजित किए जाएं तथा सभी प्रशिक्षण विद्यालय आवास की सुविधाओं सहित हों, जिससे सामुदायिक जीवन व्यतीत किया जा सके।

परीक्षा : आयोग ने परीक्षा तथा योग्यता-निर्धारण को प्रमुख तथा महत्त्वपूर्ण बताया है। इसके अनेक लाभ हैं—

(1) छात्रों के माता-पिता तथा शिक्षकों को छात्रों की प्रगति का पता लगता रहता है।

(2) छात्रों को स्वयं अपने ज्ञान, योग्यता तथा स्तर का ज्ञान हो जाता है।

(3) समाज को विद्यालय द्वारा वहन किए जा रहे उत्तरदायित्व का ज्ञान हो जाता है। इसके संतोषप्रद या असंतोषप्रद होने का ज्ञान भी समाज को होता है। पर परीक्षा प्रणाली में सुधार आवश्यक है। इसके लिए आयोग ने निम्न सुझाव दिए हैं :

(1) बालक के वर्ष भर के कार्य का विवरण रखा जाए तथा उस पर जांच के समय उचित ध्यान दिया जाए।

(2) अंकों के बदले सांकेतिक चिह्न प्रयुक्त किए जाएं।

(3) आंतरिक परीक्षाओं तथा लेखों का सारांश भी अंतिम परीक्षा-फलों में अंकित किया जाए।

(4) लेख-प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिए वस्तुरूप प्रश्न प्रणाली को अपनाया जाए।

(5) माध्यमिक शिक्षा के अंत में एक सार्वजनिक परीक्षा ली जाए।

शिक्षा प्रशासन : शिक्षा संस्थाओं के उचित मार्गदर्शन तथा संगठन के लिए उचित प्रशासन आवश्यक है। इसके लिए आयोग ने निम्न सुझाव दिए हैं :

(1) शिक्षा मंत्री को लोकशिक्षा निर्देशक या संचालक ही परामर्श दे तथा इसका पद संयुक्त शिक्षा सचिव के समकक्ष समझा जाए।

(2) माध्यमिक शिक्षा के लिए माध्यमिक शिक्षा प्रमंडल गठित किया जाए। इसके अध्यक्ष लोक शिक्षा संचालक ही रहें।

(3) शिक्षकों के समुचित शिक्षण-प्रशिक्षण की व्यवस्था के लिए शिक्षक प्रशिक्षण बोर्ड की स्थापना की जाए।

(4) शिक्षा संबंधी विषयों पर परामर्श के लिए केंद्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् बनी रहे तथा राज्य स्तर पर भी ऐसी ही परिषद् स्थापित की जाएं।

(5) शिक्षा निर्देशक के लिए शिक्षा समस्याओं का अध्ययन करना आवश्यक हो तथा समय-समय पर वह शिक्षकों को उचित परामर्श दे।

(6) विद्यालयों को अच्छे स्तर पर बनाए रखने तथा सभी शर्तों की पूर्ति पर ही मान्यता दी जाए।

(7) प्रत्येक विद्यालय की प्रबंधकारिणी समिति होनी चाहिए तथा उसे रजिस्टर्ड किया जाए। प्रधानाध्यापक इसके पदेन सदस्य रहें। विद्यालय के आंतरिक मामलों का उत्तरदायित्व प्रधानाध्यापक पर ही रहे। माध्यमिक शिक्षा के लिए धन जुटाने तथा कमी पूर्ति करने के हेतु आयोग द्वारा निम्न सुझाव दिए गए हैं :

अर्थव्यवस्था—(1) केंद्रीय सरकार व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था करे।

(2) व्यावसायिक तथा प्राविधिक शिक्षा व्यवस्था के लिए 'औद्योगिक शिक्षा उपकर' लगाया जाए।

(3) शिक्षण संस्थाओं को दिए गए दान पर कोई कर न लगाया जाए।

(4) शिक्षण संस्थाओं द्वारा खरीदी गई सामग्री पर कोई चुंगी न लगाई जाए।

(5) केंद्र माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन के लिए पर्याप्त आर्थिक सहायता दे।

इसके अतिरिक्त आयोग ने प्रत्येक सत्र के कार्य व अवकाश के दिनों विद्यालय भवन के उपयोग आदि के संबंध में भी सुझाव दिए हैं।

समीक्षा

आयोग के सुझावों में अनेक सुझाव मौलिक तथा स्तुत्य हैं, जैसे माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्य, शिक्षा विधि, चरित्र निर्माण, शैक्षणिक निर्देशन तथा परामर्श, स्वास्थ्य-शिक्षा, परीक्षाओं में वर्ष भर के आंतरिक कार्यों का महत्त्व तथा अन्य इसी प्रकार के कार्य। शिक्षकों की दशा सुधारने तथा शिक्षक-प्रशिक्षण के संबंध

में आयोग के सुझाव महत्त्वपूर्ण हैं। परीक्षा प्रणाली तथा पाठ्यक्रम संबंधी सुझावों में अवश्य ही मौलिकता का अभाव है। इन सुझावों से माध्यमिक शिक्षा में चले आए परंपरागत दोषों का निराकरण संभव नहीं दिखाई देता। इस आयोग में महिला शिक्षा पर विस्तृत रूप से कोई विचार नहीं किया गया। किसी भी समाज की उन्नति उसकी महिलाओं की स्थिति तथा शिक्षा पर ही निर्भर करती है। इस दृष्टि से इस महत्त्वपूर्ण अंग की उपेक्षा की गई है। इस संबंध में केवल गृह विज्ञान तथा कुछ सुविधाओं के देने मात्र से कार्य नहीं चल सकता है। पाठ्य पुस्तकों के चुनाव के लिए उच्च शक्ति प्राप्त समिति का गठन होना चाहिए पर इसमें योग्य शिक्षकों का प्रतिनिधित्व और भी अधिक होना चाहिए था। साथ ही साथ छपाई, प्रकाशन आदि से संबंधित विशेषज्ञों का सम्मिलित किया जाना अनेक दृष्टिकोणों से लाभकारी है।

भारतीय शिक्षा आयोग ने माध्यमिक विद्यालय के विकास एवं दर्ज संख्या संबंधी नीतियों के निर्धारण हेतु अनेक सुझाव दिए हैं जिनमें से निम्न प्रमुख हैं:

(1) माध्यमिक स्तर पर दर्ज संख्या नीति प्रशिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति से संबंधित होनी चाहिए।

(2) माध्यमिक स्तर पर शिक्षा को उद्योग अभिमुख बनाया जाए। निम्न माध्यमिक स्तर पर 20 प्रतिशत तथा उच्च माध्यमिक स्तर पर 50 प्रतिशत छात्रछात्राओं के लिए औद्योगीकृत माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था हो।

(3) माध्यमिक स्तर पर शिक्षा के समान अवसर प्रदान करने की दृष्टि से छात्रवृत्तियों की समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए।

(4) बालिकाओं, पिछड़ी एवं आदिम जातियों के बच्चों के लिए माध्यमिक शिक्षा की समुचित व्यवस्था करके शिक्षा के अवसरों की उपलब्धि समान कराने की दिशा में कार्य किया जाए।

(5) माध्यमिक स्तर पर कौशल एवं योग्यता वृद्धि की ओर विशेष ध्यान दिया जाए। इसलिए यह आवश्यक है कि माध्यमिक विद्यालयों में समुचित साधन एवं शिक्षकों की व्यवस्था की जाए।

(6) प्रत्येक जिले में माध्यमिक शिक्षा के विकास के लिए जिले की आवश्यकताओं के अनुरूप योजना विकसित की जाए।

(7) पूर्णकालिक औद्योगिक शिक्षा के अतिरिक्त अंशकालीन पाठ्यक्रम भी उद्योगों, पोलीटेकनिक संस्थाओं आदि में व्यवस्थित किए जाएं। बालिकाओं के लिए भी गृह विज्ञान से संबंधित विषयों के अंशकालिक पाठ्यक्रम व्यवस्थित किए जाएं।

(8) उच्चतर माध्यमिक विद्यालय को विद्यालय संगम का केंद्र बनाकर इसके पोषक माध्यमिक एवं प्राथमिक विद्यालय का एक विद्यालय संगम संगठन विकसित किया जाए तथा विद्यालयों में गुणात्मक विकास के प्रयास किए जाएं।

(9) माध्यमिक शिक्षा परिषद् का पुनर्गठन किया जाए जिससे 12वीं तक की शिक्षा के लिए पाठ्यक्रम परीक्षा आदि की व्यवस्था को उचित ढंग से व्यवस्थित किया जा सके।

(10) माध्यमिक स्तर पर 10वीं एवं 12वीं की कक्षाओं के अंत में ही वाह्य परीक्षाओं को व्यवस्थित किया जाए। आंतरिक एवं वाह्य दोनों प्रकार की परीक्षाओं में सुधार करके इन्हें प्रभावी बनाया जाए।

(11) शिक्षण विधियों में सुधार किया जाए तथा शिक्षण की गतिशील विधियों के उपयोग को प्रोत्साहित किया जाए।

शिक्षा का निम्न स्तर

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सरकार का ध्यान शिक्षा की संख्यात्मक वृद्धि की ओर रहा है। गुणात्मक उन्नति की ओर ध्यान नहीं दिया गया है। इसी कारण शिक्षा का स्तर निम्न रहा है। शिक्षा स्तर के निम्न होने के कई कारण और भी हैं। युद्धकाल में सभी चीजों के मूल्य तो काफी बढ़ गए हैं परंतु शिक्षकों का वेतन प्रायः नहीं के वरावर वढ़ा है। उन्हें इतना वेतन भी नहीं मिलता कि वे अपनी दैनिक आवश्यकताओं को भली भांति पूर्ण कर सकें। इस तरह की परिस्थितियों में शिक्षकों से वहुत अधिक आशा करना ठीक नहीं है। उनके कार्य में कमी आना स्वाभाविक ही है। वहुत से स्कूल और कालेज ऐसे हैं जिनके पास इतना धन नहीं है कि जिससे वे अपने विद्यालय के लिए उपयुक्त भवन तथा पाठ्यपुस्तकों की व्यवस्था कर लें। इन सब कारणों से शिक्षा का निम्न स्तर होना स्वाभाविक है।

परीक्षा की समस्या

परीक्षा प्रणाली भी दूषित है क्योंकि इसके द्वारा छात्रों के ज्ञान की वास्तविक परीक्षा नहीं हो पाती है। यह केवल छात्रों के पुस्तकीय ज्ञान की ही जांच करती है। प्रश्नपत्रों का निर्माण भी दोषपूर्ण है। प्रश्नपत्र पूरे पाठ्यक्रमों के आधार पर नहीं बनाए जाते बल्कि कुछ महत्त्वपूर्ण अध्यायों से संबंधित होते हैं। इससे विद्यार्थी वर्ष भर तो कुछ नहीं पढ़ते, परंतु परीक्षा के दिनों में महत्त्वपूर्ण अध्यायों को दिनरात पढ़ते हैं जिससे उनके स्वास्थ्य पर बुरा असर

पड़ता है। लिखित तथा वाह्य परीक्षाओं को वहुत अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। परीक्षाओं में छात्र-छात्राओं को अंक प्रदान करने की जो विधि है वह दोषपूर्ण है। इससे परीक्षाफलों में वस्तुनिष्ठता, विश्वसनीयता तथा वैधता का अभाव रहता है।

भारत में माध्यमिक स्तर पर नामांकन संख्या निम्नानुसार है :

माध्यमिक शिक्षा में दर्ज संख्या[1]

स्तर तथा वर्ष	दर्ज संख्या (1000 में)			संवंधित आयु समूह में दर्ज संख्या का प्रतिशत		
	वालक	वालिका	कुल योग	वालक	वालिका	योग
कक्षा 8वीं से 10वीं तक						
1950–51	1304(8·5)	204(14·8)	1508 (9·5)	10·9	1·8	6·5
1955–56	1965(8·4)	406(12·8)	2371 (9·2)	14·9	3·3	9·3
1960–61	2941(9·9)	741(13·9)	3682(10·7)	20·4	5·4	13·1
1965–66	4707(6·9)	1420(9·7)	6127 (7·5)	28·7	9·1	19·1
1970–71	6559(6·8)	2259(9·7)	8818 (7·5)	34·2	12·2	23·4
1975–76	9104(6·2)	3581(8·2)	12685(6·8)	40·8	16·9	29·1
1980–81	12256(6·1)	5285(8·1)	17541(6·7)	49·1	22·6	36·3
1985–86	16526 —	7842 —	24368 —	60·4	30·6	46·0
कक्षा 11वीं 12वीं						
1950–51	245(12·0)	37(13·9)	282(12·2)	3·3	0·5	1·9
1955–56	431(10·7)	71(13·2)	502(11·1)	5·2	0·9	3·1
1960–61	717(10·3)	132(11·4)	849(10·5)	8·0	1·6	4·9
1965–66	1172 (7·7)	226(11·6)	1398 (8·3)	11·5	2·3	7·0
1970–71	1696 (6·7)	391(10·3)	2087 (7·5)	14·6	3·5	9·2
1975–76	2351 (7·8)	638(11·3)	2989 (8·6)	17·0	4·8	11·0
1980–81	3423 (7·9	(1089(11·4)	4512 (8·8)	21·7	7·4	14·8
1985–86	5004 —	1869 —	6873 —	28·8	11·4	20·4

1. Ministory of Education Form A For 1950–51 to 1960–61. अन्य शिक्षा आयोग 1964–66 के कार्यालय में अनुमानित 1 कोष्ठक में दिए आंकड़े पंचवर्षीय अवधि में औसत विकास की दर को प्रदर्शित करते हैं।

अनुशासनहीनता की समस्या

अनुशासनहीनता विकसित होने के कई कारण हैं। यह माध्यमिक शिक्षा की प्रमुख समस्या है। इसके विकसित होने के प्रमुख कारणों में उद्देश्यहीन शिक्षा, दूषित परीक्षा प्रणाली, अनुपयुक्त पाठ्यक्रम आदि हैं। वर्तमान समय में तो यह समस्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। अगर इस समस्या को हल नहीं किया गया तो यह राष्ट्र एवं समाज दोनों के लिए घातक सिद्ध होगी।

धनाभाव की समस्या

माध्यमिक शिक्षा के विकास के अवरुद्ध होने का कारण धन की कमी होना है। पाश्चात्य देशों की तुलना में हमारा देश शिक्षा में बहुत कम ही धन खर्च कर पाता है। धन की कमी के कारण उसको अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है, जैसे कर्मचारियों के वेतन में कमी, भवन निर्माण की समस्या उपयुक्त पाठ्यपुस्तकों का अभाव, समृद्ध एवं संपन्न पुस्तकालयों एवं प्रयोग-शालाओं का अभाव, शैक्षणिक उपकरणों का अभाव आदि। परिणामस्वरूप माध्यमिक शिक्षा का विकास तीव्र गति से नहीं हो पा रहा है।

व्यक्तिगत स्कूलों एवं कालेजों की अनावश्यक वृद्धि

वर्तमान समय में व्यक्तिगत स्कूलों एवं कालेजों की संख्या में अवांछनीय वृद्धि हो रही है। इन स्कूलों में जातिवाद, सांप्रदायिक भेदभाव, राजनीतिक दलबंदी का बोलबाला रहता है। अध्यापकों को कम से कम वेतन पर नियुक्त किया जाता है। हस्ताक्षर पूरे वेतन पर करा कर कम वेतन दिया जाता है। इस कारण शिक्षकों के कार्य में कमी आना अवश्यंभावी है। इन स्कूलों के छात्रों में अनुशासन की कमी होती है क्योंकि शिक्षक पूरे मनोयोग से विद्यार्थियों के प्रति ध्यान नहीं दे पाते। इनका शिक्षा स्तर भी निम्न रहता है क्योंकि स्कूल निरीक्षक भी राजनीतिक दबाव के कारण इन पर कोई कड़ी कार्यवाही कर पाने में असमर्थ होते हैं।

मार्गदर्शन, व्यावसायिक चयन संबंधी समस्याएं

शिक्षा प्रणाली की सफलता के लिए छात्रों की रुचियों तथा क्षमताओं का समुचित ज्ञान होना आवश्यक है। माध्यमिक विद्यालय में छात्रों को उचित शैक्षणिक निर्देशन तथा परामर्श की आवश्यकता रहती है। आठवीं कक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् छात्रों के सामने कठिन समस्या यह रहती है कि वे कौन से विषय ग्रहण करें। अधिकांश बालक-बालिकाएं अपने अभिभावकों की रुचि एवं

इच्छा के अनुसार ही विषयों का चुनाव करते हैं, चाहे वे उन विषयों के ग्रहण करने की योग्यता तथा रुचि न भी रखते हों। ऐसी परिस्थिति में छात्र कभी भी अपूर्व सफलता ग्रहण नहीं कर पाते हैं। इसका परिणाम अनुशासनहीनता, अपव्यय, अवरोधन आदि ही होता है।

अपव्यय एवं अवरोधन की समस्या

जिस तरह से प्राथमिक स्तर पर अपव्यय एवं अवरोधन की समस्या जटिल है उसी प्रकार माध्यमिक स्तर पर भी यह समस्या जटिल है। प्रतिवर्ष. इससे काफी नुकसान हो रहा है।

प्रशिक्षित अध्यापकों की कमी

माध्यमिक स्तर पर विभिन्नीकृत तथा बहुप्रयोजनीय पाठ्यक्रम आरंभ कर दिया गया है परंतु पाठ्यक्रम के इन नये नये विषयों को पढ़ाने के लिए कुशल एवं प्रशिक्षित शिक्षकों का अभाव है। ग्रामों में यह समस्या और भी अधिक जटिल है।

प्रशासन संबंधी समस्याएं

माध्यमिक शिक्षा के प्रशासकों में मानवीयता की भावना का अभाव रहता है। वे अपने आपको सर्वेसर्वा समझते हैं। अपने नीचे के अधिकारियों के साथ बड़ा कठोर व्यवहार करते हैं और शिक्षकों को नये प्रयोग करने तथा मौलिक निर्णय लेने के लिए प्रोत्साहित नहीं करते हैं। अनेक प्रशासनिक अधिकारियों में शिक्षा की विभिन्न तथा जटिल समस्याओं को समझने व हल करने की क्षमताओं का अभाव भी होता है। फलस्वरूप रूढ़िगत कार्य ही चल पाते हैं। यह स्थिति उचित नहीं है।

निरीक्षण एवं पर्यवेक्षण की समस्या

माध्यमिक शिक्षा की यह समस्या भी अत्यंत गंभीर रूप धारण किए हुए है। वैसे तो राज्य के प्रत्येक जिले में निरीक्षक रहते हैं पर वे पूरी तौर से निरीक्षण का कार्य नहीं कर पाते, क्योंकि उनके पास विद्यालयों तथा प्रशासनीय कार्य का आधिक्य रहता है। कुछ निरीक्षक निर्धारित नियमों के अनुसार ही विद्यालयों का पर्यवेक्षण करते हैं। वे उस स्थान की परिस्थितियों को भी ध्यान में नहीं रखते हैं। यदि कोई विद्यालय निर्धारित नियमों के अनुसार अपना कार्य कर रहा है तो उनकी दृष्टि में वह विद्यालय श्रेष्ठ है। परंतु यदि

कोई विद्यालय कुछ नये प्रयोग, शिक्षण विधि अपनाते हैं तो वे उनकी दृष्टि में ठीक नहीं हैं।

अधिकांश निरीक्षक तो पुरानी रिपोर्ट के आधार पर अपनी रिपोर्ट दे देते हैं। वे नाममात्र का पर्यवेक्षण करते हैं। वास्तव में वे घूमने के लिए ही जाते हैं। इन सब कारणों से माध्यमिक विद्यालयों का निरीक्षण ठीक तरह से नहीं हो पाता है।

माध्यमिक विद्यालयों का प्रबंध

वर्तमान में माध्यमिक विद्यालय निम्न तीन प्रकार के हैं :

(1) राजकीय विद्यालय
(2) स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के विद्यालय
(3) निजी विद्यालय

व्यक्तिगत स्कूलों की संख्या राजकीय स्कूलों से कहीं अधिक है। ये स्कूल नाममात्र के स्कूल हैं। यथार्थ में ये शिक्षा को अपनी आय का साधन मानते हैं। इस तरह साधन साध्य बन गया है। ऐसी परिस्थिति में शिक्षा के ऊंचे स्तर की कैसे आशा की जा सकती है? इन स्कूलों में अनुशासनहीनता अधिक पाई जाती है जिसका असर राजकीय स्कूलों पर भी पड़ता है। स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के माध्यमिक विद्यालयों की स्थिति को भी अच्छा नहीं कहा जा सकता।

सामुदायिक जीवन का अभाव

वर्तमान समय में विद्यालयों के छात्रों में सामाजिकता के गुणों का सर्वथा अभाव है। मस्तिष्क संवेग, रुचियों, शारीरिक विकास तथा सामाजिकता के गुणों का विकास करने वाली सहपाठ्यगामी क्रियाओं को माध्यमिक विद्यालयों में अपेक्षित स्थान प्राप्त नहीं है। खेल तथा मनोरंजनात्मक क्रियाओं की सुविधाएं भी अत्यंत कम हैं। साथ ही साथ धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा की कमी भी विद्यालयों में है। विद्यालयों का उद्देश्य सिर्फ परीक्षा पास करा देना ही है। शिक्षक और छात्र वर्ष भर इस उद्देश्य की पूर्ति में ही लगे रहते हैं। शिक्षक यह नहीं सोचते कि यदि प्रारंभ से ही छात्रों में सामाजिकता के गुण पैदा नहीं किए जाएंगे, तो वे कैसे अपने आपको समाज में ठीक प्रकार से व्यवस्थित कर पाएंगे? इन गुणों के न होने से छात्र अपने देश का उत्तरदायित्व पूर्ण रूप से निर्वाह नहीं कर पाएंगे।

बहूद्देश्यीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों की समस्याएं

माध्यमिक शिक्षा आयोग ने, जिसे मुदालियर शिक्षा आयोग (1952–53) कहा जाता है, उच्चतर माध्यमिक शिक्षा की योजना प्रस्तावित की थी जिसके अनुसार अनेक राज्यों में बहूद्देश्यीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों की स्थापना की गई थी। इनमें कक्षा 8 के उपरांत 9वीं से 11वीं तक छात्रों को विविध विषयों के अध्ययन की सुविधाएं प्रदान की गईं। इनमें छात्र विषय समूहों के अनुसार विभक्त किये जाते हैं। शिक्षा आयोग (1964–66) के अनुसार ये विद्यालय बहूद्देश्यीय न होकर वहुकल्प (Multilateral) ही रहे। इन विद्यालयों में जो छात्र प्रवेश लेते थे उनका उद्देश्य विश्वविद्यालयों में आगे की शिक्षा प्राप्त करना रहा है। फलस्वरूप मुदालियर शिक्षा आयोग द्वारा निर्धारित सात विषय समूहों में से अधिकांश छात्रों ने मानवीय, विज्ञान, वाणिज्य विषय समूहों के विषयों को ही अध्ययन हेतु चुना। कुछ विद्यालयों में कृषि विषय समूह भी संगठित किया गया परंतु कला में तकनीकी विषय समूह न तो समुचित रूप से व्यवस्थित किए जा सके और न छात्रों ने इनके अध्ययन में रुचि प्रदर्शित की, क्योंकि विश्वविद्यालय स्तर पर ये विषय प्रचलित नहीं हैं। शिक्षा आयोग (1964–66) का विचार है कि कुछ छात्रों की रुचि के अनुसार अधिक महंगे विषय समूहों की शिक्षा व्यवस्था भारत की वर्तमान आर्थिक स्थिति के अनुकूल नहीं है। बहूद्देश्यीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में सामान्यतः तीन विषय समूहों के अध्ययन की सुविधाएं ही दी गई हैं। इनसे अधिक विषय समूहों की शिक्षा की व्यवस्थां देश के बहुत कम उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में रही है। फलस्वरूप छात्रों की विभिन्न रुचियों एवं प्रवृत्तियों के अनुरूप शिक्षा को व्यवस्थित करने का उद्देश्य पूर्ण हो ही नहीं सका है।

बहूद्देश्यीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय योजना की सबसे बड़ी कमजोरी विशेषीकरण बहुत शीघ्र अर्थात् 13 या 14 वर्ष की आयु में प्रारंभ करने से संबंधित रही है। 13 या 14 वर्ष की आयु में छात्रों को प्रीइंजीनियरिंग या प्री मेडिकल शिक्षा देना उपयुक्त नहीं माना जा सकता है। वर्तमान में संसार के विभिन्न देशों में सामान्य शिक्षा अवधि और अधिक करने तथा विशेषीकरण को माध्यमिक शिक्षा के अंतिम तथा उच्च स्तर के लिए टालने की प्रवृत्तियां ही अधिक विकसित हो रहीं हैं। इसी उद्देश्य से कोठारी शिक्षा आयोग (1964–66) ने दस वर्षीय सामान्य शिक्षा तथा माध्यमिक शिक्षा स्तर के अंतिम दो वर्षों 11वीं तथा 12वीं कक्षाओं में विशेषीकरण का सुझाव दिया है।

माध्यमिक शिक्षा की समस्याओं को हल करने के उपाय

(1) निश्चित उद्देश्य

माध्यमिक शिक्षा को सफल और सार्थक बनाने के लिए उसके निश्चित उद्देश्य होने चाहिए। उसे एक स्वतंत्र इकाई माना जाना चाहिए। भारत एक धर्मनिरपेक्ष गणतंत्र है। यह देश प्राकृतिक साधनों से समृद्ध है परंतु देशवासी इनके उपयोग की क्षमता नहीं रखते हैं। अतः वे गरीब हैं तथा उनका जीवन स्तर निम्न है। गरीबी के कारण देशवासियों का ध्यान सांस्कृतिक तथा सामाजिक गतिविधियों की ओर भी नहीं जा पाता है।

इन परिस्थितियों तथा मान्यताओं के आधार पर माध्यमिक शिक्षा के निम्न उद्देश्य होने चाहिए—

(1) आदर्श नागरिकों का निर्माण करना, जिससे वे भारतीय धर्मनिरपेक्ष गणतंत्र में अपने उत्तरदायित्वों को उचित रूप से वहन कर सकें।

(2) छात्रों की व्यावहारिक तथा व्यावसायिक क्षमताओं का विकास करना, जिससे देश का आर्थिक उत्थान हो।

(3) मानवीय गुणों का विकास करना, जिससे देश का सांस्कृतिक उत्थान हो सके तथा एक प्रगतिशील राष्ट्रीय संस्कृति का विकास संभव हो।

(4) नेतृत्व की भावना का विकास करना, जिससे छात्र देश के नागरिक जीवन में समाज के नेता बन सकें।

(2) लचीला, रोचक एवं विभिन्नीकृत पाठ्यक्रम

पाठ्यक्रम में लचीलापन होना चाहिए जिससे बालकों की आवश्यकतानुसार इसमें परिवर्तन किया जा सके। पाठ्यक्रम विस्तृत होना चाहिए और उसमें विभिन्न उद्योगों, व्यवसायों तथा कृषि संबंधी विषयों को स्थान दिया जाना चाहिए। पाठ्यक्रम विभिन्न प्रवृत्तियों का विकास करने वाला, सामाजिक आवश्यकताओं के अनुकूल तथा समय का सदुपयोग सिखाने वाला हो। वह विषयों में बंटा हुआ न होकर ज्ञान के क्षेत्रों में विभक्त हो।

(3) शिक्षा स्तर को उच्च बनाना

यद्यपि शिक्षा के स्तर को ऊंचा करने में अनेक कठिनाइयों का निराकरण करना पड़ता है परंतु धीरे-धीरे प्रयत्न करते रहने से शिक्षा के स्तर को ऊंचा किया जा सकता है। विद्यालयों में गतिशील पद्धतियों का उपयोग होना चाहिए। शिक्षकों को इन शिक्षण विधियों से परिचित कराने के लिए ऐसे विद्यालयों में

भ्रमण हेतु भेजना चाहिए जहां इन गतिशील पद्धतियों का प्रयोग होता हो तथा शिक्षा से संबंधित नये-नये प्रयोग होते हों। ऐसे निरीक्षकों एवं शिक्षकों की नियुक्ति करनी चाहिए जो शिक्षण कार्य में रुचि रखते हों। समय-समय पर नवीन प्रयोग करने के लिए शिक्षकों को प्रोत्साहन मिलता रहना चाहिए। उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा एवं सम्मान मिलना चाहिए जिससे वे अपना उत्तरदायित्व अच्छी तरह से निभा सकें।

(4) परीक्षा प्रणाली में परिवर्तन एवं सुधार

परीक्षा प्रणाली में सुधार एवं परिवर्तन के लिए माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952–53) ने निम्न सुझाव दिए हैं :

(1) बालक के वर्ष भर के कार्य का विवरण रखा जाए तथा उस पर समुचित ध्यान दिया जाए।

(2) अंकों के वदले संकेत प्रयुक्त किए जाएं।

(3) आंतरिक परीक्षाओं तथा लेखों का सारांश भी अंतिम परीक्षाफलों में अंकित किया जाए।

(4) निवंध प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिए वस्तु-रूप प्रश्न प्रणाली को अपनाया जाए।

(5) माध्यमिक शिक्षा के अंत में एक सार्वजनिक परीक्षा ली जाए। भारतीय शिक्षा आयोग ने व्यक्त किया है कि भारत में सामान्य परीक्षाएं ही ली जाती हैं। अतः निवंधात्मक परीक्षा में ही सुधार करना आवश्यक होगा। निवंधात्मक प्रश्नों को उचित रूप से गठित करके तथा संपूर्ण पाठ्यक्रम को विस्तृत करके उन्नत वनाया जा सकता है।

(6) विस्तृत पाठ्यक्रम के अलावा विद्यार्थियों के चरित्र निर्माण पर वल दिया जाना चाहिए। चरित्र निर्माण इस प्रकार होना चाहिए कि विद्यार्थियों की सभी अंतर्निहित शक्तियां अधिकतम मात्रा में विकसित हों तथा समाज का कल्याण भी हो। आर्थिक तथा नैतिक शिक्षा प्रारंभ करनी चाहिए तथा पाठ्यसहगामी क्रियाओं को महत्त्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए।

(5) पर्याप्त अर्थ की व्यवस्था

माध्यमिक शिक्षा के लिए धन जुटाने तथा कमी पूर्ति करने हेतु शिक्षा आयोग (1952–53) ने निम्नलिखित सुझाव दिए हैं :

(1) केंद्रीय सरकार व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था करे।

(2) व्यावसायिक तथा प्राविधिक शिक्षा व्यवस्था के लिए औद्योगिक शिक्षा उपकर लगाया जाए।

(3) शिक्षण संस्थाओं द्वार खरीदी गई सामग्री पर कोई चुंगी न लगाई जाए।

(4) शिक्षण संस्थाओं को दिए गए दान पर कोई कर न लगाया जाए।

(5) केंद्र माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन के लिए पर्याप्त आर्थिक सहायता दें।

कोठारी आयोग ने भी इसके बारे में बहुत महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए हैं।

(6) व्यक्तिगत स्कूलों की समाप्ति

व्यक्तिगत स्कूलों के प्रादुर्भाव से ही माध्यमिक शिक्षा के विकास में अत्यंत वाधा पड़ी है। इसका एकमात्र उपाय है शिक्षा का राष्ट्रीयकरण। पर अभी तक सरकार का ध्यान इस ओर नहीं गया है। व्यक्तिगत स्कूलों को प्रोत्साहित न कर सरकार को धीरे-धीरे उन्हें समाप्त करना चाहिए।

(7) उचित शिक्षा निर्देश तथा परामर्श

अच्छी शिक्षा प्रणाली की सफलता के लिए छात्रों की रुचियों तथा क्षमताओं का पर्याप्त ज्ञान होना आवश्यक है। अतः प्रत्येक माध्यमिक विद्यालय में वालक-वालिकाओं को उचित शैक्षणिक मार्गदर्शन तथा निर्देशन मिलना चाहिए। वालकों को विभिन्न व्यवसायों तथा उद्योगों की आवश्यकताओं, कामनाओं, कार्यों, महत्त्वों आदि से परिचित कराने के लिए फिल्मों, ओद्योगिक स्थानों के भ्रमण आदि की व्यवस्था भी करनी चाहिए। विद्यालयों में शैक्षणिक तथा व्यावसायिक परामर्शदाताओं की नियुक्तिगां की जाएं। इनके प्रशिक्षण की व्यवस्था की प्रत्येक राज्य व्यवस्था करे।

(8) अपव्यय एवं अवरोधन की समस्या को दूर करना

माध्यमिक शिक्षा के स्तर पर इस समस्या को दूर करने के लिए विद्यालयों में योग्य, कुशल, अनुभवी एवं प्रशिक्षित शिक्षकों की नियुक्ति करनी चाहिए। गतिशील पद्धतियों का अधिकतम उपयोग, परीक्षा प्रणाली में सुधार, विद्यालयों में शैक्षिक उंपकरणों की उपलब्धि, लचीले, रोचक, विभिन्नीकृत पाठ्यक्रम की व्यवस्था, चरित्र निर्माण पर वल देना, आदि उपायों के द्वारा इस समस्या को दूर किया जा सकता है।

(9) योग्य प्रशिक्षित शिक्षकों की नियुक्ति

विद्यालयों में ऐसे शिक्षकों की नियुक्ति होनी चाहिए जो शिक्षा में रुचि रखते हों तथा योग्य, अनुभवी एवं प्रशिक्षित भी हों। ऐसे ही शिक्षकों से शिक्षा के स्तर को ऊंचा उठाया जा सकने की आशा की जा सकती है तथा वे ही शिक्षा संबंधी समस्याओं का निवारण कर सकते हैं। माध्यमिक स्तर के शिक्षकों को प्रशिक्षण देने वाली संस्थाओं के कार्यक्रमों में परिवर्तन करके उन्हें और अधिक उन्नत तथा प्रभावी बनाने के उपाय करना अति आवश्यक है।

(10) उत्तम प्रशासन

उत्तम प्रशासन के लिए ऐसे प्रशासकों की नियुक्ति होनी चाहिए जो शिक्षा संबंधी समस्याओं को हल करने की क्षमता रखते हों। साथ ही वे शिक्षा से संबंधित नये-नये प्रयोग तथा नवीन शिक्षण विधियों का ज्ञान भी रखते हों। ऐसे प्रशासक ही समय-समय पर शिक्षकों को परामर्श दे सकेंगे। प्रशासकों में मानवीय गुण होने चाहिए, जैसे सहिष्णुता, उदारता आदि। उन में शिक्षकों तथा निम्न अधिकारियों के साथ अच्छे संपर्क स्थापित करने एवं परिस्थिति के अनुसार अपने आपको समायोजित कर सकने की क्षमताओं का होना आवश्यक है।

(11) समुचित निरीक्षण एवं पर्यवेक्षण

समुचित निरीक्षण एवं पर्यवेक्षण के लिए कुछ सुझाव निम्न प्रकार हैं :

(1) पर्यवेक्षकों की सीधी नियुक्ति नहीं होनी चाहिए वरन् सीनियर प्राचार्यों को निरीक्षकों के पद पर नियुक्त करना चाहिए।

(2) निरीक्षकों को प्रशासन संबंधी कार्य नहीं देना चाहिए। क्योंकि एक ही व्यक्ति दोनों कार्य सुचारु ढंग से नहीं कर सकता।

(3) प्रजातंत्रात्मक, वैज्ञानिक एवं रचनात्मक पर्यवेक्षण को अधिक प्रोत्साहित करना चाहिए।

(4) पर्यवेक्षक में मानवीय गुण होने चाहिए जैसे उदारता, दूरदर्शिता, व्यक्ति संपर्क बढ़ाने की क्षमता आदि।

(5) विद्यालयों की संख्या वृद्धि के अनुसार निरीक्षकों की भी संख्या बढ़ानी चाहिए। साथ ही, एक निरीक्षक के पास अधिक विद्यालय नहीं होने चाहिए।

(6) कोठारी कमीशन के अनुसार विद्यालयों के निरीक्षकों का कार्यभार घटाने के लिए जिला शिक्षा बोर्ड की स्थापना करनी चाहिए।

(7) मुदालियर कमीशन के अनुसार निरीक्षणालयों की पुनर्व्यवस्था करनी चाहिए।

(8) शिक्षा का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए। सभी विद्यालयों जैसे गैर-सरकारी स्कूलों का प्रबंध आदि सरकार को अपने हाथ में लेना चाहिए। सरकार के इस तरह के प्रयास से माध्यमिक शिक्षा की अभी जो भीषण क्षति हो रही है वह दिन प्रतिदिन कम होती जाएगी तथा क्रमशः माध्यमिक शिक्षा सुधार की सभी योजनाओं में फलीभूत होगी।

(12) सामुदायिक जीवन के रूप में विद्यालय

स्कूलों में सुसंगठित सामुदायिक जीवन के लिए खेल, पर्यटन, शारीरिक व्यायाम, सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्रियाओं को महत्त्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए। मस्तिष्क संवेग, रुचियों अभिरुचियों, शारीरिक विकास तथा सामाजिकता के गुणों का विकास करने वाली सहपाठ्यगामी क्रियाओं का आयोजन होना चाहिए। धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा विद्यालयों में दी जानी चाहिए। बालक-बालिकाओं को सुसंगठित सामुदायिक जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देनी चाहिए।

(9) योग्य प्रशिक्षित शिक्षकों की नियुक्ति

विद्यालयों में ऐसे शिक्षकों की नियुक्ति होनी चाहिए जो शिक्षा में रुचि रखते हों तथा योग्य, अनुभवी एवं प्रशिक्षित भी हों। ऐसे ही शिक्षकों से शिक्षा के स्तर को ऊंचा उठाया जा सकने की आशा की जा सकती है तथा वे ही शिक्षा संबंधी समस्याओं का निवारण कर सकते हैं। माध्यमिक स्तर के शिक्षकों को प्रशिक्षण देने वाली संस्थाओं के कार्यक्रमों में परिवर्तन करके उन्हें और अधिक उन्नत तथा प्रभावी बनाने के उपाय करना अति आवश्यक है।

(10) उत्तम प्रशासन

उत्तम प्रशासन के लिए ऐसे प्रशासकों की नियुक्ति होनी चाहिए जो शिक्षा संबंधी समस्याओं को हल करने की क्षमता रखते हों। साथ ही वे शिक्षा से संबंधित नये-नये प्रयोग तथा नवीन शिक्षण विधियों का ज्ञान भी रखते हों। ऐसे प्रशासक ही समय-समय पर शिक्षकों को परामर्श दे सकेंगे। प्रशासकों में मानवीय गुण होने चाहिए, जैसे सहिष्णुता, उदारता आदि। उन में शिक्षकों तथा निम्न अधिकारियों के साथ अच्छे संपर्क स्थापित करने एवं परिस्थिति के अनुसार अपने आपको समायोजित कर सकने की क्षमताओं का होना आवश्यक है।

(11) समुचित निरीक्षण एवं पर्यवेक्षण

समुचित निरीक्षण एवं पर्यवेक्षण के लिए कुछ सुझाव निम्न प्रकार हैं :

(1) पर्यवेक्षकों की सीधी नियुक्ति नहीं होनी चाहिए वरन् सीनियर प्राचार्यों को निरीक्षकों के पद पर नियुक्त करना चाहिए।

(2) निरीक्षकों को प्रशासन संबंधी कार्य नहीं देना चाहिए। क्योंकि एक ही व्यक्ति दोनों कार्य सुचारु ढंग से नहीं कर सकता।

(3) प्रजातंत्रात्मक, वैज्ञानिक एवं रचनात्मक पर्यवेक्षण को अधिक प्रोत्साहित करना चाहिए।

(4) पर्यवेक्षक में मानवीय गुण होने चाहिए जैसे उदारता, दूरदर्शिता, व्यक्ति संपर्क बढ़ाने की क्षमता आदि।

(5) विद्यालयों की संख्या वृद्धि के अनुसार निरीक्षकों की भी संख्या बढ़ानी चाहिए। साथ ही, एक निरीक्षक के पास अधिक विद्यालय नहीं होने चाहिए।

(6) कोठारी कमीशन के अनुसार विद्यालयों के निरीक्षकों का कार्यभार घटाने के लिए जिला शिक्षा बोर्ड की स्थापना करनी चाहिए।

(7) मुदालियर कमीशन के अनुसार निरीक्षणालयों की पुनर्व्यवस्था करनी चाहिए।

(8) शिक्षा का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए। सभी विद्यालयों जैसे गैर-सरकारी स्कूलों का प्रबंध आदि सरकार को अपने हाथ में लेना चाहिए। सरकार के इस तरह के प्रयास से माध्यमिक शिक्षा की अभी जो भीषण क्षति हो रही है वह दिन प्रतिदिन कम होती जाएगी तथा क्रमशः माध्यमिक शिक्षा सुधार की सभी योजनाओं में फलीभूत होगी।

(12) सामुदायिक जीवन के रूप में विद्यालय

स्कूलों में सुसंगठित सामुदायिक जीवन के लिए खेल, पर्यटन, शारीरिक व्यायाम, सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्रियाओं को महत्त्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए। मस्तिष्क संवेग, रुचियों अभिरुचियों, शारीरिक विकास तथा सामाजिकता के गुणों का विकास करने वाली सहपाठ्यगामी क्रियाओं का आयोजन होना चाहिए। धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा विद्यालयों में दी जानी चाहिए। बालक-बालिकाओं को सुसंगठित सामुदायिक जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देनी चाहिए।

4

उच्च शिक्षा

राष्ट्रीय जीवन के पुनरुत्थान तथा विकास में उच्च शिक्षा का बड़ा योगदान है। उच्च शिक्षा केंद्र राष्ट्र के सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन के केंद्र होते हैं। उच्च शिक्षा समाज के मानसिक स्तर को उच्च बनाती है, जनता के मस्तिष्क का उचित उपयोग करती है, राष्ट्रीय रुचि को शुद्ध करती है, जन सामान्य की आकांक्षाओं को सिद्धांतों का आधार देती है, काल विशेष के विचारों को विकसित करती है, उन्हें गहन बनाती है, राजनीतिक अधिकार तथा सत्ता का उपयोग सुलभ करती है तथा वैयक्तिक जीवन में विचारों के आदान-प्रदान को उन्नत बनाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उच्च शिक्षा हमारे सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक जीवन के लिए मार्गदर्शन करने तथा उसे उन्नत बनाने वाली होती है। इसका कारण है कि उच्च शिक्षा केंद्रों से निकले व्यक्ति ही जीवन के सभी क्षेत्रों का नेतृत्व करते हैं।

स्वतन्त्र भारत में उच्च शिक्षा

सन् 1947 में भारत स्वतंत्र हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उच्च शिक्षा के क्षेत्र में सबसे प्रमुख तथा महत्त्वपूर्ण प्रभावोत्पादक घटना सन् 1948 में विश्वविद्यालय आयोग की स्थापना थी।

विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1948)

भारत सरकार ने 4 नवंबर, सन् 1948 को एक प्रस्ताव पास किया जिसके अनुसार भारत की विश्वविद्यालयीय शिक्षा के दोषों को दूर कर उसकी व्यवस्था तथा उन्नति के संबंध में सुझाव तथा सिफारिशें करने के लिए विश्वविद्यालयीय शिक्षा समीक्षा मंडल की नियुक्ति की गई। इस समीक्षा मंडल में अध्यक्ष डा० राधाकृष्णन सहित 10 सदस्य थे। डा० ताराचन्द्र, डा० जेम्स एफ० डफ,

डा० जाकिर हुसैन, डा० मारगन, डा० मुदालियर, डा० साहा, डा० वहल, डा० टाइगर्ट तथा श्री सिद्धांत ।

इस समीक्षा मंडल के संदर्भित निर्देश निम्नलिखित थे :

(1) भारत में विश्वविद्यालयीय तथा शोध-खोज के उद्देश्य निश्चित करना ।

(2) भारतीय विश्वविद्यालयों के कार्य, सीमा, अधिकार, आर्थिक परि-स्थिति, धार्मिक शिक्षण, शिक्षण के स्तर, परीक्षा, पाठ्यक्रम, शिक्षा का माध्यम, आदि के विषय में आवश्यक सुधारों के सुझाव देना ।

(3) वनारस, अलीगढ़, दिल्ली तथा केंद्र के अंतर्गत अन्य विश्वविद्यालयों की विशेष समस्याओं पर विचार करना ।

(4) शिक्षकों के वेतनमान, योग्यता, सेवा की अवधि, शर्तों, कार्यों आदि पर विचार करना ।

(5) वालकों के अनुशासन, छात्रावास, ट्यूटोरियल कार्यप्रणाली तथा विश्वविद्यालयीय शिक्षा से संबंधित अन्य वातों पर विचार करना ।

राधाकृष्णन समीक्षा-मंडल ने देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों के केंद्रों का भ्रमण किया तथा अनेक शिक्षाविदों से चर्चा कर अपना प्रतिवेदन शिमला में तैयार किया । यह प्रतिवेदन 24 अगस्त, सन् 1949 को भारत के केंद्रीय शिक्षा मंत्री को प्रस्तुत किया गया ।

राधाकृष्णन समीक्षा मंडल ने अपने प्रतिवेदन में भारत में विश्वविद्यालयीय शिक्षा के इतिहास का पर्यवेक्षण करके भारत में वर्तमान परिस्थितियों में विश्वविद्यालयों की उच्च शिक्षा के उद्देश्य को निश्चित किया । उन्होंने लिखा है कि भारतीय संविधान में स्वातंत्र्य, एकता, वंधुत्व पर विशेष बल दिया गया है, अतः हमारी उच्च शिक्षा का भी यही उद्देश्य होना चाहिए । प्रजातंत्र की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि देश की सामान्य, औद्योगिक तथा प्राविधिक शिक्षा का स्तर बहुत ही ऊंचा हो । अतः हमारे समाज की औद्योगिक तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विद्या के प्रसार, नये ज्ञान, जीवन के मूल्य तथा अर्थ के लिए सतत प्रयत्न करना एवं औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा का उच्च स्तरीय ज्ञान प्राप्त करना हमारी उच्च विश्वविद्यालयीय शिक्षा के उद्देश्य होने चाहिए ।

इस तरह विश्वविद्यालयीय शिक्षा के उद्देश्यों की विवेचना के बाद इस प्रतिवेदन में विश्वविद्यालय शिक्षा की समस्याओं, जैसे शिक्षा का माध्यम, शिक्षकों की योग्यता, कार्य, वेतनमान तथा सेवा-शर्तें, आर्थिक समस्या, परीक्षा, पाठ्यक्रम, अलीगढ़, बनारस आदि विश्वविद्यालयों की विशेष समस्याएं,

अनुशासन, ट्यूटोरियल पद्धति तथा छात्रावास आदि का विस्तृत विवेचन है।

इन उपरोक्त समस्याओं के विशद विवेचन के वाद प्रतिवेदन में इनके हल के लिए सुझाव तथा सिफारिशें हैं। ये सुझाव तथा सिफारिशें संक्षेप में इस प्रकार हैं :

1. विश्वविद्यालयीय शिक्षक वर्ग :

(1) शिक्षकों का महत्त्व, उत्तरदायित्व तथा प्रतिष्ठा मान्य होनी चाहिए।

(2) विश्वविद्यालय जिनकी आर्थिक स्थिति शोचनीय है उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान की जाए।

(3) विश्वविद्यालयीय तथा महाविद्यालयीय शिक्षकों के चार-चार स्तर हों :

(i) प्रोफेसर (वेतनमान रु० 900 से 1300)
(ii) रीडर (रु० 600 से 900)
(iii) व्याख्याता (रु० 300 से 600) तथा
(iv) इंस्ट्रक्टर (रु० 250 से 500 तक)

तरक्की योग्यता के आधार पर ही हो। इनके लिए प्रोवीडेंट फंड, छुट्टी तथा कार्य के घण्टे निश्चित किए जाएं।

(4) प्रत्येक विश्वविद्यालय में कुछ रिसर्च फैलोज (वेतनमान रु० 250 से 500) तक हों।

(5) उपयुक्त शिक्षकों को ही नियुक्ति दी जाए। उनकी सेवा मुक्ति की आयु 60 वर्ष हो परंतु 64 वर्ष की आयु तक सेवा करने के लिए अवधि में वृद्धि की जा सकती है।

2. शिक्षण का स्तर

(1) विश्वविद्यालय में आजकल प्रचलित इंटरमीजिएट स्तर की परीक्षा पास अर्थात् 12 वर्ष शिक्षा प्राप्त विद्यार्थियों को ही भरती किया जाए।

(2) इसके लिए प्रत्येक प्रांत में वारहवीं कक्षा तक के इंटरमीजिएट विद्यालय खोले जाएं।

(3) 10 से 12 साल तक शिक्षा प्राप्त वालकों को विभिन्न व्यापारों तथा उद्योगों की ओर प्रेरित करने के लिए देश में अनेक औद्योगिक तथा व्यापारिक विद्यालय खोले जाएं।

(4) विश्वविद्यालयों द्वारा शिक्षकों के रिफ्रेशर कोर्स व्यवस्थित किए जाएं।

(5) शिक्षण विश्वविद्यालयों में भीड़ अधिक न होने देने के लिए 3000 तथा कालेज में 1500 से अधिक विद्यार्थी भर्ती न किए जाएं।

(6) लेक्चर अच्छे स्तर के व्यवस्थित हों तथा ट्यूटोरियल पद्धति तथा ग्रंथालयों का उपयोग पूरक के रूप में किया जाए।

(7) किसी भी कक्षा के लिए पुस्तकें निर्धारित न की जाएं।

(8) ट्यूटोरियल पद्धति को अपनाया जाए तथा प्रत्येक समूह में 6 से अधिक विद्यार्थी न हों। इस पद्धति का लाभ सभी छात्रों को मिले तथा इसका उपयोग छात्रों के मानसिक विकास के लिए किया जाए, न कि परीक्षा पास कराने के लिए। इस पद्धति से उत्तम कार्य के लिए शिक्षकों की संख्या बढ़ाई जाए।

पाठ्यक्रम

(1) विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में छात्र कला तथा फैकल्टी तथा औद्योगिक विद्यालयों में 12 वर्ष की पढ़ाई या वर्तमान इंटर परीक्षा पास करने के बाद ही भरती किए जाएं।

(2) किसी भी विषय की एम० ए० की उपाधि स्नातक के बाद आनर्स वालों को 1 वर्ष तथा साधारण स्नातकों को 2 वर्ष में प्रदान की जाए।

(3) विश्वविद्यालय तथा माध्यमिक विद्यालय, दोनों में सामान्य शिक्षा की व्यावहारिक तथा मौलिक शिक्षा प्रारंभ की जाए। इन्हें पाठ्यक्रम तथा पठन-सामग्री भी तैयार करनी चाहिए। व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों का अध्ययन होना चाहिए। सामान्य शिक्षा का साहित्य भी तैयार किया जाए जिससे बालकों को विभिन्न विषयों के संबंधों का ज्ञान हो सके।

(4) शीघ्र ही सामान्य शिक्षा को चालू किया जाए जिससे आज इंटर तथा स्नातक कक्षाओं में चल रहे संकुचित विशेषीकरण को रोका जा सके।

(5) छात्रों की व्यावसायिक तथा सामान्य रुचियों को दृष्टि में रखते हुए ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में विशेष तथा सामान्य शिक्षा के संबंधों को निश्चित किया जाए जिससे छात्रों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो सके, तथा उनमें योग्य बनने की क्षमता उत्पन्न हो।

स्नातकोत्तर प्रशिक्षण तथा नये शोध कार्य

(1) कला तथा विज्ञान के एम० ए० अथवा एम० एस-सी० के लिए एक से नियम हों तथा इनकी भरती अखिल देशीय स्तर पर हो। इनकी पढ़ाई

व्यवस्थित हो तथा गोष्ठियों एवं प्रयोगशालाओं का पूर्ण उपयोग किया जाए। शिक्षकों तथा शिष्यों का पारस्परिक संपर्क घनिष्ठ होना चाहिए।

(2) शोध प्रबंधों की पढ़ाई का समय दो वर्ष से कम नहीं होना चाहिए, साथ ही शोध प्रबंधों के विद्यार्थियों का दृष्टिकोण संकुचित विशेषीकरण का नहीं होना चाहिए।

(3) विश्वविद्यालयों को अधिक से अधिक विषयों में शोध की सुविधाएं देने का प्रयत्न करना चाहिए।

(4) प्रत्येक विश्वविद्यालय में शोध एवं अनुशीलन कार्यों के लिए कुछ फैलोज होने चाहिए। ये फैलोज केवल योग्यता के आधार पर ही चुने जाएं।

(5) साहित्य और विज्ञान में डाक्टरेट की उपाधियां उच्च कोटि की मौलिक तथा प्रकाशित कृतियों पर ही प्रदान की जानी चाहिए।

(6) विश्वविद्यालयीय शिक्षकों को समय पर काम करने, दक्षता तथा लगन आदि का ध्यान रखकर नये प्रयोग एवं ज्ञान को बढ़ाते रहना चाहिए।

(7) दर्शन, धर्म, इतिहास और ललित कलाओं में शोध कार्यों को बढ़ावा मिलना आवश्यक है।

(8) देश में विज्ञान के शिक्षकों तथा अन्य क्षेत्रों में वैज्ञानिकों की कमी है। अतः अधिक से अधिक वैज्ञानिकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी चाहिए। केंद्रीय शिक्षा विभाग को इन वैज्ञानिक विषयों के स्नातकोत्तर अध्ययन एवं डाक्टरेट के लिए छात्रवृत्तियां प्रदान करनी चाहिए। विश्वविद्यालयों में विज्ञान के शिक्षकों की संख्यावृद्धि करनी चाहिए। विज्ञान के क्षेत्र में नये शोध कार्यों के लिए विश्वविद्यालयों को आर्थिक सहायता देनी चाहिए। देश में जीव विज्ञान के शिक्षण की कमी है, अतः पांच समुद्रीय जीव विज्ञान केंद्र खोले जाएं। बायोकेमिस्ट्री, बायोफिजिक्स, जियो केमिस्ट्री, जियो फिजिक्स आदि की पढ़ाई के लिए सुविधाएं बढ़ाई जाएं।

प्राविधिक तथा व्यावसायिक शिक्षा

कृषि की शिक्षा राष्ट्र की मुख्य शिक्षा मानी जानी चाहिए और इसे प्रमुखता दी जानी चाहिए। अमेरिका आदि देशों में अपनाई जाने वाली खेतों की व्यवस्था को प्रयोग के लिए यहां भी अपनाया जाए। व्यावसायिक शिक्षा के लिए विद्यार्थियों को बड़े उद्योगों में भेजा जाना चाहिए। व्यावसायिक उन्नति के लिए स्नातकोत्तर शिक्षा को और भी अधिक व्यावहारिक होना चाहिए और थोड़े तथा केवल योग्य व्यक्तियों को ही यह शिक्षा दी जाए।

शिक्षा प्रशिक्षण के लिए उपयुक्त सुविधाएं होनी चाहिए । इन प्रशिक्षण केंद्रों में विश्वविद्यालयों के शिक्षण के अनुभवी योग्य शिक्षकों को रखा जाए । इस क्षेत्र में स्नातकोत्तर प्रशिक्षण के लिए तीन वर्ष तक विद्यालय में पढ़ाने का कार्य करने के बाद ही शिक्षकों को भेजना चाहिए ।

इंजीनियरिंग तथा प्राविधिक शिक्षा के लिए विद्यालय खोले जाएं तथा इनमें अनेक संबंधित विषयों की शिक्षा दी जाने की व्यवस्था हो । शैक्षणिक ज्ञान के साथ व्यावहारिक शिक्षा का भी ध्यान रखा जाए । इंजीनियरिंग, वैज्ञानिक तथा डिजाइन डेवलपमेंट तैयार करने के लिए उच्च प्राविधिक विद्यालय खोले जाएं ।

कानून का पाठ्यक्रम संशोधित किया जाए तथा इसकी शिक्षा के लिए 3 वर्ष की उत्तरकानून तथा सामान्य शिक्षा परीक्षा पास होना आवश्यक समझा जाए । इसके लिए 3 वर्ष का स्नातक कोर्स विशेष कानूनी विषयों के लिए सुझाया जाए । अंतिम वर्ष में व्यावहारिक ज्ञान दिया जाए ।

चिकित्सा शिक्षा के कालेजों में 100 से अधिक छात्र भरती न किए जाएं । डाक्टरी की स्नातकोत्तर शिक्षा के लिए सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा नर्सिंग की ओर विशेष ध्यान दिया जाए । आयुर्वेद को भी प्रोत्साहन दिया जाए तथा प्रथम वर्ष में भारतीय आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति का इतिहास पढ़ाया जाए ।

धार्मिक शिक्षा

सभी विद्यालयों को प्रतिदिन अपना कार्य कुछ मिनटों तक मौन ध्यानस्थ रहने के बाद प्रारंभ करना चाहिए ।

धार्मिक महात्माओं की जीवनियां, विश्व-बंधुत्व के कुछ चुने हुए प्रचारकों के विचार तथा धार्मिक दर्शन की कुछ समस्याएं क्रमशः प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय वर्षों में पढ़ाई जाएं ।

शिक्षा का माध्यम

(1) संघीय भाषा की वृद्धि तथा विकास अन्य भाषाओं के उपयोग में आने वाले शब्दों को मिलाकर किया जाए ।

(2) अंतर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक तथा प्राविधिक शब्दों का उपयोग किया जाए तथा भारतीय लिपि एवं भाषा के अनुसार उन्हें लिखा जाए ।

(3) शिक्षा का माध्यम अंगरेजी के स्थान पर जल्दी से जल्दी भारतीय भाषा हो, पर संस्कृत न हो ।

(4) उच्च माध्यमिक विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाले छात्रों

को मातृभाषा, संघीय भाषा तथा अंगरेजी आनी चाहिए। उच्च शिक्षा क्षेत्रीय भाषा में दी जाए पर संघीय भाषा में भी कुछ या सभी विषयों की शिक्षा देने की छूट रहे।

(5) संघीय भाषा के लिए देवनागरी लिपि कुछ सुधार करके अपनाई जाए।

(6) संघीय तथा क्षेत्रीय भाषाओं के विकास के लिए भाषाविदों तथा वैज्ञानिकों का मंडल बनाया जाए जो वैज्ञानिकों की शब्दावली तथा विभिन्न वैज्ञानिक विषयों की पुस्तकें तैयार कराए। इसके साथ राज्य सरकारों को उच्च कक्षाओं तथा विश्वविद्यालयों में संघीय भाषा पढ़ानी चाहिए।

(7) अंगरेजी माध्यमिक विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाए।

परीक्षा

(1) सरकारी शासकीय सेवाओं के लिए विश्वविद्यालयीय उपाधि आवश्यक समझी जाए। भारत के लिए एक विशेष राजकीय परीक्षा भी रखी जाए।

(2) कक्षा में कार्य पर भी अंक दिए जाएं। प्रत्येक विषय के एक तिहाई अंक विद्यालय में किए गए कार्य के लिए रखे जाएं।

(3) तीन वर्षीय उपाधि परीक्षाओं के पाठ्यक्रम के पूर्व-अंशों में समय-समय पर भी परीक्षा ली जा सकती है। परीक्षक योग्य होना चाहिए तथा उसका चुनाव सावधानी से किया जाना चाहिए। प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने के लिए 70 प्रतिशत, द्वितीय श्रेणी के लिए 55 से 69 प्रतिशत तथा तृतीय श्रेणी के लिए 40 प्रतिशत अंक प्राप्त करना आवश्यक समझा जाए। परीक्षा का स्तर सभी जगह एक सा होना चाहिए।

(4) मौखिक परीक्षा केवल स्नातकोत्तर तथा व्यावसायिक उपाधि की परीक्षाओं के लिए ही रखी जाए।

विद्यार्थी

भरती करने के समय कोई भेदभाव नहीं होना चाहिए। प्रथम उपाधि के समय तो विषयों की अधिक से अधिक विभिन्नता होनी चाहिए। आर्थिक सहायता चाहने वाले विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियां दी जानी चाहिए। विद्यार्थियों की भरती के समय तथा अन्य समयों पर डाक्टरी जांच अच्छी तरह की जाए। महाविद्यालयों में राष्ट्रीय छात्र सैनिक दल की इकाइयां रहें तथा इसका प्रबंध केंद्र करे। सामाजिक कार्य को प्रोत्साहन दिया जाए। विश्वविद्यालयों को छात्रावास

तथा सहकारिता की क्रियाओं की अच्छी व्यवस्था करनी चाहिए एवं इनका स्तर ऊंचा रहना चाहिए। विश्वविद्यालयों के छात्रों के संगठन राजनैतिक दलों से परे रहने चाहिए। छात्रों के अनुशासन तथा देखरेख के लिए एक डीन या प्रमुख अधिकारी होना चाहिए।

स्त्री-शिक्षा

स्त्री-शिक्षा में कोई कमी नहीं होनी चाहिए। महिलाओं को समाज में उपयुक्त स्थान दिलाने का प्रयत्न किया जाए। ऐसे नये महाविद्यालयों को खोला जाए जिनमें छात्र तथा छात्राएं साथ-साथ पढ़ें।

विधान तथा अधिकार

(1) अनुदान देने के लिए केंद्रीय अनुदान आयोग की स्थापना की जाए।
(2) केवल मान्यता देने वाले विश्वविद्यालय स्थापित न किए जाएं।
(3) विश्वविद्यालय के निम्न अधिकारी रहें :
 (i) विजिटर (गवर्नर जनरल, अब राष्ट्रपति)
 (ii) चांसलर या कुलपति (सामान्यतः प्रांत के राज्यपाल)
 (iii) वाइस चांसलर या उपकुलपति
 (iv) सीनेट, कार्यकारिणी समिति, फैकल्टी, वोर्ड आफ स्टडीज, अर्थ-समिति, चुनाव समिति।

अर्थ

(1) उच्च शिक्षा के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करने का उत्तरदायित्व राज्य के पास होना चाहिए।

(2) शिक्षा के लिए अधिक से अधिक आर्थिक सहयोग देने के लिए आयकर के नियम वदले जाएं।

(3) सरकार को अगले 5 वर्षों में 10 करोड़ रुपये की अतिरिक्त आय विश्वविद्यालय शिक्षा पर व्यय करनी चाहिए।

वनारस तथा अलीगढ़ विश्वविद्यालयों को क्रमशः हिंदू तथा मुसलमान विश्वविद्यालय पुकारा जाना बंद होना चाहिए। वनारस में डाक्टरी तथा अलीगढ़ में डाक्टरी तथा कृषि महाविद्यालय खोलने की संभावनाओं पर विचार किया जाए।

दिल्ली विश्वविद्यालय में कला, विज्ञान, व्यापार या अर्थ तथा कानून के स्नातकोत्तर स्तर के शिक्षण को केंद्रित किया जाए। केंद्र में होने के कारण

दिल्ली विश्वविद्यालय में भारत के हर भाग के छात्रों के लिए निश्चित संख्या में सुरक्षित स्थान रखे जाने चाहिए।

इन विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम संघीय भाषा होनी चाहिए। अगले 6 वर्षों में अंग्रेजी तथा संघीय, दोनों भाषाओं में शिक्षण होना चाहिए।

नये विश्वविद्यालय

इसी तरह अन्य विश्वविद्यालयों के संबंध में भी सुझाव दिए गए हैं :

(1) शांतिनिकेतन में विश्वभारती तथा दिल्ली में जामिया मिलिया को विश्वविद्यालय बनाने की अस्थायी अनुमति दे दी जाए। इनके लिए आर्थिक सहायता की व्यवस्था की जाए।

(2) नये विश्वविद्यालय बनाने में शिक्षण पद्धति के प्रयोग आदि की स्वतंत्रता का ध्यान रखा जाए।

(3) देश की शैक्षणिक आवश्यकताओं को देखते हुए ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में विश्वविद्यालय खोले जाएं।

(4) विश्वविद्यालयीय अनुदान आयोग विश्वविद्यालयों को योग्यता के आधार पर मान्यता देने वाली संस्था होनी चाहिए।

ग्रामीण उच्च शिक्षा तथा ग्रामीण संस्थान

भारत की तीन चौथाई जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में रहती है। इतने बड़े समाज को शहरों में विकसित माध्यमिक तथा विश्वविद्यालयीय शिक्षा से तभी काम मिल पाता है जब इसके बच्चे या व्यक्ति गांवों को त्यागकर शहरों में चले आते हैं। भारतीय ग्रामीण समाज में गरीबी तथा सांस्कृतिक अवसरों का अभाव बहुत अधिक विद्यमान है। अतः इस प्रकार के समाज के उत्थान हेतु ऐसी शिक्षा सुविधाओं का विकास करना आवश्यक है जो इस प्रकार के भारतीय जीवन को उत्तम स्तर, निपुणता तथा पैनी दृष्टि दे सकें और भारतीय शहर एवं गांव के जीवन की असमानता को दूर कर सकें। भारत के ग्राम-कल्याण हेतु ही यह आवश्यक नहीं है वरन् यह संपूर्ण भारत के भाग्य-निर्माण के लिए भी आवश्यक है। इसके लिए भारत में ग्रामीण विश्वविद्यालय तथा महाविद्यालय शिक्षा की आवश्यकता है। वर्तमान में शहरी विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में बहुत अधिक छात्र-छात्राएं भरती हो जाती हैं। अतः राधाकृष्णन विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने सुझाव दिया है कि इस भीड़ को कम करके ग्रामीण क्षेत्रों में छोटे-छोटे पूर्व-स्नातक स्तर के सावधिक महाविद्यालय स्थापित

किए जाएं जिनमें लगभग 200-300 छात्र-छात्राएं अध्ययन करें। इन पूर्व-स्नातक महाविद्यालयों के लिए सामान्य आधारभूत व्यावहारिक पाठ्यक्रम संगठित किया जाए। इन पूर्व-स्नातक महाविद्यालयों के प्रत्येक 2500 से 3000 छात्रों के लिए केंद्रीय विश्वविद्यालय विकसित किए जाएं जहां विशेषीकृत कोर्स व्यवस्थित रहें। पूर्व-स्नातक महाविद्यालय का उद्देश्य सामान्य शैक्षिक नींव विकसित करके व्यक्तिगत रुचियों एवं प्रवृत्तियों का विकास करना हो। कुछ महाविद्यालयों में व्यावसायिक या कुछ क्षेत्रों में विशेषीकृत कोर्स व्यवस्थित किए जा सकते हैं। पूर्व-स्नातक एवं स्नातकोत्तर शिक्षा में वहुत अधिक कड़ा वंधन और संवंध होना आवश्यक न हो जिससे छात्र कुछ विषयों में पूर्व-स्नातक शिक्षा ले सकें तथा अपनी रुचि के अन्य किसी क्षेत्र में स्नातकोत्तर शिक्षा भी ग्रहण कर सकें। इस प्रकार की व्यवस्था हेतु पूर्व-स्नातक तथा स्नातकोत्तर शिक्षा में पर्याप्त लोच रहे। ग्रामीण उच्च शिक्षा में व्यावहारिक पाठ्यक्रम अधिक हो जिससे छात्र सुसंस्कृत भी वनें तथा साथ ही साथ किसी क्षेत्र में कुशलता से प्रशिक्षित भी हो सकें। अधिकांश ग्रामीण शिक्षा महाविद्यालयों में व्यावसायिक शिक्षा ही व्यवस्थित होगी क्योंकि ग्रामीण छात्र शायद शिक्षा के वाद अपने काम में लगकर ही ऐसी उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहेंगे जो उनके व्यवसाय या कार्य को उन्नत वनाने तथा उनकी कार्यक्षमता की वृद्धि करे। इन ग्रामीण महाविद्यालयों में आधा समय अध्ययन तथा आधा समय व्यावहारिक कार्यों में व्यय किया जा सकता है। छात्रों द्वारा व्यावहारिक कर्म कराने की पर्याप्त सुविधाएं समाज तथा महाविद्यालय क्षेत्र में विकसित की जानी चाहिए। यूरोप तथा अमेरिका में अनेक संस्थानों तथा विश्वविद्यालयों ने शिक्षा और कार्य को इसी प्रकार संबंधित किया है। वहां महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों ने अपने स्वयं के कारखाने तथा आर्थिक गतिविधियां विकसित करके छात्रों को व्यावहारिक कार्य करने की सुविधाएं दी हैं। अनेक स्थानों में तो छात्रों को समाज में संगठित कारखानों या उद्योग प्रतिष्ठानों में कार्य हेतु भेजा जाता है। इस प्रकार मैंने अमेरिका में देखा कि छात्रों के वौद्धिक तथा व्यावहारिक शिक्षण का अत्यंत घनिष्ठ संवंध स्थापित किया गया है।

विश्वविद्यालय क्षेत्रों में व्यावहारिक या श्रमनिष्ठ कार्य को बौद्धिक कार्य या शिक्षा से कुछ हीन मानने की प्रवृत्ति है। राधाकृष्णन विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग का कथन है कि मस्तिष्क के कौशल से शरीर के कौशल को हीन मानने के कारण ही संसार के अनेक देशों में, विशेषत: भारत में, गरीबी है। हाथ के काम करने वाले को अपने कौशल के विकास के लिए समुचित शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए जिससे वह अपने कौशल का अधिकतम विकास कर सके।

ग्रामीण विश्वविद्यालय पाठ्यक्रम

ग्रामीण विश्वविद्यालय में सामान्य शिक्षा का आधार देने हेतु पाठ्यक्रम में गणित, विज्ञान के विभिन्न क्षेत्र, मनोविज्ञान, समाज विज्ञान के विभिन्न विषय, भाषा और साहित्य आदि विषयों का समावेश किया जाए। इसके साथ ही विशेषीकृत शिक्षा के लिए मानवीय रुचि के प्रत्येक क्षेत्र के विकास के लिए इन विश्वविद्यालयों में सुविधाएं विकसित करना उपयोगी होगा क्योंकि सांस्कृतिक मूल्यों को शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में विभक्त करना ठीक नहीं है। ये तो संपूर्ण मानवता के लिए ही स्थिर होते हैं। पाठ्यक्रम लचीला होना चाहिए। छात्र की सुविधा और विकास को दृष्टि में रखकर पाठ्यक्रम को व्यवस्थित और परिवर्तित किया जाना चाहिए। सामान्यतः कानून, यांत्रिकी, स्वास्थ्य व्यवसाय आदि के पाठ्यक्रम अलग-अलग व्यवस्थित किए जाते हैं, परंतु ग्रामीण विश्वविद्यालय में एक ऐसा भी पाठ्यक्रम हो सकता है जहां सार्वजनिक पानी नियंत्रण योजना की शिक्षा के लिए इन सभी क्षेत्रों की आवश्यक वातों को चुन लिया जाए और समुचित पाठ्यक्रम विकसित करके व्यक्ति को सार्वजनिक पानी नियंत्रण योजना में कार्य करने योग्य वना दिया जाए। इस प्रकार के अनेक उपयोगी तथा व्यावहारिक पाठ्यक्रम विकसित किए जा सकते हैं। भारतीय जीवन के लिए आवश्यक क्षेत्रों की खोज करके व्यावहारिक पाठ्यक्रम विकसित करना अधिक उपयोगी होगा। ग्रामीण शिक्षा के क्षेत्र में छात्र प्राथमिक, माध्यमिक आदि क्षेत्रों में प्रशासन हेतु शिक्षा ले सकता है। कृषि की दृष्टि से उत्पादन, उपज वेचना, पशुपालन, कृषि-सहकारिता में शिक्षा दी जा सकती है। कारखानों में रुचि रखने वाले छात्र डिजाइन, मशीन उन्नत करना या प्रक्रिया सुधार आदि पाठ्यक्रम ले सकते हैं। व्यवसाय व्यवस्था, संचालन, चीजों की विक्री तथा वाजार, शोध आदि विषय भी व्यवस्थित किए जा सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ग्रामीण विश्वविद्यालय तथा महाविद्यालय में छात्र को अपने वर्तमान समय के जीवन तथा स्थितियों से विलग करके शिक्षा नहीं दी जानी चाहिए। यदि छात्र शहरी जीवन पसंद करता है तो उसे वहां जाने की भी स्वतंत्रता रहे परंतु ग्रामीण शिक्षा उत्पादक, रुचिकर, अवसर से इतनी पूर्ण हो कि छात्र उसे चुने तथा अपने वातावरण की उन्नति करे। ग्रामीण विश्वविद्यालय तथा महाविद्यालयों में पानी नियंत्रण यांत्रिकी, भूमि सुधार यांत्रिकी, खाद्य नियंत्रण यांत्रिकी, तापमान नियंत्रण यांत्रिकी, ग्रामीण व्यावसायिक परामर्श, ग्रामीण सार्वजनिक प्रशासन, ग्रामीण समाज कल्याण, ग्रामीण भूमि तथा ग्राम नियोजन, ग्रामीण छात्र, ग्रामीण मेडिकल सेवा आदि विषयों की उच्च तथा विशेषीकृत शिक्षा देने की व्यवस्था करनी चाहिए।

ग्रामीण शिक्षा कक्षा-शिक्षण तक ही सीमित नहीं रहनी चाहिए। इसमें तो वल इस बात पर दिया जाए कि छात्र समाज और सार्वजनिक जीवन की महान् परंपराओं से अधिक से अधिक सीखें। केवल पुस्तकीय ज्ञान ग्रहण न करके छात्र जीवन में सहभागी बनकर सीखें।

ग्रामीण शिक्षा और शोध

केवल कुछ प्रयोगशालाओं तथा विश्वविद्यालयों में कार्यरत वैज्ञानिकों के सहारे संपूर्ण देश को संसार में हो रहे वैज्ञानिक और तकनीकी विकास का काम नहीं दिया जा सकता है। अतः यह आवश्यक है कि देश की संपूर्ण जनसंख्या तक विज्ञान के कामों को ग्रामीण शिक्षा के माध्यम से पहुंचाया जाए। स्वतंत्र विचार, निष्पक्ष विवेचना, सत्य के प्रति आकर्षण को प्रोत्साहन देना आवश्यक है। भारत में परंपरा पालन के आग्रह के कारण इसमें बाधा आती है। ग्रामीण उच्च शिक्षा के द्वारा व्यावहारिक शोध पर बल देकर देश में विकास की स्थितियों का विकास किया जा सकता है। संसार में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहां शोध सामान्य कार्यकर्त्ताओं ने की और संसार को उसका लाभ मिला। राइट बंधुओं ने हवाई जहाज की खोज अपनी साइकिल की दुकान में की। जेम्स वाट, रावर्ट ओवन, जार्ज स्टोफेन्सन आदि व्यक्तियों को न तो उत्तम शिक्षा प्राप्त थी और न उत्तम प्रयोगशालाएं, परंतु इन्होंने उद्योग के क्षेत्र में अनेक नवीन शोध किए। अतः ग्रामीण शिक्षा में स्वतंत्र खोज और शोध को प्रोत्साहित करना आवश्यक है।

ग्रामीण विश्वविद्यालय का प्रशासन

ग्रामीण विश्वविद्यालयों को शहरी विश्वविद्यालयों में प्रचलित खर्चीले प्रशासन तंत्र को न अपनाकर ऐसी सरल विधि अपनानी चाहिए जिसमें ग्रामीण जीवन से संबंधित व्यक्ति ही इसका प्रशासन करें। कुछ बाहरी व्यक्तियों को वस्तुगत निर्णय तथा आलोचना की दृष्टि से लेना भी उपयुक्त होगा। इस दृष्टि से राधाकृष्णन विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने सुझाव दिया है कि प्रत्येक प्रांत (अब राज्य) या प्रांत समूह में ग्रामीण शिक्षा परिषद् गठित की जाए। साथ ही साथ एक अखिल भारतीय ग्रामीण शिक्षा परिषद् भी विकसित की जाए। हिंदुस्तानी तालीमी संघ इस कार्य को कर सकता है। प्रत्येक ग्रामीण शिक्षा संस्थान पूर्ण स्वतंत्रता से कार्य करे तथा शिक्षा-स्तर को उच्च बनाए रखने के लिए स्तर मूल्यांकन की व्यवस्था समय-समय पर की जाए। ग्रामीण विश्वविद्यालय में कार्यकारिणी तथा एकेडेमिक परिषद् हो जो क्रमशः दैनिक

प्रशासनिक एवं पाठ्यक्रम, शिक्षण आदि कार्यों की व्यवस्था करे। इसमें कुल-पति तो हो परंतु कोर्ट, चांसलर आदि की आवश्यकता नहीं है।

शासन, ग्रामीण स्वास्थ्य सेवा, कृषि विस्तार सेवा, ग्रामीण उद्योग आदि संगठनों को ग्रामीण विश्वविद्यालय को आवश्यक सहयोग देना चाहिए। इन संगठनों तथा राज्य एवं केंद्र सरकारों के ग्राम विकास संबंधी कार्य यदि ग्रामीण विश्वविद्यालय तथा महाविद्यालय के माध्यम से किए जाएं तो व्यय में काफी बचत होगी तथा कार्यों में व्यर्थ की आवृत्ति भी न होगी। वास्तव में ग्रामीण विश्वविद्यालय को ग्रामीण सेवा का एक क्षेत्रीय केंद्र बनना चाहिए।

आयोग की सिफारिशों की समीक्षा

आयोग की अनेक सिफारिशें मौलिक तथा उपयोगी थीं। अधिकांश भारतीय जनता गांवों में निवास करती है। आयोग ने इसका ध्यान रखकर पाश्चात्य तथा भारतीय ग्राम्य संस्कृति के समन्वय के प्रयत्न किए हैं। आयोग ने शिक्षण पद्धतियों के उचित होने तथा उनमें सुधार करने की आवश्यकता को प्रतिपादित किया तथा ट्यूटोरियल विधि के उपयोग से शिक्षक-शिष्य संबंध तथा संपर्क बढ़ाने का सुझाव दिया है। वैज्ञानिक तथा व्यावसायिक शिक्षाओं पर भी इसमें उचित ध्यान दिया गया है। शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य मानव-कल्याण रहा है। इस दृष्टि से भारतीय शिक्षा में विश्व-कल्याण को प्रमुखता दी गई है तथा संसार के सामने एक आदर्श उपस्थित किया गया है। मानवीय शास्त्रों के अध्ययन से छात्रों में विश्वबंधुत्व की भावना के विकास के सुझाव को कल्याणकारी तथा उपयोगी ही समझा जाएगा। इसके साथ-साथ आयोग ने उच्च शिक्षा की अनेक समस्याओं का उचित और व्यावहारिक समाधान सुझाया है, जैसे शिक्षा के स्तर, धार्मिक शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा का अभाव, परीक्षा, पाठ्यक्रम, विश्वविद्यालय की आंतरिक व्यवस्था, शिक्षकों की दशा आदि। आयोग ने विश्वविद्यालयों में शोध तथा अनुसंधान कार्यों को आवश्यक बताया है। साथ-साथ राजनीति से पृथक् रहने का सुझाव भी दिया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा ग्रामीण विश्वविद्यालयों की स्थापना देश की आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों को देखते हुए बड़ी उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण है।

परंतु इतना सब होते हुए भी शिक्षा के माध्यम तथा स्त्री-शिक्षा पर कोई स्पष्ट तथा व्यावहारिक मत व्यक्त नहीं किया गया। ललित कलाओं के शिक्षण, यौन-शिक्षा, शासकीय महाविद्यालयों में शिक्षकों की समस्याओं आदि पर विचार या तो किया ही नहीं गया है या यदि किया भी गया है तो अत्यंत सूक्ष्म रूप से। फिर भी यह आयोग उच्च शिक्षा के इतिहास में अपने ढंग का निराला ही है

तथा इससे भारतीय उच्च शिक्षा को उपयोगी तथा कल्याणकारी मार्ग-दर्शन प्राप्त हुआ है।

केंद्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् (1950)

आयोग के वृहत् प्रतिवेदन पर विचार करने के लिए केंद्रीय शिक्षा परिषद् की वैठक 22, 23 अप्रैल सन् 1950 में हुई। इस वैठक में परिषद् ने अनेक सुझावों को मौलिक रूप दिया तथा कुछ को संशोधित करके मान लिया। वोर्ड ने स्नातकोत्तर शिक्षा, अनुसंधान, शिक्षा के माध्यम, शिक्षकों के वर्गीकरण, वेतनमान, परीक्षा, पाठ्यक्रम, नये विश्वविद्यालयों की स्थापना, गरीव प्रतिभासंपन्न छात्रों की सहायता आदि के संवंध में दिए गए सुझावों को मौलिक रूप प्रदान किया। व्यावसायिक शिक्षा में कृषि, व्यापार, चिकित्सा, इंजीनियरिंग तथा टेकनोलोजी, धार्मिक शिक्षा संवंधी सुझाव कुछ संशोधनों के पश्चात् मान लिये गए। विश्वविद्यालयीय शिक्षा को केंद्रीय सरकार की तालिका में रखने संवंधी सुझाव को नहीं माना गया।

विश्वविद्यालय विधेयक (1952)

सन् 1952 में गणतंत्रात्मक रीति से चुनावों के पश्चात् देश में विश्वविद्यालयीय शिक्षा स्तर तथा संगठन को ठीक करने की दृष्टि से एक विश्वविद्यालय विधेयक संसद् के सामने प्रस्तुत करना चाहा। इस विधेयक की जानकारी सर्वसाधारण को नहीं कराई गई, परंतु राज्य सरकारों तथा उपकुलपतियों के पास अवश्य भेजी गई थी। इस विधेयक में निम्नलिखित बातें थीं :

(1) केंद्रीय सरकार का विश्वविद्यालयों पर नियंत्रण आवश्यक हो। इसके लिए एक विश्वविद्यालयीय शिक्षा केंद्रीय परिषद् की स्थापना की जाए।

(2) इस परिषद् को विश्वविद्यालय की आंतरिक स्थिति में हस्तक्षेप करने का अधिकार होगा।

(3) यह परिषद् देश के सभी विश्वविद्यालयों की जांच करेगी।

(4) उच्च शिक्षा प्रदान करने वाली सभी शिक्षण संस्थाएं विश्वविद्यालय का रूप धारण करेंगी।

(5) इस परिषद् का संगठन केंद्रीय सरकार द्वारा होगा तथा इसके दो तिहाई सदस्य देश के विश्वविद्यालयों के उपकुलपति होंगे।

(6) विश्वविद्यालयीय उपाधि पाने के लिए सैद्धांतिक तथा प्रयोगात्मक परीक्षा पास करना आवश्यक होगा।

यह विधेयक अभी तक प्रकाशित नहीं किया गया है। इस विधेयक के

प्रशासनिक एवं पाठ्यक्रम, शिक्षण आदि कार्यों की व्यवस्था करे। इसमें कुल-पति तो हो परंतु कोर्ट, चांसलर आदि की आवश्यकता नहीं है।

शासन, ग्रामीण स्वास्थ्य सेवा, कृषि विस्तार सेवा, ग्रामीण उद्योग आदि संगठनों को ग्रामीण विश्वविद्यालय को आवश्यक सहयोग देना चाहिए। इन संगठनों तथा राज्य एवं केंद्र सरकारों के ग्राम विकास संबंधी कार्य यदि ग्रामीण विश्वविद्यालय तथा महाविद्यालय के माध्यम से किए जाएं तो व्यय में काफी बचत होगी तथा कार्यों में व्यर्थ की आवृत्ति भी न होगी। वास्तव में ग्रामीण विश्वविद्यालय को ग्रामीण सेवा का एक क्षेत्रीय केंद्र बनना चाहिए।

आयोग की सिफारिशों की समीक्षा

आयोग की अनेक सिफारिशें मौलिक तथा उपयोगी थीं। अधिकांश भारतीय जनता गांवों में निवास करती है। आयोग ने इसका ध्यान रखकर पाश्चात्य तथा भारतीय ग्राम्य संस्कृति के समन्वय के प्रयत्न किए हैं। आयोग ने शिक्षण पद्धतियों के उचित होने तथा उनमें सुधार करने की आवश्यकता को प्रतिपादित किया तथा ट्यूटोरियल विधि के उपयोग से शिक्षक-शिष्य संबंध तथा संपर्क बढ़ाने का सुझाव दिया है। वैज्ञानिक तथा व्यावसायिक शिक्षाओं पर भी इसमें उचित ध्यान दिया गया है। शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य मानव-कल्याण रहा है। इस दृष्टि से भारतीय शिक्षा में विश्व-कल्याण को प्रमुखता दी गई है तथा संसार के सामने एक आदर्श उपस्थित किया गया है। मानवीय शास्त्रों के अध्ययन से छात्रों में विश्वबंधुत्व की भावना के विकास के सुझाव को कल्याणकारी तथा उपयोगी ही समझा जाएगा। इसके साथ-साथ आयोग ने उच्च शिक्षा की अनेक समस्याओं का उचित और व्यावहारिक समाधान सुझाया है, जैसे शिक्षा के स्तर, धार्मिक शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा का अभाव, परीक्षा, पाठ्यक्रम, विश्वविद्यालय की आंतरिक व्यवस्था, शिक्षकों की दशा आदि। आयोग ने विश्वविद्यालयों में शोध तथा अनुसंधान कार्यों को आवश्यक बताया है। साथ-साथ राजनीति से पृथक् रहने का सुझाव भी दिया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा ग्रामीण विश्वविद्यालयों की स्थापना देश की आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों को देखते हुए बड़ी उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण है।

परंतु इतना सब होते हुए भी शिक्षा के माध्यम तथा स्त्री-शिक्षा पर कोई स्पष्ट तथा व्यावहारिक मत व्यक्त नहीं किया गया। ललित कलाओं के शिक्षण, यौन-शिक्षा, शासकीय महाविद्यालयों में शिक्षकों की समस्याओं आदि पर विचार या तो किया ही नहीं गया है या यदि किया भी गया है तो अत्यंत सूक्ष्म रूप से। फिर भी यह आयोग उच्च शिक्षा के इतिहास में अपने ढंग का निराला ही है

तथा इससे भारतीय उच्च शिक्षा को उपयोगी तथा कल्याणकारी मार्ग-दर्शन प्राप्त हुआ है।

केंद्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् (1950)

आयोग के वृहत् प्रतिवेदन पर विचार करने के लिए केंद्रीय शिक्षा परिषद् की वैठक 22, 23 अप्रैल सन् 1950 में हुई। इस वैठक में परिषद् ने अनेक सुझावों को मौलिक रूप दिया तथा कुछ को संशोधित करके मान लिया। बोर्ड ने स्नातकोत्तर शिक्षा, अनुसंधान, शिक्षा के माध्यम, शिक्षकों के वर्गीकरण, वेतनमान, परीक्षा, पाठ्यक्रम, नये विश्वविद्यालयों की स्थापना, गरीव प्रतिभासंपन्न छात्रों की सहायता आदि के संवंध में दिए गए सुझावों को मौलिक रूप प्रदान किया। व्यावसायिक शिक्षा में कृषि, व्यापार, चिकित्सा, इंजीनियरिंग तथा टेकनोलोजी, धार्मिक शिक्षा संवंधी सुझाव कुछ संशोधनों के पश्चात् मान लिये गए। विश्वविद्यालयीय शिक्षा को केंद्रीय सरकार की तालिका में रखने संवंधी सुझाव को नहीं माना गया।

विश्वविद्यालय विधेयक (1952)

सन् 1952 में गणतंत्रात्मक रीति से चुनावों के पश्चात् देश में विश्वविद्यालयीय शिक्षा स्तर तथा संगठन को ठीक करने की दृष्टि से एक विश्वविद्यालय विधेयक संसद् के सामने प्रस्तुत करना चाहा। इस विधेयक की जानकारी सर्वसाधारण को नहीं कराई गई, परंतु राज्य सरकारों तथा उपकुलपतियों के पास अवश्य भेजी गई थी। इस विधेयक में निम्नलिखित वातें थीं :

(1) केंद्रीय सरकार का विश्वविद्यालयों पर नियंत्रण आवश्यक हो। इसके लिए एक विश्वविद्यालयीय शिक्षा केंद्रीय परिषद् की स्थापना की जाए।

(2) इस परिषद् को विश्वविद्यालय की आंतरिक स्थिति में हस्तक्षेप करने का अधिकार होगा।

(3) यह परिषद् देश के सभी विश्वविद्यालयों की जांच करेगी।

(4) उच्च शिक्षा प्रदान करने वाली सभी शिक्षण संस्थाएं विश्वविद्यालय का रूप धारण करेंगी।

(5) इस परिषद् का संगठन केंद्रीय सरकार द्वारा होगा तथा इसके दो तिहाई सदस्य देश के विश्वविद्यालयों के उपकुलपति होंगे।

(6) विश्वविद्यालयीय उपाधि पाने के लिए सैद्धांतिक तथा प्रयोगात्मक परीक्षा पास करना आवश्यक होगा।

यह विधेयक अभी तक प्रकाशित नहीं किया गया है। इस विधेयक के

स्वीकार होने पर विश्वविद्यालय केंद्रीय शिक्षा परिषद् के हाथ की कठपुतली बन जाएंगे, जो उच्च शिक्षा के लिए उचित नहीं है। उच्च शिक्षा को स्वतंत्र तथा मुक्त होना चाहिए। इसके पारित होने पर विश्वविद्यालयों की स्वायत्त शासन प्रणाली भी समाप्त हो जाएगी परंतु साथ ही विश्वविद्यालयों में आजकल चल रही दलबंदी के कुचक्रों को इससे दूर अवश्य किया जा सकता है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग

विश्वविद्यालयों की आर्थिक स्थिति सुधारने तथा नियंत्रित करने के ध्येय से केंद्रीय सरकार द्वारा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की स्थापना सन् 1953 में की गई। इस आयोग के कार्य से प्रभावित होकर केंद्रीय सरकार ने इसे स्थायी तथा वैधानिक अधिकार दे दिए हैं। अब इसके सदस्यों की संख्या, जो पहले 4 थी, बढ़ाकर 9 कर दी गई है जिनका क्रम इस प्रकार है—2 केंद्र सरकार के प्रतिनिधि, 3 उपकुलपति तथा 4 प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री।

इस आयोग के निम्नलिखित कार्य होंगे :

(1) विश्वविद्यालय शिक्षा का समन्वय करके शिक्षा स्तर को उठाना।

(2) विश्वविद्यालयों की आर्थिक स्थिति की जांच करना तथा आवश्यकतानुसार आर्थिक सहायता देना।

(3) विभिन्न विश्वविद्यालयों में धनराशि वितरित करना।

(4) नवीन विश्वविद्यालयों की स्थापना तथा विश्वविद्यालयों की कठिनाइयों तथा समस्याओं का समाधान करना।

(5) केंद्रीय तथा राज्य सरकारों को विश्वविद्यालयों द्वारा प्रदान की गई उपाधियों का विभिन्न सेवाओं के लिए निर्धारण करने में परामर्श देना।

(6) उच्च शिक्षा के संबंध में केंद्रीय सरकार को आवश्यकतानुसार सलाह देना।

इस अनुदान आयोग ने विश्वविद्यालयों के शिक्षकों के वेतन सुधारने में बड़ी सहायता पहुंचाई है। इसके साथ-साथ प्रतिवर्ष उच्च शिक्षा में हो रहे विकास का श्रेय भी इसी को है।

पंचवर्षीय योजनाओं में उच्च शिक्षा

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में विश्वविद्यालयों तथा उनसे संलग्न महाविद्यालयों की आर्थिक स्थिति सुधारने और स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार उनका विस्तार तथा पोषण करने का ध्येय रखा गया था। प्रचलित रीति के अनुसार अनेक सरकारी सेवाओं के लिए विश्वविद्यालयों की उपाधियां आवश्यक

समझी जाती थीं। अतः प्रथम पंचवर्षीय योजना में यह सुझाव रखा गया कि सरकारी सेवाओं की नियुक्तियां स्वतंत्र प्रतियोगिता परीक्षाओं के आधार पर हों तथा इस परीक्षा में बैठने के लिए विश्वविद्यालयीय उपाधि आवश्यक न हो।

इस योजना में ग्रामीण विश्वविद्यालयीय योजना को सहमति दी गई तथा निश्चय किया गया कि कम से कम एक ग्रामीण विश्वविद्यालय अवश्य स्थापित किया जाए। यह विश्वविद्यालय उन्हीं क्षेत्रों में स्थापित किए जाएं जहां पूर्व बुनियादी, बुनियादी और उत्तर बुनियादी प्रयोग किए गए हैं।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में उच्च तथा विश्वविद्यालयीय शिक्षा को अधिक महत्त्व दिया गया है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में इसे संगठित करने के ही कार्य-क्रम रखे गए हैं परंतु द्वितीय योजना में इसके विकास के लिए 7 नये विश्व-विद्यालय स्थापित करने की व्यवस्था की गई। साथ ही साथ पाठ्यक्रम में सुधार, तीन-वर्षीय पाठ्यक्रम को प्रोत्साहन देने, पुस्तकालय तथा प्रयोगशालाओं को समृद्ध बनाने, भवन व्यवस्था, सेमीनार, संगोष्ठियों का आयोजन करने आदि की ओर भी ध्यान दिया था।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में प्रथम पंचवर्षीय योजना काल से उच्च शिक्षा पर चौगुनी राशि व्यय करने का प्रावधान किया गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में कुल शिक्षा व्यय का 8·8 प्रतिशत, अर्थात् लगभग 14 करोड़ रुपये ही व्यय किया जा सका। परंतु द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में कुल शिक्षा व्यय का 18·6 प्रतिशत व्यय किए जाने का प्रावधान था, जो लगभग 34·4 करोड़ रुपयों के लगभग था। उच्च शिक्षा के लिए स्वीकृत राशि का अधिकांश भाग प्राविधिक, व्यावसायिक एवं वैज्ञानिक शिक्षा पर ही व्यय किया जाना था। अनुसंधान पर भी समुचित व्यय की व्यवस्था द्वितीय योजना काल में की गई।

तृतीय पंचवर्षीय योजना के अंत तक विश्वविद्यालयों की संख्या लगभग 50 होने का प्रावधान रहा। तृतीय पंचवर्षीय योजना काल के प्रत्येक वर्ष में लगभग 70 से 80 महाविद्यालय खोले जाने की योजना थी। विश्वविद्यालय स्तर पर भी छात्र टेकनीकल एवं व्यावसायिक पाठ्यक्रमों की ओर प्रवृत्त करने का प्रयास किया गया। इसके अतिरिक्त रात्रि कक्षाएं, पत्राचार पाठ्यक्रम आदि भी व्यवस्थित किए गए। विज्ञान की शिक्षा हेतु योग्य छात्र-छात्राओं को अधिक छात्रवृत्तियों से लाभान्वित किया गया। इसके साथ ही महिला शिक्षा, ग्रामीण शिक्षा संस्थान, त्रिवर्षीय पाठ्यक्रम, शोध एवं स्नातकोत्तर शिक्षा के लिए भी प्रयास किए गए। तृतीय पंचवर्षीय योजना काल के अंत तक विश्वविद्यालयीय

स्तर पर छात्र-छात्राओं की दर्ज संख्या में लगभग 2 लाख की वृद्धि हुई। अतः यह अनुमान रहा कि चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के उपरांत लगभग 5–6 लाख अतिरिक्त छात्रों को प्रवेश मिल सकेगा। इस स्तर पर चतुर्थ पंचवर्षीय योजना काल में शिक्षा को पुनर्गठित करने हेतु निम्नलिखित निश्चय किए गए :

(1) कला एवं वाणिज्य के छात्रों की संख्या कम करना।

(2) शिक्षण स्तर को उच्च बनाना।

(3) पत्राचार पाठ्यक्रम की व्यवस्था करना।

(4) नवीन महाविद्यालयों को स्थापित न करना।

(5) विज्ञान, कृषि, तकनीकी तथा चिकित्सा शिक्षा की सुविधाओं की वृद्धि करना।

(6) स्नातकोत्तर शिक्षा एवं अनुसंधान की सुविधाओं की वृद्धि करना।

(7) निम्न स्तरीय महाविद्यालय खोलने को प्रोत्साहित न करना।

सन् 1964–66 के भारतीय शिक्षा आयोग ने भी उच्च शिक्षा की समस्याओं पर विचार किया। इस आयोग का प्रमुख सुझाव उच्च शिक्षा के विकास हेतु देश के कुछ विश्वविद्यालयों को चुनकर ,अंतर्राष्ट्रीय स्तर का बनाना है। साथ ही आयोग उच्च शिक्षा स्तर पर क्षेत्रीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने के पक्ष में है। स्नातकोत्तर स्तर पर शिक्षा का माध्यम अंगरेजी रह सकता है। आयोग का विचार है कि उच्च शिक्षा का विस्तार राष्ट्र की मानव शक्ति संबंधी आवश्यकताओं तथा रोजगार के अवसरों के अनुरूप होना चाहिए अतः 'चयनात्मक प्रवेश प्रणाली' को अपनाया जाना चाहिए। उच्च शिक्षा स्तर पर विज्ञान शोध, कृषि तथा उससे संबंधित विज्ञानों की शिक्षा को भी प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। भारतीय शिक्षा आयोग (सन् 1964–66) द्वारा दिए गए सुझावों अन्य सुझावों के साथ सम्मिलित कर दिया गया है। अतः यहां उनकी चर्चा नहीं की जा रही है।

विश्वविद्यालय की स्वतंत्रता

विश्वविद्यालय की स्वतंत्रता पर विचार करते समय विश्वविद्यालय तथा उसके आचार्यों की शिक्षण तथा अपनी शिक्षा एवं जीवन दर्शन संबंधी स्वतंत्रता पर भी विचार करना आवश्यक है। विश्वविद्यालय या महाविद्यालय के किसी भी आचार्य को किसी भी ऐसी चीज या विचार को पढ़ाने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है जिससे वह सहमत न हो। साथ ही साथ शिक्षकों या आचार्यों को अपने विचार स्वतंत्रता तथा निर्भीकता से व्यक्त करने के अधिकार भी होने चाहिए, यदि इनके ये विचार केवल विचारों का प्रोपेगेंडा या प्रचार

मात्र ही न हों। विश्वविद्यालय के शिक्षकों तथा आचार्यों को अपने अध्ययन एवं शोध कार्यों को प्रकाशित कराने एवं राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व की समस्याओं के संबंध में लेख लिखने या वाद-विवाद में भाग लेने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्वविद्यालय के आचार्यों या शिक्षकों को अपने कार्य को करने के लिए प्रत्येक प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए, चाहे उनके विचार विश्वविद्यालय के अधिकारियों या अन्य वरिष्ठ आचार्यों के विचारों के विरोध में ही क्यों न हों। विश्वविद्यालयों का यह कर्त्तव्य है कि वे देश में ऐसे बौद्धिक वातावरण का विकास करें जिसमें बौद्धिक क्षमता, कौशल एवं रचनात्मक आलोचना की समुचित वृद्धि हो। यह विश्वविद्यालय स्वतंत्रता के द्वारा ही विकसित हो सकता है।

कोठारी शिक्षा आयोग के अनुसार विश्वविद्यालयों की स्वतंत्रता के वास्तविक क्षेत्र निम्न हैं :

(1) प्रवेश हेतु छात्रों का चयन।

(2) आचार्यों की नियुक्ति एवं तरक्की।

(3) पाठ्यक्रम, शिक्षण विधियां, शोध हेतु समस्याओं आदि का चयन।

विश्वविद्यालय को सत्य के प्रति आग्रह अपनी सभी गतिविधियों में विकसित करना चाहिए। शिक्षा आयोग (1964–66) का विचार है कि यदि विश्वविद्यालय के कुछ आचार्य सत्य के प्रति इस आग्रह की प्राप्ति में संलग्न रहें तथा अन्य इसे प्राप्त कर लें तो विश्वविद्यालय का सम्मान समाज एवं शासन में बढ़ जाए और ये राष्ट्रीय जीवन में अपनी भूमिका का निर्वाह प्रभावी ढंग से कर सकेंगे। अतः यह आवश्यक है कि विश्वविद्यालय को शिक्षण, शोध तथा समाज सेवा हेतु पूर्ण स्वतंत्रता दी जाए और इसे राजनीति तथा रूढ़िवादिता से अलग ही रखा जाए।

शिक्षा आयोग (1964–66) का कथन है कि विश्वविद्यालय स्वतंत्रता के प्रश्न पर निम्न स्तरों पर, जहां यह कार्यशील रहती है, विचार करना चाहिए :

(1) विश्वविद्यालय की आंतरिक स्वतंत्रता अर्थात् विश्वविद्यालय के शिक्षकों, आचार्यों, छात्रों की स्वतंत्रता।

(2) एक विश्वविद्यालय की अन्य विश्वविद्यालय, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग या अंतर विश्वविद्यालय बोर्ड के संबंध में स्वतंत्रता।

(3) विश्वविद्यालय की केंद्र एवं राज्य सरकारों के संबंध में स्वतंत्रता।

इन विभिन्न स्तरों पर अपेक्षित विश्वविद्यालय स्वतंत्रता के संबंध में शिक्षा आयोग (1964–66) ने निम्न सुझाव दिए हैं :

(1) विश्वविद्यालयीय समितियों में बाहरी तत्त्वों का प्रतिनिधित्व समाज

के वृहत् हित को प्रस्तुत करने की दृष्टि से ही प्रमुख रूप में हो न कि, विश्व-विद्यालय पर हावी होने की दृष्टि से।

(2) विश्वविद्यालय को अपने विभागों को समुचित स्वतंत्रता प्रदान करनी चाहिए। विश्वविद्यालयीय प्रशासन में इस सिद्धांत को समुचित आदर दिया जाना चाहिए कि उत्तम विचार वहुधा निम्न स्तरों से प्रस्फुटित होते हैं। प्रत्येक विभाग में गठित होने वाली प्रवंधकारिणी समिति को समुचित प्रशासनिक एवं वित्तीय अधिकार दिए जाने चाहिए।

(3) महाविद्यालयों की स्वतंत्रता को उसी प्रकार आदर देना चाहिए जैसा कि विश्वविद्यालय अपने लिए चाहता है।

(4) विश्वविद्यालय के प्रत्येक विभाग तथा महाविद्यालय में आचार्यों एवं छात्रों की उपसमिति तथा विभागाध्यक्ष के सभापतित्व में एक केंद्रीय समिति गठित की जानी चाहिए जो उभय पक्षों की समस्याओं तथा कठिनाइयों पर विचार करे। एकेडेमिक कौंसिल तथा कोर्ट में छात्र प्रतिनिधि भी रहें।

(5) विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, उत्तर विश्वविद्यालय बोर्ड, सरकार तथा विश्वविद्यालयों में दर्ज संख्या, पाठ्यक्रम, व्यावहारिक शोध आदि समस्याओं पर विचार-विमर्श करने हेतु एक उपयुक्त मशीनरी विकसित की जानी चाहिए।

(6) विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, अंतर-विश्वविद्यालय बोर्ड तथा शिक्षित समाज को विश्वविद्यालय स्वतंत्रता विकसित करने हेतु वातावरण विकसित करना चाहिए।

(7) विश्वविद्यालयों को अपने बौद्धिक एवं समाज के उत्तरदायित्वों का समुचित निर्वाह करके स्वतंत्रता स्वयं अर्जित करने के प्रयास करते रहना चाहिए।

उच्च शिक्षा की समस्याएं

उच्च शिक्षा की अनेक समस्याओं में से निम्नलिखित मुख्य हैं :

(1) उद्देश्य रहित उच्च शिक्षा : वर्तमान युग में हमारे छात्रों के समक्ष उच्च शिक्षा प्राप्त करते समय कोई निश्चित उद्देश्य नहीं रहता है। उच्च शिक्षा के क्या उद्देश्य होने चाहिए इस पर मतैक्य नहीं है। अतः स्वाभाविक है कि जिस शिक्षा का निश्चित उद्देश्य नहीं होता है, उसकी शिक्षा-व्यवस्था कैसे उत्तम एवं ठीक हो सकती है। आज के युग में सभी विद्यार्थी प्रमाणपत्र या उपाधि प्राप्त करना चाहते हैं, यही उच्च शिक्षा का केवल उद्देश्य रह गया है। इसके लिए उन्हें कितने ही बुरे कार्य क्यों न करने पड़ें वे करते हैं।

परंतु जब उपाधि प्राप्त करने के बाद भी उनको ठीक प्रकार से नौकरी नहीं मिलती है तो उन्हें अत्यंत निराशा होती है। इसका परिणाम विद्यार्थियों, समाज एवं राष्ट्र के लिए बड़ा भयंकर सिद्ध होता है।

(2) **पाठ्यक्रम की समस्या :** उच्च शिक्षा का पाठ्यक्रम भी देश की आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं है। छात्रों की रुचियों, योग्यताओं के अनुसार पाठ्यक्रम में विषयों की व्यवस्था नहीं रहती है। अधिकांश महाविद्यालयों में पहले जैसे विषय चलते आ रहे हैं उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। परंतु स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् परिस्थितियां बहुत बदल गई हैं और उसी के अनुसार ही कालेजों में पाठ्यक्रम में परिवर्तन होना आवश्यक है।

(3) **शिक्षा माध्यम की समस्या :** उच्च शिक्षा के माध्यम के संबंध में भी बड़ा मतभेद है। यद्यपि अनेक शिक्षाशास्त्री मातृभाषा अथवा क्षेत्रीय भाषा को माध्यम के रूप में महत्त्व देते हैं परंतु अब भी अधिकांश महाविद्यालयों में अंगरेजी भाषा के माध्यम से ही शिक्षा दी जा रही है। इस माध्यम द्वारा शिक्षण को छात्र आसानी से ग्रहण करने में असमर्थ हैं तथा अपनी समस्याओं को शिक्षकों के सामने उपस्थित करने में असमर्थ होते हैं। रटने की प्रवृत्ति उनमें आ जाती है। छात्रों को परिश्रम भी अधिक करना पड़ता है। इस तरह से श्रम, शक्ति, समय आदि का अपव्यय होता है।

(4) **शिक्षण का निम्न स्तर :** हमारे विश्वविद्यालयों के शिक्षण का स्तर दिन-प्रतिदिन गिरता जा रहा है। यह अनेक कारणों से है। व्याख्याताओं की योग्यता की कमी के कारण भी शिक्षा का स्तर निम्न होता जा रहा है। दूसरे, महाविद्यालयों में अधिक छात्रसंख्या होने से एक ही शिक्षक को 60–70 छात्रों का अध्यापन करना पड़ता है जो कि एक कठिन कार्य है। महाविद्यालयों के शिक्षकों का वेतन अभी-अभी ही अच्छा किया गया है। अभी तक उन्हें बहुत कम वेतन मिलता था जिससे इस कार्य की ओर उत्तम योग्यता के व्यक्ति आकृष्ट नहीं होते थे। फलस्वरूप शिक्षण निम्न स्तरीय रहता है।

(5) **वित्त की समस्या :** उच्च शिक्षा के विकास के लिए पर्याप्त धन की व्यवस्था नहीं है। प्रयोग, शोध एवं पुस्तकालयों के लिए समुचित धन आवश्यक है।

(6) **अनुशासनहीनता की समस्या :** उच्च शिक्षा स्तर पर अनुशासनहीनता एक भयंकर समस्या है। छात्र दिन-प्रतिदिन अनुशासनहीन होते जा रहे हैं। प्रो० एन० के० सिद्धान्त ने उच्च शिक्षा स्तर पर निम्नलिखित अनुशासनहीनताओं की ओर संकेत किया है :

(1) धन संबंधी अनियमितता।

(2) साधारण दुर्व्यवहार।
(3) उच्छृङ्खल व्यवहार।
(4) चोरी और सेंधमारी।
(5) स्वाधिकारों का दुरुपयोग।
(6) परीक्षा में धूर्त्तता।

अनुशासनहीनता की समस्या ने शिक्षा कें सभी स्तरों को प्रभावित किया है और उसके भयंकर परिणाम समाज तथा राज्य को भुगतने पड़ रहे हैं। अनुशासनहीन छात्रों से राष्ट्र के संबंध में अच्छी आशा नहीं की जा सकती है।

(7) **शिक्षा निर्देश तथा परामर्श की समस्या :** उच्च शिक्षा स्तर पर छात्रों को उचित शैक्षणिक निर्देश तथा परामर्श प्राप्त करने की उचित व्यवस्था नहीं है। छात्र अपनी योग्यता से या अपनी इच्छा या माता-पिता के परामर्श से विषयों का चुनाव करते हैं जो कई बार बाद में उनकी योग्यताओं, आवश्यकताओं तथा क्षमताओं के अनुकूल नहीं होते हैं। इसका परिणाम बड़ा ही अनिष्टकारी होता है। उन्हें असफलताओं, निराशाओं का कदम-कदम पर सामना करना पड़ता है।

(8) **शोध कार्य की समुचित व्यवस्था की समस्या :** उच्च शिक्षा के स्तर को ऊंचा उठाने तथा देश के विकास के लिए अनुसंधान कार्य को प्रोत्साहन देना अत्यंत आवश्यक है। परंतु इस दिशा में प्रगति नाममात्र की है। अनुसंधान कार्य के लिए प्रयोगशालाओं, पुस्तकालयों, कर्मशालाओं की आवश्यकता पड़ती है; परंतु इनकी पर्याप्त व्यवस्था नहीं है। इससे छात्र तथा प्राध्यापकों को शोध कार्य के लिए अन्यत्र जाना पड़ता है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग शोध कार्य के लिए पर्याप्त मात्रा में भी अनुदान नहीं दे पा रहा है।

(9) **उच्च शिक्षा स्तर में विशिष्टीकरण की समस्या :** उच्च शिक्षा स्तर में हर एक विषय पर विशिष्टीकरण पर बल दिया जाता है। छात्र यदि कृषि के संबंध में शिक्षा प्राप्त करता है तो उसी में उसकी योग्यता अपूर्व होती है। परंतु अन्य क्षेत्रों में उसका ज्ञान अल्प रहता है जिससे उसके व्यक्तित्व का विकास समुचित रूप से नहीं हो पाता है। एक ही विषय में दक्षता प्राप्त कर लेने से वह जीवन में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता और न वह देश का योग्य नागरिक बन सकता है। इसके लिए अनेक क्षेत्रों में ज्ञान आवश्यक है। परंतु उच्च शिक्षा में यह एक बड़ी कमी है और इसकी कोई उचित व्यवस्था नहीं है।

(10) **छात्र समितियों के गठन की समस्या :** कालेजों तथा विद्यालयों में छात्र समितियों की समस्या एक प्रमुख समस्या है। इनके गठन की व्यवस्था तो

इसलिए की जाती है कि छात्रों में नेतृत्व, सामाजिकता आदि गुणों का समावेश हो सके तथा वे प्रजातंत्र के योग्य नागरिक बन सकें; छात्र अपने उत्तरदायित्वों को अच्छी तरह समझकर उनका उपयोग अच्छी तरह करना सीख लें। परंतु परिणाम उल्टा ही दिखलाई पड़ता है। छात्र समितियां अपने अधिकारों का बुरी तरह उपयोग कर रही हैं। वर्तमान समय में जगह-जगह हड़तालें, तोड़-फोड़ आदि कार्य इन समितियों द्वारा ही करवाए जा रहे हैं। अपने संगठन के वल पर वे शिक्षकों, प्रधानाध्यापकों की कोई वात नहीं सुनते। यदि अच्छी योजना भी कार्यान्वित करने का प्रयास किया जाता है और यदि वह इन समितियों के स्वार्थों के विपरीत होता है तो यह योजना वे अपने संगठन के वल पर क्रियान्वित नहीं होने देते हैं। छात्र समितियों के गठन में छात्र वहुत से अनैतिक कार्य भी कर डालते हैं। इस तरह से छात्र समितियां उच्च शिक्षा के रास्ते में भयंकर समस्या के रूप में उपस्थित हैं।

(11) परीक्षा प्रणाली की समस्या : उच्च शिक्षा की परीक्षा प्रणाली दोषों से युक्त है। परीक्षा पर अधिक वल दिया जाता है। जो ज्ञान छात्रों को दिया जाता है वह परीक्षा पास करने मात्र के उद्देश्य से दिया जाता है। उच्च शिक्षा का समुचित विकास न होने का प्रमुख कारण परीक्षा प्रणाली का दोष-पूर्ण होना है।

(12) उच्च शिक्षा स्तर पर विद्यार्थियों के प्रवेश की समस्या : उच्च शिक्षा संस्थाओं में छात्रों के प्रवेश की समस्या भी कठिन है। वैसे हमारे देश में लोकतंत्र को माना जाता है अतः अवसर की समानता के आधार पर प्रत्येक छात्र को उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है। परंतु उच्च शिक्षा हेतु सभी को प्रवेश देने से उच्च शिक्षा का स्तर भी गिर रहा है। इसलिए योग्य छात्रों को ही प्रवेश मिलना चाहिए। हमारी उच्च शिक्षा संस्थाओं में अयोग्य छात्रों को प्रवेश निषेध के लिए कोई निश्चित नियम नहीं है।

(13) उच्च शिक्षा संस्थाओं में समाज सेवा संबंधी कार्य की समस्या : हमारे विश्वविद्यालयों में छात्रों से समाज सेवा संबंधी कोई भी कार्य नहीं कर-वाया जाता है जो कि राष्ट्र के उत्थान के लिए अत्यंत आवश्यक है। भारत में तो इसकी और भी आवश्यकता है क्योंकि यहां पर पाश्चात्य देशों की अपेक्षा अज्ञानता और निरक्षरता काफी मात्रा में है। समाज सेवा कार्य द्वारा इस दिशा में काफी उन्नति हो सकती है।

(14) विश्वविद्यालय से महाविद्यालयों के संबद्धीकरण की समस्या : विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में पाठ्यक्रम समान होते हुए भी विश्व-विद्यालयों में शिक्षा सुविधा महाविद्यालयों की अपेक्षा अधिक तथा उत्तम स्तर

की होती है। अतः महाविद्यालयों का शिक्षण स्तर निम्न होता है। अनेक महाविद्यालयों में शिक्षण तथा अन्य दशाएं संतोषप्रद न होने पर भी उन्हें विश्वविद्यालयों से संवद्ध कर लिया जाता है। इससे उच्च शिक्षा में अनेक समस्याओं का जन्म होता है।

समस्याओं को दूर करने के उपाय

(1) उच्च शिक्षा के उद्देश्यों में परिवर्तन एवं सुधार होना चाहिए। राधाकृष्णन् आयोग ने उच्च शिक्षा के संवंध में जो उद्देश्य निरूपित किए हैं वे सराहनीय हैं, जैसे शिक्षा प्राप्त करने के साथ-साथ नेतृत्व के गुणों के विकास का भी समावेश हो। छात्रों का सर्वांगीण विकास होना चाहिए, छात्रों में वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना की जागृति होना, चरित्रवान् तथा अनुशासनयुक्त नागरिकों का निर्माण, एकता, वंधुत्व एवं स्वातंत्र्य पर विशेष वल देना आदि। इसके साथ-साथ हमारे समाज की औद्योगिक तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विद्या के प्रसार, नये ज्ञान, जीवन के मूल्य तथा अर्थ के लिए सतत प्रयत्न एवं औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा का उच्चस्तरीय ज्ञान हमारी उच्च तथा विश्वविद्यालयीय शिक्षा के उद्देश्य होने चाहिए।

(2) उच्च शिक्षा का पाठ्यक्रम छात्रों की योग्यताओं, क्षमताओं तथा आवश्यकताओं के अनुकूल होना चाहिए। पाठ्यक्रम ऐसा वनाया जाए जो राष्ट्र एवं समाज की परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित हो सके। पाठ्यक्रम में समाज सेवा संवंधी कार्यक्रम, कर्मशाला अभ्यास को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। अनुसंधान कार्य को प्राथमिकता मिलनी चाहिए। विभिन्नीकृत पाठ्यक्रम की व्यवस्था भी उच्चशिक्षा संस्थाओं में होनी चाहिए, जैसी कि माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम में मुदालियर आयोग ने सुझाई है।

(3) शिक्षा का माध्यम सुलझाने के लिए विश्वविद्यालयीय आयोग तथा भारतीय शिक्षा आयोग (1964–66) ने अंगरेजी को माध्यम के रूप में न रखने का सुझाव दिया है। उसके अनुसार शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषाओं को वनाया जाए। अतिरिक्त तथा नवीन ज्ञान के लिए अंगरेजी भाषा से संपर्क स्थापित किया जा सकता है। पर तर्कसंगत तो यह है कि शिक्षा का माध्यम संघीय भाषा को वनाया जाए। इसमें दो सुविधाएं मिलेंगी। एक तो देश के विभिन्न राज्यों के व्यक्तियों के मध्य संपर्क बना रहेगा; दूसरा, अखिल भारतीय सेवाओं की परीक्षा लेने आदि में आसानी रहेगी। स्नातकोत्तर स्तर तथा शोध हेतु अंगरेजी माध्यम रहे।

(4) शिक्षा के गिरते हुए स्तर को ऊंचा उठाने के लिए शिक्षा के कुछ

पहलुओं की ओर ध्यान देकर उनमें सुधार करना होगा, जैसे परीक्षा प्रणाली, परीक्षकों की नियुक्तियां, पाठ्यक्रम का निर्धारण, शिक्षण विधि में सुधार, पाठ्य-पुस्तकों का चयन आदि में सुधार करना आवश्यक है।

(5) उच्च शिक्षा की समुचित प्रगति के लिए पर्याप्त धन की व्यवस्था होना आवश्यक है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को अनुदान देने में वृद्धि करनी चाहिए। वर्तमान समय में वह जितना अनुदान विश्वविद्यालय को दे रहा है वह पर्याप्त नहीं है। कोठारी कमीशन ने सुझाव दिया है कि राज्य सरकारें विश्वविद्यालयों को अनुदान देने हेतु ब्लाक-ग्रान्ट की विधि को अपनाएं।

(6) उच्च शिक्षा स्तर पर अनुशासनहीनता की समस्या को हल करना आवश्यक है। इसके लिए निम्न सुझाव हैं :

(क) अनुशासनहीनता की समस्या को हल करने के लिए सबको सम्मिलित प्रयत्न करना पड़ेगा। यह कार्य केवल महाविद्यालय के द्वारा ही पूर्ण नहीं हो सकता है। इसके लिए अभिभावकों, समाज, सरकार, छात्रों तथा विद्यालय, सबको सहयोग देना पड़ेगा।

(ख) हमारी शिक्षा प्रणाली में जो दोष एवं कमियां हैं उनको दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

(ग) अनुशासनहीनता के कारणों का पता लगाकर उनका हल निकाला जाए।

(घ) अनुशासनहीन छात्र के पारिवारिक, सामाजिक एवं विद्यालयीय जीवन का संपूर्ण अध्ययन किया जाए, और यह पता लगाया जाए कि वह इस प्रकार के व्यवहार क्यों करता है, और फिर उसका हल निकाला जाए।

(ङ) प्रशासक तथा शिक्षक प्रभावात्मक तथा मुक्तात्मक अनुशासन द्वारा छात्रों में अनुशासन स्थापित करने की चेष्टा करें।

(च) विद्यालयों एवं कालेजों में पाठ्यगामी क्रियाओं को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

(छ) प्रत्येक विद्यालय एवं कालेज में छात्रों को उचित शैक्षणिक निर्देशन तथा परामर्श मिलना चाहिए। बालकों को विभिन्न व्यवसायों तथा उद्योगों की आवश्यकताओं, कार्यों, महत्त्वों आदि से परिचित कराने के लिए फिल्म प्रदर्शन, औद्योगिक स्थानों के भ्रमण आदि की व्यवस्था करनी चाहिए। कालेजों एवं विश्वविद्यालयों में शैक्षणिक तथा व्यावसायिक परामर्शदाताओं की नियुक्तियां की जाएं। उनके प्रशिक्षण की व्यवस्था भी प्रत्येक राज्य में की जाए।

(ज) अनुसंधान कार्य की प्रगति के लिए पुस्तकालय, प्रयोगशाला, छात्रवृत्तियां, अवकाश आदि सुविधाएं छात्रों को मिलनी चाहिए। विश्वविद्यालय

अनुदान आयोग भी पर्याप्त अनुदान देकर इस कार्य में सहायता कर सकता है।

(झ) शिक्षा में विशिष्टीकरण की समस्या हल करने के लिए यह आवश्यक है कि विशिष्ट शिक्षा तथा सामान्य शिक्षा में सामंजस्य स्थापित किया जाए। कला के सामान्य विषयों, जैसे सामाजिक अध्ययन, भाषा, सामान्य विज्ञान, कला आदि की चिकित्सा, इंजीनियरिंग, विज्ञान और वाणिज्य के साथ सामंजस्य स्थापित करके उचित शिक्षण व्यवस्था स्थापित की जाए।

(ञ) कोठारी कमीशन ने सुझाव दिया है कि अनुशासनहीनता को दूर करने के लिए छात्रों, शिक्षकों, अभिभावकों, समाज तथा राजनीतिक दलों सभी को मिलकर कार्य करना चाहिए। भारतीय शिक्षा आयोग (सन् 1964–66) का विचार है कि प्रत्येक विश्वविद्यालय यह निश्चय करे कि उनमें छात्र संघ का संचालन किस प्रकार होगा। छात्रों तथा शिक्षकों की संयुक्त समितियां गठित की जाएं जो छात्रों की वास्तविक कठिनाइयों का अध्ययन करें। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग देश के छात्र संघों के प्रतिनिधियों का वार्षिक सम्मेलन बुलाए।

(7) छात्र समितियों के उचित गठन के लिए उनका पंजीकरण होना अनिवार्य कर देना चाहिए। इससे छात्रों को यह आवश्यक हो जाएगा कि वे छात्र समितियों के निर्वाचन में नियमों का पालन करेंगे और उसमें होने वाले अपव्यय का लेखा-जोखा रखेंगे।

(8) उच्च शिक्षा स्तर की परीक्षा प्रणाली में परिवर्तन करना आवश्यक है। वस्तुनिष्ठ परीक्षाओं, परीक्षा पद्धतियों में वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग, सत्र के कार्य का मूल्यांकन आदि को प्रोत्साहित किया जा सकेगा।

(9) विश्वविद्यालय में छात्रों के प्रवेश के नियम निश्चित होने चाहिए। इसके लिए निम्नलिखित सुझाव उपयोगी सिद्ध होंगे :

(क) विश्वविद्यालय के पृथक्-पृथक् विभागों में प्रवेश पाने के नियम निश्चित कर देने चाहिए तथा इनका पालन कड़ाई से किया जाना चाहिए।

(ख) विश्वविद्यालयों में उन्हीं छात्रों को प्रवेश मिलना चाहिए जो इस शिक्षा के योग्य हों तथा रुचि रखते हों। भारतीय शिक्षा आयोग (सन् 1964–66) ने इस दृष्टि से चयनात्मक प्रवेश प्रणाली को अपनाने का सुझाव दिया है।

(ग) विश्वविद्यालय में ऐसे विषयों को अधिक प्रोत्साहित किया जाना चाहिए जिनमें अधिकांश विद्यार्थियों की रुचि हो तथा समाज विकास संभव हो।

(घ) व्यावसायिक विद्यालयों की रचना करनी चाहिए जिससे अधिकांश छात्र जो विश्वविद्यालयों में प्रवेश नहीं ले पाते वे इन व्यावसायिक विद्यालयों में प्रवेश पा लें। ऐसी स्थिति में छात्रों में असंतोष नहीं रहेगा।

(ङ) विश्वविद्यालयों में छात्रों का प्रवेश प्रधानाचार्यों, विभागाध्यक्षों, तथा शिक्षा अधिकारियों की राय के अनुसार होना चाहिए ।

(10) विश्वविद्यालय में समाज तथा प्रसार सेवा कार्य को प्रोत्साहन मिलना चाहिए । इसके लिए राज्य सरकारों तथा केंद्रीय सरकारों को विश्वविद्यालयों के लिए पर्याप्त धन की व्यवस्था करनी चाहिए । इन कार्यों को पाठ्यक्रम में महत्त्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए । जब तक कोई स्नातक छात्र समाज एवं प्रसार सेवा संबंधी कार्य न कर ले उसे विश्वविद्यालयों की शिक्षा का प्रमाण-पत्र नहीं देना चाहिए । प्राध्यापकों तथा शिक्षकों को इस कार्य में रुचि लेनी चाहिए जिससे छात्रों को उचित मार्ग-दर्शन मिल सके ।

कोठारी आयोग का विचार है कि छात्र-सेवाओं को केवल कल्याण गतिविधियों के रूप में व्यवस्थित न करके शिक्षा के अभिन्न अंग के रूप में विकसित किया जाए । छात्र-कल्याण सेवाओं के प्रशासन के लिए पूर्ण कालिक छात्र छात्र-अध्यक्ष रहे । प्रति 1 हजार छात्रों पर परामर्शदाता नियुक्त किया जाए ।

(11) भारतीय शिक्षा आयोग (सन् 1964–66 ने) सुझाव दिया है कि देश के कुछ चुने हुए विश्वविद्यालयों को अंतर्राष्ट्रीय स्तर का बनाना चाहिए । इन विश्वविद्यालयों में बहुत योग्य शिक्षक एवं छात्र रहें । इनमें पर्याप्त संख्या में छात्रवृत्तियों को उपलब्ध किया जाए । इन विश्वविद्यालयों का उपयोग अन्य विश्वविद्यालयों के लिए योग्य शिक्षक उपलब्ध कराने हेतु किया जाए । अन्य विश्वविद्यालय तथा महाविद्यालय इन प्रमुख विश्वविद्यालयों से अपने शिक्षकों को संलग्न रखें ।

(12) भारतीय शिक्षा आयोग ने उच्च शिक्षा की समस्याओं के हल हेतु निम्नलिखित सुझाव दिए हैं :

(क) प्रत्येक विश्वविद्यालय में एक सलाहकार समिति रहे जो विश्वविद्यालय के नियुक्तिकर्त्ता संगठन से घनिष्ठ रूप से संबंधित हो ।

(ख) महाविद्यालयों को उनके कार्यों के आधार पर श्रेणीबद्ध किया जाए ।

(ग) विश्वविद्यालय अनुदान आयोग मेधावी छात्रों एवं योग्य व्यक्तियों को फेलोशिप देकर शिक्षकीय कार्य करने की प्रेरणा दे ।

(घ) उच्चकोटि के विद्वानों को सेमीनार एवं शोध कार्य करने हेतु बुलाया जाए ।

(ङ) अन्य विश्वविद्यालयों में साधनों के केंद्रीकरण द्वारा चुने विभागों को उन्नत किया जाए जिससे ये कालांतर में चुने हुए विश्वविद्यालयों के स्तर के हो जाएं ।

(च) उच्च शिक्षा स्तर पर शिक्षण सुधार हेतु विधिवत् शिक्षण के घंटे कम करके स्वतंत्रता से अध्ययन, शिक्षकों द्वारा निर्देशन, समस्या हल आदि को प्रोत्साहित किया जाए। ग्रंथालयों को उत्तम स्तरीय बनाया जाए। स्टाफ की नियुक्तियां दीर्घ अवकाश काल में ही कर ली जाएं।

(छ) उच्च शिक्षा स्तर पर शिक्षण विधियों में प्रयोग तथा शोध कार्य विश्वविद्यालय अनुदान आयोग करे।

(ज) शिक्षण विश्वविद्यालयों में वाह्य परीक्षा का स्थान शिक्षकों द्वारा आंतरिक परीक्षण ले। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग केंद्रीय परीक्षा सुधार इकाई स्थापित करे।

(झ) अंतर विश्वविद्यालयीय कड़ियों को और पुष्ट बनाया जाए। 'अंतर विश्वविद्यालय परिषद्' के सदस्य सभी वैध तथा मान्य विश्वविद्यालय हों। इसे आर्थिक दृष्टि से दृढ़ बनाया जाए। संपूर्ण उच्च शिक्षा को एक इकाई के रूप में माना जाए। 'अंतर विश्वविद्यालय परिषद्' इसका प्रतिनिधित्व करे। इसमें 12 से 15 सदस्य हों तथा इस संस्था के एक तिहाई सदस्य सरकार के उच्च कर्मचारी हों।

(ञ) विश्वविद्यालय राज्य सरकार से विचार-विमर्श के उपरांत ही महाविद्यालयों को मान्यता दें। प्रचलित निरीक्षण विधि को और गतिशील एवं सबल बनाया जाए। संबद्ध विश्वविद्यालयों में संबद्धीय महाविद्यालयों की परिषद् हो जो विश्वविद्यालय को महाविद्यालयों से संबद्ध करने हेतु आवश्यक परामर्श दे।

(ट) किसी भी महाविद्यालय में 500 से 1000 तक ही छात्र-छात्राएं भरती की जाएं।

(ठ) कोई भी नवीन विश्वविद्यालय बिना विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की मंजूरी के न खोला जाए।

(ड) पत्राचार पाठ्यक्रम तथा सायंकालीन प्रशिक्षण की सुविधाएं वितरि की जानी आवश्यक हैं। सन् 1986 तक संपूर्ण छात्र संख्या के एक तिहाई के लिए अंशकालीन शिक्षा की व्यवस्था की जाए।

(ढ) उच्च शिक्षा स्तर पर स्त्रियों तथा पुरुषों का अनुपात 1:4 का हो। इस हेतु स्त्रियों को पर्याप्त छात्रवृत्तियां दी जाएं तथा छात्रावासों की व्यवस्था की जाए। स्थानीय मांगों के अनुसार अलग से महिला महाविद्यालय स्थापित किए जाएं। सभी प्रकार के विषय लेने की सुविधा हो। एक या दो विश्वविद्यालयों में महिलाओं की शिक्षा से संबंधित रिसर्च यूनिट स्थापित किए जाएं।

(ण) विश्वविद्यालयों को पर्याप्त स्वतंत्रता दी जाए। विश्वविद्यालयों की एकेडेमिक कौंसिल तथा कोर्ट में छात्र प्रतिनिधियों को स्थान दिया जाए। विश्वविद्यालय कोर्ट विश्वविद्यालय की नीतियों को बनाने वाला हो तथा इसमें 100 से अधिक सदस्य न हों। इसमें आधे सदस्य बाहर के हों। शिक्षा मंत्रालय तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग भारत में विश्वविद्यालयों के विधान में सुधार लाने के लिए कदम उठाएं।

(त) लगभग 20 से 25 प्रतिशत छात्रों के लिए छात्रावास सुविधाएं विकसित की जाएं। दिन में लगने वाले महाविद्यालयों तथा शिक्षण केंद्रों में सस्ते कैफेटेरिया संगठित किए जाएं।

5

भारत में औद्योगिक, व्यावसायिक तथा तकनीकी शिक्षा-विकास

भारतीय प्राचीन काल की शिक्षा धर्म से प्रधानतः संबंधित रही है परंतु औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था भी साथ-साथ थी। यही कारण है कि भारत औद्योगिक निपुणता तथा आर्थिक संपन्नता के लिए प्राचीन काल से प्रसिद्ध रहा है। प्राचीन भारत औद्योगिक उत्पादन से न केवल अपने देश वरन् अन्य दूर-दूर के देशों की आवश्यकताओं की भी पूर्ति करता रहा है। श्री नेहरू ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'भारत की खोज' में लिखा है कि ईसा पूर्व पांचवीं सदी में भारतीय व्यापारियों का एक उपनिवेश मिस्र के मेम्फिस नगर में विद्यमान था। सिकंदर के आक्रमण के वाद भारत का पश्चिमी देशों से व्यावसायिक संवंध अधिक रहा है। प्राचीन काल में रेशमी, ऊनी और महीन सूती कपड़े, अस्त्र-शस्त्र, सुगंधित पदार्थ, हाथी दांत, रत्न, सोना आदि भारतीय व्यवसाय की प्रसिद्ध वस्तुएं थीं। इसके साथ-साथ लकड़ी के सामान जैसे पलंग, कुर्सी, रथ, नाव, जहाज आदि तैयार किए जाते थे। मिट्टी के वरतन भी बहुत मजवूत तथा सुंदर वनते थे। श्री जे० एम० सेन ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि कारीगरों को प्राचीन काल में समुचित रूप से राज्याश्रय मिलता था। अशोक ने कुशल कारीगरों की सुरक्षा की कड़ी व्यवस्था की थी तथा नियम बनाए थे—अस्त्र-शस्त्र तथा जहाज बनाने वालों को राज्य की ओर से नियमित पारिश्रमिक मिलता था। बढ़ई, लोहार आदि व्यवसायियों के कार्यों के पर्यवेक्षण और निरीक्षण के लिए भी विशेष नियम निर्धारित थे। सूत्र काल में व्यावसायिक शिक्षा में विशेषीकरण की विधि प्रतिष्ठित हो चुकी थी।

राजकुमारों की शिक्षा में सैनिक शिक्षा, दंडनीति, राजनीति, वार्ता आदि विषयों की शिक्षा रहती थी। कौटिल्य ने भी इनका उल्लेख किया है। मनु ने भी सभी क्षत्रिय राजकुमारों की अस्त्र-शस्त्र की, वेद, राजनीति, दंडनीति आदि की शिक्षा को उपयोगी माना था परंतु सामान्य सैनिक के लिए राजनीति, दंडनीति

आदि आवश्यक न थे। क्षत्रियों के गुरु प्रायः ब्राह्मण ही होते थे। महाभारत में पांडवों तथा कौरवों के गुरु द्रोणाचार्य ही थे। मनु के अनुसार तो क्षत्रियों के लिए शिक्षण कार्य करना वर्जित ही था। श्री टाड ने लिखा है कि इस प्रथा का प्रभाव क्षत्रियों की शिक्षा पर अच्छा न पड़ता था।

सैनिक शिक्षा के छात्रों के लिए एक विशेष प्रकार की उपनयन संस्कार प्रथा प्रचलित थी तथा शिक्षा की समाप्ति 'कुरिका वंधन' संस्कार द्वारा होती थी। 'कुरिका वंधन' संस्कार की प्रथा 'खंग वंधाई' के नाम से राजपूताने में 19वीं सदी तक प्रचलित थी। श्री कर्नल टाड भी यह मानते हैं कि इस प्रथा के अनुसार राजपूत अस्त्र-शस्त्र ग्रहण करके सैनिक जीवन में प्रवेश करते थे। यह प्रथा मध्य यूरोपीय 'नाइट' वनने की प्रथा से साम्य रखती थी। क्षत्रियों की यह शिक्षा वहुत समय तक अपने उद्देश्य में सफल रही पर कालांतर में यह शिथिल तथा लीकवद्ध हो गई।

प्राचीन भारत में चिकित्सा की शिक्षा भी वहुत उन्नत अवस्था में थी। तक्षशिला प्राचीन काल से चिकित्सा शिक्षा का एक प्रसिद्ध केंद्र था। भारत में ईसा की पहली सदी के वाद चिकित्सा विद्या की वड़ी उन्नति हुई। चरक और सुश्रुत विश्व के चिकित्सा इतिहास में अपना विशिष्ट महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। चरक औषधि-शास्त्र तथा सुश्रुत शल्य चिकित्सा के लिए प्रसिद्ध हैं। 8वीं सदी में वगदाद के प्रसिद्ध खलीफा हारून-अल-रशीद ने अपने देश के सुयोग्य तरुणों को औषधि ज्ञान सीखने के लिए तक्षशिला भेजा था। श्री मजूमदार ने 'एजुकेशन इन एंसियंट इंडिया' में भी इसके संवंध में लिखा है तथा अनेक भारतीयों को उनके दरवार में निमंत्रित किए जाने का भी उल्लेख किया है।

पशु-चिकित्सा के लिए भी भारत प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध रहा है। श्री नेहरू ने 'विश्व इतिहास की झलक' में लिखा है कि ई० पूर्व चौथी तथा तीसरी सदी में भारत में पशु-चिकित्सा के लिए अनेक औषधालय खुले हुए थे। नकुल तथा सहदेव पशु-चिकित्सा-शास्त्र में दक्ष माने जाते थे। शालिहोत्र भारतीय पशु-चिकित्सा के जन्मदाता माने जाते हैं। जैन तथा बौद्ध धर्म के अहिंसा सिद्धांत ने पशु-चिकित्सा को वहुत प्रोत्साहन दिया। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में राजकीय सेना विभाग के गजों, अश्वों आदि की चिकित्सा के लिए पशु-चिकित्सा करने वालों की नियुक्ति का सुझाव दिया है।

चिकित्सा-शास्त्र का शिक्षा-प्रारंभ भी एक विशेष प्रकार के उपनयन संस्कार से होता था। इसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, दंभ आदि को त्यागकर शिक्षा लेने, सादगी से रहकर गुरु के आदेशों को मानने, अपने कर्तव्यों का पालन करने, शिक्षा प्राप्ति पर ब्राह्मण, गरीव, गुरु, मित्र आदि को विना मूल्य के औषधि देने

की प्रतिज्ञा लेनी पड़ती थी। इस प्रतिज्ञा के दो मूल उद्देश्य स्पष्ट दिखाई देते हैं :

(1) छात्र जीवन आदर्श रूप से व्यतीत हो, तथा

(2) जीवकल्याण, न कि धन कमाने की भावना रखना।

वैदिक शिक्षा के समान औषधि या आयुर्वेद की शिक्षा ब्राह्मणों के हाथ में न थी। क्षत्रिय तथा वैश्य शिक्षक अपने वर्णों के छात्रों को इसकी शिक्षा देते थे। राधाकुमुद मुकर्जी ने 'एनसिएंट इंडियन एजुकेशन' में लिखा है : 'आयुर्वेद की शिक्षा का द्वार सभी वर्णों के लिए खुला था।' इससे पता चलता है कि शूद्र भी आयुर्वेद की शिक्षा लेते थे।

आयुर्वेद शिक्षा की समाप्ति समावर्तन संस्कार के साथ होती थी। इसमें उन्हें अनेक उपदेश दिए जाते थे। इन उपदेशों से पता चलता है कि भारत के प्राचीन चिकित्सक अपने व्यवसाय के उत्तरदायित्व के पूर्ण निर्वाह का ध्यान रखते थे। इस प्रकार प्राचीन भारतीय व्यावसायिक शिक्षा में बुद्धि का विकास नैतिक विकास से संभव होता था। उस काल में व्यावसायिक निपुणता को तभी उपयोगी तथा उपादेय समझा जाता था जब कि उसमें आध्यात्मिकता तथा नैतिकता का समावेश हो।

प्राचीन भारत औद्योगिक दृष्टि से भी बड़ा समृद्ध था। प्राचीन भारत में औद्योगिक शिक्षा प्रमुख रूप से कुटुंब या परिवार में दी जाती थी। इस प्रकार प्राचीन भारतीय औद्योगिक शिक्षा का स्वरूप पारिवारिक तथा वंशगत था। प्रारंभ में तो केवल कुटुंब के बच्चों को ही यह शिक्षा दी जाती रही होगी, पर कालांतर में समाज के अन्य बच्चे भी इसमें शामिल होने लगे। औद्योगिक शिक्षा में शिक्षक तथा शिष्य का वैयक्तिक संबंध था, जो माता-पिता या गुरु-शिष्य के आदर्श के अनुरूप था। इसमें शिक्षक तथा शिष्य दोनों को कुछ प्रतिज्ञाएं लेनी पड़ती थीं। शिक्षक प्रधानतः उद्योग की शिक्षा समय में पूरी करने, संपूर्ण ज्ञान देने, स्वार्थ-सिद्धि न करने, उद्योग शिक्षा के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में न लगाने आदि की प्रतिज्ञा लेते थे। शिष्य भी उद्योग शिक्षा समय पर समाप्त करने, गुरु का बिना किसी कारण लोभवश त्याग न करने, निश्चित अवधि से पूर्व शिक्षा पूर्ण होने पर भी गुरु का त्याग न करने आदि की प्रतिज्ञा लेता था।

गुरु तथा शिष्य के पारस्परिक अच्छे संबंध तथा पास-पास रहकर शिक्षा की प्रक्रिया चलते रहने के कारण शिष्य गुरु के व्यक्तित्व तथा अनुभवों से प्रभावित होता रहता था। फलतः शिक्षा पर गुरु की कला की छाप पड़े बिना नहीं रहती थी। यहां बालक को केवल सैद्धांतिक ज्ञान की प्राप्ति ही नहीं होती थी वरन् वह उन सभी व्यावहारिक परिस्थितियों से भी परिचित हो जाता था जो

ग्राम के औद्योगिक कार्यालय या कारखाने से संबंधित होती थी। इससे उद्योगों तथा जीवन का संपूर्ण समन्वय होता था। आज की औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा में इसकी अत्यंत कमी है।

प्राचीन भारत में उद्योगों की व्यवस्था तथा विकास के लिए स्थानीय सहयोग समितियां (Guilds) भी थीं। ये उद्योग संबंधी सभी बातों पर नियंत्रण रखती थीं। ये समितियां 'श्रेणी' कहलाती थीं। प्रत्येक उद्योग के लिए अलग-अलग श्रेणी होती थी। श्रेणी के प्रबंध तथा अनुशासन में उद्योग की शिक्षा की व्यवस्था भी थी। यह शिक्षा उद्योग के कारीगर के घर पर ही दी जाती थी। श्रेणी की सदस्यता वंशगत होती थी। श्रेणी का अध्यक्ष 'श्रेष्ठी' कहलाता था तथा पुरोहित के बाद राजा की दृष्टि में श्रेष्ठी का ही स्थान आता था। श्री नेहरू ने 'द डिस्कवरी आफ इंडिया' में लिखा है कि 'कारीगरों की नियुक्ति कार्य की अवधि, श्रम का मूल्य या पारिश्रमिक का रूप, उत्पादन की वस्तु तथा परिणाम सभी बातें 'श्रेणी' के द्वारा ही निर्धारित होती थीं। श्रेणी का उल्लेख जातक तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है। अतः यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इनका इतिहास यहीं से आरंभ होता है। संभवतः ये और भी प्राचीन हों। इन श्रेणियों की सुव्यवस्था में भारतीय औद्योगिक शिक्षा भी संगठित तथा व्यवस्थित थी।

अनेक विद्वानों का विचार है कि प्राचीन भारतीय औद्योगिक तथा सांस्कृतिक शिक्षा में कोई संबंध नहीं होता था। वे एक दूसरे से भिन्न ही होती थीं। पर ऐसे भी प्रमाण मिले हैं कि प्राचीन भारतीय कलाकार सांस्कृतिक विषयों की जानकारी रखते थे। आठवीं तथा नवीं सदी की भारतीय औद्योगिक शिक्षा पूर्णतः व्यावसायिक ही हो गई थी क्योंकि इस काल में साक्षरता की कमी हो गई तथा औद्योगिक एवं व्यावसायिक शिक्षा हेय या निम्न समझी जाने लगी।

मध्यकाल में व्यावसायिक, औद्योगिक तथा यांत्रिक शिक्षा

मध्यकाल में भारतीय व्यावसायिक, औद्योगिक तथा यांत्रिक शिक्षा अपना वह आदर्श न बनाए रख सकी जो प्राचीन काल में था। इस काल में यह शिक्षा उपेक्षित सी रहने लगी। चिकित्सा-शास्त्र में शल्य-चिकित्सा का स्थान प्रायः रह ही नहीं गया था। अहिंसा के कारण भी शल्य-चिकित्सा अधार्मिक मानी जाने लगी थी। इसका परिणाम यह हुआ कि चिकित्सा-शास्त्र की शिक्षा निष्प्राण तथा एकांगी हो गई। हस्तकौशल की शिक्षा हेय मानी जाने लगी थी। मार्कोपोलो ने दक्षिण भारत के कपड़े की बुनाई के संबंध में लिखा है कि यह 'मकड़ी के जाले के समान सूक्ष्म होता है।' शाही महलों में यौवन को निखारने के लिए

अनेक प्रकार के जरी के तथा रेशम के कपड़े भारतीय कुशल कारीगर बनाया करते थे। पर ललित कलाओं आदि की शिक्षा राजा और बादशाहों की रुचि पर ही निर्भर करती थी तथा इनके मरने पर शिक्षा केंद्र प्राय: नष्ट हो जाते थे। अनेक बादशाह जैसे औरंगजेब आदि तो इनके प्रति उदासीन ही रहे। मध्यकाल में मुगल बादशाहों की शृंगारप्रियता के कारण शृंगार की वस्तुओं के बनाने में सहायक व्यवसाय ही अधिक प्रोत्साहित हुए। फलत: अन्य व्यवसायों की शिक्षा का ह्रास हुआ। यांत्रिक शिक्षा में युद्ध-सामग्री बनाने, सड़कें बनाने, इमारतें बनाने, पुल बनाने आदि की शिक्षा का महत्त्व रहा क्योंकि साम्राज्य को सुदृढ़ बनाए रखने तथा उसके विस्तार के लिए इनका ज्ञान आवश्यक था। चिकित्सा क्षेत्र में मुसलमानों के आने से यूनानी चिकित्सा को भी प्रोत्साहन मिला तथा उसकी शिक्षा व्यवस्था भी देश में हुई।

मध्यकाल में व्यावसायिक, औद्योगिक तथा यांत्रिक शिक्षा का स्वरूप प्राय: वैसा ही रहा जैसा कि प्राचीन काल में था।

अंगरेजी शासन काल में औद्योगिक, व्यावसायिक तथा यांत्रिक शिक्षा

अंगरेजी शासन काल में भारतीय प्राचीन कालीन, व्यावसायिक, औद्योगिक तथा यांत्रिक शिक्षा को नष्ट करके स्वार्थ-सिद्धि के लिए कंपनी ने अपने व्यापार को बढ़ाने का प्रयत्न किया। कंपनी ने कानून, चिकित्सा, कृषि तथा इंजीनियरिंग की शिक्षा को ही पाश्चात्य ढंग से देने के लिए विभिन्न संस्थाएं खोलीं। इसके संबंध में हम उच्च शिक्षा के अध्याय में विस्तार से चर्चा कर चुके हैं। पर औद्योगिक, प्राविधिक तथा वाणिज्य आदि की शिक्षा पर कंपनी ने कोई चर्चा नहीं की, न ही विशेष ध्यान ही दिया। भारत में मिशनरियों ने औद्योगिक शिक्षा के रूप में कुछ उद्योग स्कूलों में स्थापित किए जिनमें बढ़ई तथा लुहार के कामों की शिक्षा निम्न वर्ग के परिवर्तित पादरियों के द्वारा दी जाती थी। सबसे पहले औद्योगिक शिक्षा की ओर 'अकाल आयोग' (सन् 1877–78) ने ध्यान दिया फिर भी इस दिशा में कोई परिवर्तन या विशेष कार्य नहीं हुआ।

सन् 1882 का हंटर आयोग

सन् 1882 में हंटर आयोग ने विविधता वाले पाठ्यक्रम को अपनाकर माध्यमिक स्तर पर ही औद्योगिक तथा व्यापारिक पेशों के लिए बालकों को तैयार करने का सुझाव दिया। हंटर आयोग से यह प्रश्न विशेष रूप से पूछा गया था कि क्या माध्यमिक शिक्षा के बालकों का ध्यान विश्वविद्यालयीय

प्रवेश परीक्षा पर ही अधिक रहता है। इसका उत्तर आयोग ने दिया कि भारतीय विद्यालयों में यूरोप के विद्यालयों के समान नवीन शिक्षण विषयों का विकास नहीं हो सका है। अतः आयोग ने सुझाव दिया है कि शिक्षा विभाग को भारतीय व्यापार तथा उद्योग की आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखकर पाठ्यक्रम संगठित करना चाहिए।

लार्ड कर्जन

लार्ड कर्जन ने सामान्य शिक्षा के अतिरिक्त व्यावसायिक, कृषि तथा तकनीकी शिक्षा के संबंध में भी सुधार किए। लार्ड कर्जन ने प्राविधिक शिक्षा में प्रायोगिक तथा सरल विषयों को रखने का सुझाव दिया। कला-शिक्षा को उसने उद्योग-कला को प्रोत्साहन देने के योग्य बनाने के लिए उचित समझा। उसने प्राविधिक शिक्षा के लिए योग्य व्यक्तियों को इंग्लैंड तथा अमेरिका भेजने का सुझाव दिया।

लार्ड कर्जन के वाद भी औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा में 20–25 वर्षों तक कोई प्रगति नहीं हुई। सन् 1921–22 में इस प्रकार की शिक्षा देने वाली निम्न संस्थाएं थीं :

औद्योगिक संस्थाएं	संख्या	छात्र
1. शिक्षा संस्थाएं	12	519
2. कानून की शिक्षा संस्थाएं	13	5895
3. चिकित्सा की शिक्षा संस्थाएं	7	3863
4. वाणिज्य	5	479
5. इंजीनियरिंग	5	803
6. कृषि	2	326

उपर्युक्त आंकड़ों से पता चलता है कि देश में इस प्रकार की शिक्षा की वहुत ही कम प्रगति हुई थी।

सन् 1919 के माण्टफोर्ड सुधार

सन् 1919 में माण्टफोर्ड सुधार के अनुसार देश में द्विविध शासन का प्रारंभ हुआ था। अव तक भारतीय जनता कोरी किताबी शिक्षा के विरुद्ध आवाज उठाने लगी थी। स्वदेशी भावना का भी विकास हो रहा था। अतः सन् 1921 से सन् 1937 तक के समय में व्यावसायिक शिक्षा तथा औद्योगिक शिक्षा की अच्छी प्रगति हुई। कानून की शिक्षा के सन् 1937 तक 14

महाविद्यालय स्थापित हो चुके थे। चिकित्सा की शिक्षा का महत्त्व भी बढ़ने लगा था जो निम्नलिखित आंकड़ों से प्रदर्शित होता है :

	1901–2	1936–37
चिकित्सा स्कूल	22	30
चिकित्सा महाविद्यालय	4	—
चिकित्सा स्कूलों के छात्र	1466	6999

इसी प्रकार इंजीनियरिंग शिक्षा की प्रगति भी हुई, जो निम्नलिखित आंकड़ों से स्पष्ट है :

	1901–2	1936–37
इंजीनियरिंग महाविद्यालय	4	8
पढ़ने वाले छात्र	865	2199

कृषि प्रधान देश होते हुए भी देश में सन् 1937 तक केवल 6 कृषि महाविद्यालय स्थापित हुए।

पशु चिकित्सा के लिए भारत जैसे कृषि प्रधान देश में पशु-चिकित्सा-स्कूल खोले जाने की आवश्यकता है। सन् 1902 से सन् 1937 तक की अवधि में इसके लिए स्कूल खोले गए, पर वे केवल राजकीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु ही थे। इस अवधि में इन्हें उन्नत करने का विचार भी किया गया। पर इन्हें तोड़कर 5 पशु-चिकित्सा महाविद्यालय खोले गए। 1917–22 के बीच मुक्तेश्वर में 'इंपीरियल वेटेरिनरी रिसर्च इंस्टीट्यूट' तथा सन् 1930 में पटना में वेटेरिनरी कालेज स्नातकोत्तर शिक्षा व्यवस्था की दृष्टि से खोले गए।

वन विज्ञान शिक्षा के लिए देहरादून तथा कोयंबटूर में दो महाविद्यालय तथा एक रिसर्च इंस्टीट्यूट खोला गया।

प्राविधिक तथा औद्योगिक शिक्षा की मांग दिन पर दिन बढ़ती ही जाती थी। जनता ने केवल विदेशों में जाकर प्राविधिक शिक्षा पाने की नीति को अनुपयोगी बतलाया। फलस्वरूप देश में अनेक प्राविधिक संस्थाएं खोली गईं, हरकोर्ट बटलर टेकनालाजिकल इं० कानपुर 1921; इंपीरियल एग्रीकल्चरल इं०, दिल्ली 1926; विक्टोरिया जुवली टेकनीकल स्कूल, बंबई; जमशेदपुर टेकनीकल इं० टाटानगर; गवर्नमेंट स्कूल आफ टेकनालाजी, मद्रास आदि। सन् 1936–37 में प्राविधिक तथा औद्योगिक शिक्षा की संस्थाओं की कुल संख्या 535 थी तथा इनमें 30,509 छात्र पढ़ते थे।

सन् 1935 का शासन-विधान

इस शासन विधान के अनुसार देश के अधिकांश प्रांतों में जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों का शासन स्थापित हुआ। पर यह अनेक राजनीतिक कारणो से अधिक न चल सका, फिर भी द्वितीय महायुद्ध तथा जनता की जागृति के फलस्वरूप सन् 1947 तक औद्योगिक व्यावसायिक तथा प्राविधिक शिक्षा की काफी प्रगति हुई। इसी बीच सन् 1936–37 में भारत सरकार ने व्यावसायिक शिक्षा के पुनर्गठन के लिए इंग्लैंड से दो विशेषज्ञों श्री ए० ऐवाट तथा श्री एच० एस० वुड को बुलाया। इन विशेषज्ञों के पास समय कम था, अतः केवल उत्तरी भारत का दौरा करके इन्होंने अपने सुझाव निम्न प्रकार दिए :

(1) व्यावसायिक शिक्षा साहित्यिक शिक्षा से कम उपयोगी नहीं है। इसका मुख्य उद्देश्य शरीर, आत्मा तथा मस्तिष्क की संपूर्ण शक्तियों का विकास करना है।

(2) व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था प्रांत के विविध उद्योगों की आवश्यकताओं के आधार पर ही की जाए।

(3) सामान्य तथा व्यावसायिक शिक्षा एक दूसरे से अलग न समझी जाए। इन्हें शिक्षा का पूर्ववर्ती चरण ही माना जाए।

(4) साधारण तथा व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था एक ही विद्यालय में न की जाए, क्योंकि इनके उद्देश्य भिन्न-भिन्न होते हैं।

(5) छोटे उद्योगों में लगे कारीगरों को भी आवश्यक प्रशिक्षण दिया जाए।

(6) प्रत्येक प्रांत में एक व्यावसायिक शिक्षा सलाहकारिणी समिति संगठित की जाए। इस समिति में शिक्षा संचालक, उद्योग संचालक, चार या पांच व्यापारी तथा तीन या चार व्यावसायिक स्कूलों के प्रधान हों। इस समिति का कार्य शिक्षा और उद्योग में घनिष्ठ संबंध स्थापित करना है।

(7) व्यावसायिक शिक्षा के जूनियर तथा सीनियर स्कूलों को खोला जाए। जूनियर स्कूलों में आठवीं के बाद 3 साल की शिक्षा-व्यवस्था हो तथा सीनियर में ग्यारहवीं के बाद दो वर्ष के लिए छात्र लिये जाएं।

(8) भारत में कला-शिक्षा की व्यवस्था की जाए। वर्तमान कला-स्कूलों का क्षेत्र बढ़ाया जाए तथा आवश्यकतानुसार अन्य कला-स्कूल भी खोले जाएं।

(9) व्यावसायिक विद्यालयों तथा संस्थाओं की स्थापना यथासंभव व्यावसायिक क्षेत्रों में ही की जाए।

(10) अल्पकालिक व्यावसायिक प्रशिक्षण स्कूल भी खोले जाएं। इनमें दिन में ही शिक्षा दी जाए तथा सप्ताह में ढाई दिन इन स्कूलों में पढ़ने के लिए कर्मचारियों को छुट्टी दी जाए।

वुड ऐवाट रिपोर्ट के वाद भी भारतीय व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा की अधिक प्रगति न हुई। व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र में तो कोई विशेष प्रगति हो ही नहीं सकी।

चिकित्सा की शिक्षा के लिए आयुर्वेद तथा कानूनी पद्धतियों को कांग्रेस मंत्रिमंडलों की प्रेरणा से प्रोत्साहन मिला।

कृषि शिक्षा के लिए सन् 1937 से 47 तक की अवधि में 12 नई संस्थाएं खुलीं :

	1936–37	1946–47
कृषि महाविद्यालय	6	18
छात्रों की संख्या	1008	1551

पर देश की आवश्यकताओं को देखते हुए यह कुछ भी नहीं था।

सन् 1937 से सन् 1947 के वीच इंजीनियरिंग शिक्षा का प्रसार भी काफी हुआ जो कि निम्न आंकड़ों से स्पष्ट है :

	1936–37	1946–47
इंजीनियरिंग कालेज	8	17

1937 से 1947 तक की अवधि में प्राविधिक शिक्षा की काफी प्रगति हुई। इसके निम्नलिखित कारण थे :

(1) द्वितीय महायुद्ध के कारण अनेक नये-नये उद्योगों की स्थापना।

(2) युद्ध के बाद उद्योगों के विकास के लिए नई-नई योजनाओं का निर्माण।

सन् 1945 में भारत सरकार ने प्राविधिक शिक्षा के पुनंगठन के लिए एक अखिल भारतीय प्राविधिक शिक्षा समिति की स्थापना की। इस समिति की सिफारिशों पर एक योजना स्वीकार की गई जिसमें कि सरकार को अनावर्तक तथा आवर्तक अनुदान के रूप में काफी धन व्यय करने का प्रावधान था।

सन् 1945 में प्राविधिक शिक्षा के संबंध में सुझाव देने के लिए भारत सरकार ने श्री नलिनीरंजन सरकार की अध्यक्षता में एक 'उच्च टेकनालाजिकल शिक्षा समिति' की स्थापना की थी। इस सुमिति ने सन् 1946 में निम्नलिखित सुझाव दिए :

(1) देश में उच्च प्राविधिक शिक्षा की 4 संस्थाएं स्थापित की जाएं।

(2) इनमें से एक संस्था कलकत्ता, दूसरी बम्बई के पास, तीसरी उत्तर भारत में जल विद्युत् की शिक्षा के लिए तथा चौथी दक्षिण भारत में स्थापित की जाए।

भारत सरकार ने इन सुझावों को स्वीकार किया तथा स्वतंत्र भारत में इनके अनुसार कार्य किया जा रहा है।

6. सार्जेंट रिपोर्ट

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् भारतीय शिक्षा के पुनर्गठन के लिए केंद्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् ने एक योजना प्रस्तुत की। यह योजना सार्जेंट रिपोर्ट के नाम से विख्यात है। इसमें शिक्षा के सभी स्तरों के संबंध में विकास की योजनाओं को सम्मिलित किया है। इस रिपोर्ट में शायद प्रथम बार इतने विस्तार से देश में औद्योगिक तथा प्राविधिक शिक्षा के संबंध में विचार किया जाएगा। इसमें औद्योगिक प्राविधिक शिक्षा की चार श्रेणियां की गई हैं :

(1) प्रथम श्रेणी : उन व्यक्तियों को दी जाएगी जो देश के युद्धोत्तर निर्माण में अनुसंधान कार्य या प्रमुख प्रशासक के रूप में कार्य करेंगे। यह शिक्षा उच्चकोटि की होगी तथा चुने हुए योग्य लोगों को ही दी जाएगी। इस प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था व्यावसायिक, औद्योगिक तथा प्राविधिक महा-विद्यालयों में दी जाएगी।

(2) द्वितीय श्रेणी : यह शिक्षा विभिन्न उद्योगों तथा व्यवसायों के औद्यो-गिक अधिकारियों को दी जाएगी। इस प्रकार की शिक्षा प्राविधिक हाईस्कूलों की शिक्षा के बाद विशेषीकृत शिक्षा के रूप में महाविद्यालयों तथा पोलीटेक-निकल संस्थाओं में दी जाएगी।

(3) तीसरी श्रेणी : इस प्रकार की शिक्षा का उद्देश्य कुशल कारीगरों का निर्माण होगा। प्राविधिक हाईस्कूलों में इस प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था की जाएगी। सीनियर बेसिक स्कूलों या पूर्व माध्यमिक विद्यालयों के बालकों को जूनियर टेकनिकल स्कूलों या औद्योगिक स्कूलों में दो या तीन वर्ष तक अति-रिक्त शिक्षा देकर इस प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था की जा सकेगी।

(4) चौथी श्रेणी : इस शिक्षा का उद्देश्य अर्ध-कुशल कारीगर या सामान्य श्रमिक के योग्य शिक्षा देना होगा। बेसिक विद्यालयों की शिक्षा से इस प्रकार के अर्ध-कुशल श्रमिक तैयार हो सकेंगे।

इसके अतिरिक्त औद्योगिक सेवाओं में नियुक्त कारीगरों तथा श्रमिकों के लिए अंशकालिक प्रशिक्षण की व्यवस्था का सुझाव था।

सार्जेंट रिपोर्ट में सुझाव के रूप में युद्धोत्तर काल के औद्योगिक तथा व्यावसायिक विकास की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शिक्षा के हर स्तर पर औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था करने की सिफारिश की गई थी।

इसके लिए अखिल भारतीय टेकनिकल समिति के सुझावों को मान्य किया गया था। इस समिति के प्रमुख सुझाव इस प्रकार थे :

(1) शिक्षा के सभी स्तरों पर प्राविधिक तथा औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था की जाए।

(2) साहित्यिक शिक्षा से प्राविधिक तथा औद्योगिक शिक्षा निम्न न समझी जाए। यह शिक्षा का अभिन्न अंग समझी जाए।

(3) प्राविधिक शिक्षा के अंतर्गत उद्योगों से संबंधित व्यापारिक तथा कला की शिक्षा भी रहे। कृषि भी प्राविधिक या यांत्रिक शिक्षा का अभिन्न अंग रहे। देश के ग्रामीण क्षेत्रों में माध्यमिक तथा सीनियर बेसिक विद्यालय कृषि को आधार मानकर खोले जाएं। कृषि शिक्षा के लिए एक समिति गठित की जाए जो तत्संबंधी विस्तृत जांच करे।

(4) प्राविधिक तथा औद्योगिक शिक्षा के लिए निम्नलिखित विद्यालय तथा संस्थाएं खोली जाएं :

(क) जूनियर टेकनिकल या औद्योगिक या उद्योग या व्यवसाय विद्यालय

(ख) टेकनिकल हाई स्कूल

(ग) सीनियर तकनीकी संस्थाएं।

(घ) पोलीटेकनिकल संस्थाएं भी आवश्यकतानुसार खोली जाएं।

(च) प्राविधिक, औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षकों को संबंधित उद्योग या व्यवसाय का व्यावहारिक ज्ञान होना चाहिए।

(छ) ये संस्थाएं उद्योग क्षेत्र में ही खोली जाएं।

(ज) हाईस्कूल तक की प्राविधिक, व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा प्रांतीय सरकार की तथा उच्च शिक्षा केंद्रीय सरकार की जिम्मेदारी है।

(झ) इसके निरीक्षण तथा उचित निर्देशन के लिए अलग से निरीक्षक रखे जाएं।

सार्जेंट रिपोर्ट ने वुड तथा ऐवट प्रतिवेदन के पाठ्यक्रम तथा विस्तार संबंधी सभी सुझावों को उचित महत्त्व देने का सुझाव दिया।

सार्जेंट रिपोर्ट के अनुसार प्राविधिक तथा औद्योगिक शिक्षा का वार्षिक व्यय लगभग 10 करोड़ रुपया था।

स्वतंत्रता के बाद प्राविधिक औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा

सन् 1947 में देश पूर्ण स्वतंत्र हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश में विभिन्न उद्योगों तथा व्यवसायों के विकास की योजनाओं का निर्माण किया गया। संसार भर में इस क्षेत्र में विकास हो रहा था। अतः हमारे देश में भी

इस ओर विशेष ध्यान दिया गया। फलस्वरूप इस शिक्षा के विकास के लिए दो प्रकार के कार्य किए गए :

(1) शिक्षा प्राप्ति की सुविधाएं, तथा

(2) इस शिक्षा के प्रमुख विभागों के विशेषीकरण की शिक्षा का आयोजन।

उसी उद्देश्य से सन् 1945 में अखिल भारतीय टेकनिकल शिक्षा परिषद् का गठन हुआ। इसने 7 बोर्ड आफ इण्डस्ट्रीज तथा 4 क्षेत्रीय कमेटियां नियुक्त कीं। इसकी योजना को प्रथम पंचवर्षीय योजना में शामिल किया गया।

राधाकृष्णन-विश्वविद्यालय आयोग (1948–1949)

राधाकृष्णन आयोग ने व्यावसायिक तथा प्राविधिक शिक्षा की परिभाषा निर्धारित करते हुए कहा कि व्यावसायिक शिक्षा व्यक्तियों को अत्यंत परिश्रम पूर्ण तथा उत्तरदायी सेवा के लिए, व्यावसायिक भावना से तैयार करती है। व्यावसायिक शिक्षा शब्द का प्रयोग उन क्षेत्रों के लिए सीमित रहना चाहिए जिनमें समुचित जानकारी के साथ-साथ अनुशासित अंतर्दृष्टि तथा उच्चतर कुशलता अपेक्षित है। श्रम की तैयारियां रोजगारिक तथा शिल्पिक कही जा सकती हैं।

वर्तमान व्यावसायिक शिक्षा का दोष यह है कि यह व्यक्तियों को ज्ञान तथा कुशलता तो देती है पर उन्हें ऐसा दर्शन नहीं देती जिसके अनुसार वे अपने जीवन में उस कुशलता तथा ज्ञान का उपयोग करें। इससे सामाजिक हित नहीं होता। अतः यह आवश्यक है कि व्यावसायिक शिक्षा का आधार न केवल कुशलता हो वरन् सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना, सामाजिक तथा मानवीय मूल्य की परख तथा वस्तुस्थिति के प्रति निष्पक्ष दृष्टि हो।

व्यावसायिक शिक्षा के इन दायित्वों में आयोग ने कृषि-शिक्षा को राष्ट्रीय शिक्षा योजना का महत्त्वपूर्ण अंग माना तथा इसे शिक्षा के सभी स्तरों में महत्त्वपूर्ण स्थान देने का सुझाव दिया। कृषि के नये विद्यालय ग्रामीण विश्व-विद्यालय से संलग्न किए जाने चाहिए। केंद्र तथा राज्य सरकारें देश के सभी क्षेत्रों में पर्याप्त संख्या में कृषि प्र्योगशालाएं खोलें तथा प्रत्येक सीनियर वेसिक और ग्रामीण माध्यमिक विद्यालय 'कृषि फार्म' आयोजित करे। कृषि संबंधी शोधकार्य तथा स्नातकोत्तर शिक्षा का विस्तार किया जाए। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के साथ एक कृषि समिति संबद्ध की जाए जो कृषि की उन्नति के लिए धन की व्यवस्था संबंधी सुझाव दे।

व्यापारिक शिक्षा के संबंध में आयोग ने छात्रों को तीन-चार प्रकार की

व्यापारिक संस्थाओं में व्यावहारिक कार्य करने का सुझाव दिया। स्नातक स्तर की शिक्षा के बाद खास विषयों में विशेष अध्ययन की प्रेरणा दी जाए। यह अध्ययन पुस्तकीय कम हो। यह स्नातकोत्तर डिग्री थोड़े लोगों को ही दी जाए।

शिक्षा व्यवसाय के संबंध में आयोग ने पाठ्यक्रम बदलने, शिक्षा सिद्धांत के पाठ्यक्रम को लचीला बनाने, प्रशिक्षण संस्थाओं के प्रोफेसरों तथा व्याख्याताओं को अखिल भारतीय स्तर पर कार्य करने, स्कूलों में शिक्षण कार्य के अनुभवी शिक्षकों को प्रशिक्षण संस्थाओं में नियुक्त करने आदि के सुझाव दिए।

इंजीनियरिंग तथा टेकनालाजिकल शिक्षा के संबंध में आयोग ने सुझाया कि देश की इस प्रकार की संस्थाएं राष्ट्र की पूंजी समझी जाएं, इनकी संख्या बढ़ाई जाए, इनके अध्ययन के विषय बढ़ाएं जाएं तथा इनके व्यावहारिक अभ्यास का पूर्ण ध्यान रखा जाए। स्नातकोत्तर तथा अनुसंधान कार्य को प्रोत्साहित किया जाए, उच्चतर तकनीकी संस्थाएं शीघ्र ही स्थापित की जाएं, इंजीनियरिंग कालेजों पर मंत्रियों तथा सरकारी विभागों का प्रभुत्व न रहे।

चिकित्सा की शिक्षा के संबंध में आयोग ने सुझाया कि किसी एक चिकित्सा महाविद्यालय में 190 से अधिक छात्र भरती न किए जाएं। प्रत्येक छात्र के जिम्मे 10 मरीज से अधिक न हों, छात्रों को ग्रामीण केंद्रों में भी प्रशिक्षण दिया जाए। नर्सिंग तथा जन-स्वास्थ्य को अधिक महत्त्व दिया जाए तथा इनमें अनुसंधान की सुविधाएं प्रदान की जाएं। स्नातकोत्तर स्तर की शिक्षा केवल साधन संपन्न संस्थाएं ही दें।

माध्यमिक शिक्षा आयोग (मुदालियर आयोग) 1952–53

माध्यमिक शिक्षा आयोग ने अपने प्रतिवेदन में बतलाया है कि व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा के क्षेत्र में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई है। इस आयोग ने प्रगति का विकास न होने के निम्नलिखित कारण बतलाए हैं :

(1) अभी तक केंद्र तथा राज्य सरकारों ने औद्योगिक शिक्षा पर पूर्ण-रूपेण विस्तार से गंभीरतापूर्वक विचार नहीं किया है।

(2) व्यावसायिक शिक्षा के शिक्षकों के प्रशिक्षण के प्रयत्न ही नहीं किए गए हैं।

(3) शिक्षा विभाग को अभी तक अनुभवी, योग्य विशेषज्ञों से उचित सलाह नहीं मिली है जिससे इसके पाठ्यक्रम की योजना ठीक नहीं बन पाती है।

(4) सरकार के विभिन्न विभागों में ठीक संबंध नहीं है। कुछ संस्थाएं उद्योग संचालकों, कुछ श्रम संचालक तथा कुछ शिक्षा संचालक के पास हैं।

(5) अनेक उपयोगी योजनाएं धनाभाव के कारण पूर्ण नहीं हो पाती हैं।

व्यावसायिक संस्थाओं के प्रारंभ करने तथा योग्य और अनुभवी शिक्षकों पर अधिक धन व्यय होता है।

माध्यमिक शिक्षा आयोग ने व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा के संगठन तथा व्यवस्था के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए हैं :

(1) व्यावसायिक तथा औद्योगिक विद्यालय स्वतंत्र रूप से या बहु-उद्देशीय विद्यालयों के रूप में अधिक से अधिक खोले जाएं।

(2) बड़े शहरों में केंद्रीय व्यावसायिक संस्थाएं सभी स्तर के स्थानीय विद्यालयों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए खोले जाएं।

(3) जहां तक संभव हो औद्योगिक तथा व्यावसायिक विद्यालय औद्योगिक केंद्रों के पास ही खोले जाएं।

(4) अप्रेंटिसशिप प्रशिक्षण बड़ा महत्त्वपूर्ण है। अतः ऐसा कानून बनाया जाए, जिससे उद्योगों द्वारा छात्रों को व्यावसायिक अभ्यास की सुविधाएं दी जा सकें।

(5) सभी स्तरों की व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था तथा नियोजन के लिए व्यवसाय, व्यापार तथा उद्योगों से प्रतिनिधियों की सहायता अवश्य ली जाए।

(6) व्यावसायिक शिक्षा के विकास के लिए उद्योगों पर एक व्यावसायिक शिक्षा कर लगाया जाए।

(7) माध्यमिक स्तर पर व्यावसायिक शिक्षा के उचित विकास के लिए अखिल भारतीय तकनीकी शिक्षा परिषद् तथा उसके अंतर्गत काम करने वाली संस्थाओं की सहायता पाठ्यक्रम के संगठन के हेतु ली जाए।

पंचवर्षीय योजनाओं में तकनीकी शिक्षा

प्रथम पंचवर्षीय योजना में उद्योगों की विद्यालयों तथा जूनियर तकनीकी माध्यमिक विद्यालयों को पोलीटेकनिक विद्यालयों में उन्नत करना, नये हस्तकला तथा जूनियर बहु-उद्देशीय विद्यालयों की स्थापना, व्यावसायिक तथा यांत्रिक विद्यालयों को उन्नत करके उच्च व्यावसायिक तथा यांत्रिक विद्यालय बनाना, नये विद्यालयों के पाठ्यक्रमों में कृषि शिक्षण को महत्त्व देना तथा उच्च व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिए छात्रों को विदेश भेजना आदि कार्य निश्चित कर दिए गए थे।

उपरोक्त कार्यक्रम के अंतर्गत प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में इंजीनियरिंग तथा टेकनालाजी के विशिष्ट अध्ययन के लिए खड़गपुर (पश्चिमी बंगाल) में इंडियन इं० आफ टेकनालाजी की स्थापना की गई। बंगलौर की इंडियन इं० आफ साइंस संस्था पर, जो टाटा द्वारा स्थापित की गई थी, सरकार ने विकास

हेतु 177 लाख रुपया व्यय किया। वम्वई में भी टेकनालाजी की विशिष्ट शिक्षा की व्यवस्था की गई। दिल्ली में नगर तथा ग्राम पुर्ननिमाण के अंतर्गत 'स्कूल आफ टाउन एंड कंट्री प्लानिंग' स्थापित किया गया।

यांत्रिक तथा टेकनालाजिकल शिक्षा की प्रगति हेतु मानवी शक्ति समिति, वैज्ञानिक समिति तथा समुद्रपार छात्रवृत्ति समिति गठित की गई। इन कमेटियों द्वारा सन् 1954 तक यांत्रिक तथा इंजीनियरिंग की 1390 सीनियर तथा 878 जूनियर छात्रवृत्तियां अनुसंधान और विशिष्ट शिक्षा के लिए दी गईं। पाठ्य सामग्री तथा साज-सज्जा के लिए विभिन्न संस्थाओं को 2·5 करोड़ रुपयों का अनुदान दिया गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत यांत्रिक शिक्षा के विकास के लिए 1.44 करोड़ रुपये तथा छात्रावासों के निर्माण के लिए 98 लाख रुपये व्याज रहित ऋण के रूप में दिए गए।

मानव चिकित्सा शिक्षा, पशु चिकित्सा शिक्षा, सहायक चिकित्सकों के प्रशिक्षण, नर्सों के प्रशिक्षण आदि की सुविधाएं भी बढ़ाई गईं। 'अखिल भारतीय मेडिकल इंस्टीट्यूट' की स्थापना लगभग 6·1 करोड़ रुपयों की लागत से की गई। आयुर्वेद शिक्षा के 40 महाविद्यालय तथा देशी चिकित्सा के विकास के लिए 'सेंट्रल इं० आफ रिसर्च' की स्थापना की गई।

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन तथा प्रयोग में आने वाली सभी वस्तुओं को देश में ही वनाने के लक्ष्य की पूर्ति के लिए व्यावसायिक तथा यांत्रिक शिक्षा के प्रशिक्षार्थियों की संख्या तिगुनी कर दी गई।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में भी यांत्रिक तथा व्यावसायिक शिक्षा के विकास पर अधिक व्यय हुआ। इसके लिए 48 करोड़ रुपयों का प्रावधान है। इसका एक अंश प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में स्थापित संस्थाओं को पूर्ण बनाने तथा उच्च शिक्षा और अनुसंधान केंद्रों के विकास में व्यय होगा। दूसरा अंश देश में खड़गपुर की 'इंडियन इंस्टीट्यूट आफ टेकनालाजी' जैसी 3 संस्थाओं को स्थापित करने में, विभिन्न भागों में डिग्री तथा डिप्लोमा संस्थाएं स्थापित करने, छात्रावास वनाने तथा छात्रवृत्तियों की संख्या वढ़ाने तथा वढ़ाकर 800 करने में व्यय किया जाएगा। दिल्ली के पोलीटेकनिक को और अधिक विकसित किया जाएगा। देश की लोहा, इस्पात, श्रम इत्यादि उत्पादनों संवंधी योजनाओं में यांत्रिक प्रशिक्षण हेतु व्यवस्था का प्रावधान है। इसके लिए स्नातक-परीक्षार्थियों की संख्या तिगुनी कर दी जाएगी, अर्थात् क्रमशः 5700 तथा 6200 अतिरिक्त छात्र प्रशिक्षित होंगे। द्वितीय योजनाकाल में विभिन्न स्तर के

प्रशिक्षार्थियों की संख्या का लक्ष्य इस प्रकार है :

	छात्र
1. शोधकार्य तथा स्नातकोत्तर	570
2. स्नातक पाठ्यक्रम	7550
3. जूनियर प्राविधिक या यांत्रिक	5400
4. डिप्लोमा	11,300

द्वितीय योजना में शिक्षक-प्रशिक्षण पर 17 करोड़ रुपयों के व्यय का प्रावधान था। इस योजना काल में 30 शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय एवं 213 प्रशिक्षण विद्यालय स्थापित किए जाएंगे। वुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालयों की संख्या 71 तथा वुनियादी प्रशिक्षण विद्यालयों की संख्या 729 कर दी जाएगी। वुनियादी शिक्षा में आवश्यक शोध-कार्य के लिए 'नेशनल इं० आफ वेसिक एजूकेशन' स्थापित किया जाएगा।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में सभी स्तरों पर प्रशिक्षित व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि, तकनीकी प्रवृत्ति अच्छे शिक्षकों की उपलब्धि, छात्रवृत्तियों का प्रावधान, अल्पकालीन तथा पत्राचार पाठ्यक्रम की व्यवस्था, विशेष योजना हेतु पाठ्यक्रम की व्यवस्था, शोधकर्ता को प्रोत्साहन, अपव्यय को कम करना आदि योजनाओं में तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा के विकास हेतु रखी गई है। इस योजना काल में तकनीकी मानव शक्ति की वृद्धि तथा वैज्ञानिक अनुसंधान के विकास पर विशेष वल दिया गया।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा के स्तर को उच्च वनाने, अनुसंधान विकसित करने तथा देश की मानव शक्ति को आवश्यकताओं के अनुरूप विकसित करने की ओर अधिक ध्यान दिया गया।

तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा की समस्याएं

किसी भी देश की आर्थिक प्रगति का आधार औद्योगिक विकास है। वर्तमान भारत में तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा संवंधी निम्नलिखित समस्याएं हैं जिनका समाधान किए विना आर्थिक उन्नति कठिन है :

(1) **तकनीकी एवं व्यावसायिक श्रम शक्ति की आवश्यकता :** विकसित देशों में आर्थिक सुख समृद्धि का एकमात्र कारण इन देशवासियों की शारीरिक एवं मानसिक श्रम में अटूट एवं अपार श्रद्धा है। किंतु हम देखते हैं कि अभी भी अधिकांश भारतवासियों का श्रम के प्रति उचित दृष्टिकोण नहीं है। आज भी ये यही सोचते हैं कि विना हाथ और कपड़े काले किए दो पैसे कमाना अपेक्षाकृत अधिक सम्माननीय है। दूसरी ओर तकनीकी शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों को यथा-

योग्य अवसर प्राप्त नहीं होता है। अभियंत्रण पाठ्यक्रमों में तकनीकी श्रम शक्ति का अभाव होने के कारण ही धन का अपव्यय हो रहा है तथा कोई भी विकास योजना प्रारंभ होने नहीं पाती।

(2) तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा संस्थाओं का अभाव : भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत जितनी भी तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षण संस्थाएं खोली गई हैं उनकी संख्या निरंतर बढ़ती हुई जनसंख्या को देखते हुए अत्यंत कम है। इसलिए आज जो बालक अपने व्यावसायिक तथा तकनीकी प्रशिक्षण में रुचि होने के कारण संस्थाओं में प्रवेश करना चाहते हैं उन्हें प्रवेश नहीं मिल पाता है। स्थानाभाव के कारण ही इन संस्थाओं में प्रवेशार्थियों को प्रवेश करने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अतः ऐसी स्थिति में तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा की उत्तरोत्तर वृद्धि की आशा किस प्रकार की जा सकती है ?

(3) संकुचित पाठ्यक्रम : वर्तमान तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षण संस्थाओं में प्रचलित पाठ्यक्रम स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकने की क्षमता नहीं रखते हैं। जैसे कि कृषि प्रधान केंद्रों में कृषि तकनीक का कोई विषय न होना, औद्योगिक केंद्रों में उत्पादन कला का कोई विषय न होना, आदि। व्यावसायिक शिक्षा से उदार शिक्षा का कोई समन्वय नहीं किया जाता है। अतः यह एकांगी ही होती है। यही कारण है कि वर्तमान तकनीकी शिक्षा संस्थाओं से निकलने वाले व्यक्तियों में अच्छे नागरिक के सामान्य गुणों का अभाव पाया जाता है।

(4) बहु-उद्देश्यशीलता एवं बहुचयनता का अभाव : वर्तमान तकनीकी शिक्षा संस्थाओं में छात्रों को अपनी रुचि के तकनीकी विषयों को चुनने तथा पढ़ने की सुविधाएं नहीं हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वे पढ़े गए तकनीकी विषयों में समुचित योग्यताओं को विकसित नहीं कर पाते। तकनीकी शिक्षा प्राप्त अनेक व्यक्तियों की आवश्यकताओं का यह प्रमुख कारण है।

(5) स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति की क्षमता न होना : तकनीकी एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम में स्थानीय आवश्यकताओं के अनुकूल प्रशिक्षण को स्थान न मिलने के परिणामस्वरूप इस प्रकार की शिक्षा अनुपयोगी प्रतीत होने लगती है।

(6) तकनीकी शिक्षण संस्थाओं में उत्पादन पर समुचित ध्यान न देना : तकनीकी कार्य विद्यालयों में कार्य करते समय प्रत्येक प्रशिक्षणार्थियों की उत्पादन क्षमता पर समुचित ध्यान नहीं दिया जाता है। परिणामस्वरूप केवल सैद्धांतिक ज्ञान अर्जित करने के कारण प्रशिक्षणार्थी यह नहीं समझ पाता है

कि सीखे हुए सिद्धांत को व्यावहारिक रूप किस प्रकार दिया जा सकता है।

(7) **शिक्षा का अनुपयुक्त माध्यम :** सभी तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा संस्थाओं में अभी भी शिक्षण का माध्यम अंगरेजी है। मैट्रिक या इंटर तक हिंदी माध्यम से अध्ययन करने वाले छात्र को भी इसी स्तर पर आकर अंगरेजी माध्यम से अध्ययन करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इस स्थिति में विद्यार्थी परीक्षा में अच्छे अंकों को प्राप्त न कर सकने के कारण अपनी योग्यता का प्रदर्शन नहीं कर पाता है। कई छात्र निराशा में आकर बीच में ही अध्ययन का त्याग कर देते हैं। फलस्वरूप धन एवं परिश्रम का अपव्यय होता है।

(8) **योग्य प्रशिक्षकों तथा मार्गदर्शकों का अभाव :** अधिकांश व्यावसायिक एवं तकनीकी शिक्षा संस्थाएं योग्य प्रशिक्षकों एवं मार्गदर्शकों के अभाव से ग्रस्त हैं। इस स्थिति के प्रमुख कारण हैं—निम्न वेतनमान, समाज में प्रशिक्षकों एवं मार्गनिर्देशकों के प्रति असम्मान की भावना, इंजीनियरों को अत्यधिक सम्मान मिलना, प्रशिक्षकों का सामाजिक एवं राष्ट्रीय स्तर का न आंका जाना आदि।

(9) **निरंतर प्रशिक्षण का अभाव :** यह मनोविज्ञान का माना हुआ सत्य है कि यदि अर्जित ज्ञान का व्यावहारिक उपयोग न किया जाए तो यह विस्मृत होता जाता है। इसलिए प्रशिक्षण प्राप्त कार्यकर्ता भी कुछ दिनों के बाद अपने ज्ञान को भूलने लगता है और उसकी कार्य करने की शैली में स्थिरता आने लगती हैं। जितना अधिक ज्ञान एक मनुष्य में होगा उतनी अधिक दक्षतापूर्वक वह प्राविधिक कार्य को संभावित कर सकेगा। ऐसी स्थिति का कारण यह है कि तकनीकी शिक्षा प्राप्त प्रशिक्षार्थियों के लिए अध्ययन समाप्ति के पश्चात् निरंतर शिक्षा की व्यवस्था नहीं रहती है।

(10) **प्रायोगिक शिक्षा एवं उद्योग विद्यालयों में समन्वय का अभाव :** तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षालयों के पास अपनी कर्मशालाएं नहीं हैं। साथ ही प्रायोगिक शिक्षा की अपेक्षा सैद्धांतिक शिक्षा को अधिक महत्त्व दिया जाता है जिससे परिणामस्वरूप प्राविधिक शिक्षा संस्थाएं निकले हुए स्नातकों को प्रयोगों में दक्ष नहीं कर पातीं। एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण समस्या यह भी है कि प्रशिक्षण केंद्र स्थानीय उद्योग विद्यालय से संबंधित नहीं होते हैं। जिससे उद्योग विद्यालयों को प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा संस्थाओं से तथा संस्था के उद्योग विद्यालयों से इन शिक्षा संस्थाओं को कोई लाभ नहीं मिल पाता।

(11) **प्रशासन तथा नियंत्रण की व्यवस्था का अभाव :** अधिकांश राज्य

शिक्षा मंत्रालय प्राविधिक तथा व्यावसायिक शिक्षालयों के प्रशासन और नियंत्रण को अपने उत्तरदायित्व के क्षेत्र से बाहर रखते हैं। इसलिए इस प्रशिक्षण के प्रशासन एवं नियंत्रण की व्यवस्था कहीं जन-स्वास्थ्य विभाग एवं मंत्रालय तथा कहीं उद्योग मंत्रालय के हाथ में है। कहीं इन व्यवस्थाओं का उत्तरदायित्व दो-दो मंत्रालयों पर रहता है। यह उचित नहीं है।

(12) **अनुसंधान कार्य का विकास :** भारत एक विकासशील देश है। निरंतर विकास की ओर बढ़ते हुए चरण में उपस्थित वस्तुओं के गुणों को विकसित करना, नये सामान बनाना, पुराने सामान के नये उपयोग करना, अतिरिक्त वस्तुओं को उपयोग में लाना, कम से कम उत्पादन लागत पर अधिक से अधिक एवं उत्तम उत्पादन करना, खतरों को दूर करना कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करना, अनुसंधान कार्य को प्रोत्साहित करना आदि आवश्यक है। अनुसंधान के क्षेत्र में भारत सरकार राष्ट्रीय आय का केवल 2 प्रतिशत व्यय करती है जब कि अन्य विकसित देश 2·8 प्रतिशत व्यय करते हैं। अभी इस दिशा में जो शोध कार्य तथा अनुसंधान केंद्र स्थापित हुए हैं उनका गुणात्मक विकास इस दृष्टि से नहीं हो पाया है कि वे राष्ट्र की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। चूंकि भारतीय सरकार राष्ट्रीय आय का बहुत कम भाग अनुसंधान कार्यों में लगाती है, इसलिए राष्ट्र की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु शोध एवं अनुसंधान कार्य नहीं हो पाता है।

(13) **शारीरिक श्रम के प्रति निष्ठा का विकास किया जाए :** शारीरिक श्रम के प्रति अधिकांश नययुवकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि समाज में शारीरिक श्रम को उचित पुरस्कार दिया जाए एवं उसे सम्मान की दृष्टि से देखा जाए। समाज के कर्मठ व्यक्ति एवं नेता शारीरिक श्रम के उदाहरण प्रस्तुत करें। सरकार प्राविधिक एवं व्यावसायिक परीक्षार्थियों को अध्ययन की सुविधाएं दे, उन्हें छात्रवृत्तियों तथा प्रशिक्षण के पश्चात् रोजगार के यथायोग्य अवसर प्रदान करे, अधिक पारिश्रमिक एवं सुविधाएं प्रदान करे।

(14) **संपूर्ण राष्ट्र में प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा का देश की आवश्यकतानुसार विकास हो :** प्राविधिक तथा औद्योगिक व्यावसायिक कार्यों में रुचि रखने वाले छात्र अपनी इच्छाओं को संतुष्ट कर सकें इसके लिए समूचे राष्ट्र में पर्याप्त संख्या में तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षण संस्थाएं खोली जाएं।

(15) **प्राविधिक शिक्षा के साथ उदार शिक्षा का समन्वय :** पाठ्यक्रम को विस्तृत करने के लिए प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा के साथ-साथ

सामान्य शिक्षा तथा उदार शिक्षा भी दी जाए जिससे कि पाठ्यक्रम विषय विशेष प्रविधि तक ही सीमित न रहकर शिक्षा के व्यक्तिगत एवं सामाजिक उद्देश्यों को पूरा कर सके। तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा पाठ्यक्रम ऐसा हो जो स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने के योग्य हो।

(16) **उत्पादनशीलता की वृद्धि करना :** पाठ्यक्रम को उत्पादनशील बनाने के लिए यह आवश्यक है कि कर्मशाला अभ्यास पर अधिक बल दिया जाए। साथ ही प्रशिक्षार्थियों का उद्देश्य कोई न कोई समुचित उत्पादन होना चाहिए जिससे प्रशिक्षार्थी सर्वथा आत्मनिर्भर बन सकें। उच्च तकनीकी तथा व्यावसायिक शिक्षा स्तर पर अनुसंधान के अवसरों एवं सुविधाओं का विकास करना चाहिए जिससे कि प्रशिक्षित प्रशिक्षार्थी अनुसंधान कार्य के लिए उपयोगी तथा उत्पादनशील खोज करने के लिए अर्जित ज्ञान के सिद्धांतों को व्यवहार में ला सकें।

पाठ्यक्रम में बहु-उद्देशीयता तथा बहुचयनता लाने के लिए बहु-उद्देशीय शिक्षण संस्थाओं में जूनियर टेकनिकल स्कूलों के पाठ्यक्रम को समाविष्ट करके तकनीकी शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(17) **समाज सेवा से संबंध जोड़ा जाए :** प्रशिक्षण काल में प्रशिक्षार्थियों को शिविर तथा पर्यटन की व्यवस्था द्वारा समाज सेवा तथा श्रमदान के अवसर प्रदान करने चाहिए जिससे छात्रों में सामाजिक सेवा एवं श्रम सेवा-भाव जागृत हो सके।

(18) **शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषा :** यह हर्ष की बात है कि माध्यमिक शिक्षा आयोग, विश्वविद्यालय आयोग तथा कोठारी कमीशन ने तकनीकी स्नातक शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषा को ही स्वीकार किया है। किंतु अब प्रशिक्षार्थियों को प्रादेशिक भाषा एवं हिंदी में अनुवादित पाठ्यपुस्तकों के अभाव में कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है। इस समस्या के समाधान के लिए एन॰ सी॰ ई॰ आर॰ टी॰ एवं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग बहुत योग दे सकते हैं।

(19) **योग्य प्रशिक्षकों तथा मार्गदर्शकों के अभाव को दूर करना :** प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षण संस्थाओं में योग्य प्रशिक्षकों एवं मार्गदर्शकों के अभाव को दूर करने के लिए वैज्ञानिक तथा तकनीकी श्रम बल समिति ने यह कार्य भारत कीं चार क्षेत्रीय समितियों को सौंपा है जो इस दिशा में निरंतर प्रयत्नशील हैं। सरकार को चाहिए कि इस दिशा में उद्योग विद्यालयों के कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षक की मान्यता प्रदान करें और उन्हें इस कार्य के लिए अतिरिक्त पारिश्रमिक दें। प्रशिक्षक वर्ग के वेतनमान को बहुत आकर्षक बनाया

जाए जिससे कि योग्य एवं कुशल प्रशिक्षकों एवं मार्गनिर्देशकों की सेवाओं को प्राप्त किया जा सके ।

(20) **निरंतर प्रशिक्षण की व्यवस्था :** प्रशिक्षण के पश्चात् निरंतर प्रशिक्षण को जारी रखने के लिए यह आवश्यक है कि संवंधित उद्योगों के कार्य का सहयोग कर्मशाला अभ्यास छात्रों को कराने के लिए किया जाए । साथ ही उन्हें नवीन ज्ञान तथा उद्योग शैलियों से परिचित कराया जाए । छात्रों के अर्जित ज्ञान एवं उद्योग शैलियों से परिचित प्राप्त ज्ञान को स्थायी रखने तथा नये ज्ञान से संवंधित करने के लिए अंशकालीन प्रशिक्षण व्यवस्था एवं अभिनव पाठ्यक्रमों की व्यवस्था करना आवश्यक है ।

(21) **प्रायोगिक शिक्षा एवं उद्योग विद्यालयों में समन्वय :** प्रायोगिक शिक्षा एवं उद्योग विद्यालयों में समन्वय स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षण संस्थाओं के पास अपनी कर्मशालाएं हों जहां प्रत्येक प्रशिक्षार्थी सुविधानुसार कर्माभ्यास कर सके एवं अर्जित ज्ञान को व्यावहारिक रूप प्रदान कर सके । साथ ही प्रशिक्षण संस्थाओं को स्थानीय उद्योग विद्यालयों से समन्वय संपर्क स्थापित कर पारस्परिक सहयोगों का विनिमय करना चाहिए । उद्योग विद्यालयों को चाहिए कि वे प्रशिक्षार्थियों को प्रशिक्षण काल की अवधि में अपने यहां अभ्यास कार्य के अवसर दें ।

(22) **संपूर्ण भारत में टेकनिकल शिक्षा की एकरूपता का विकास :** संपूर्ण भारत में समरूपता लाने के लिए अखिल भारतीय स्तर पर तकनीकी शिक्षा परिषद् की स्थापना की जानी चाहिए । इस परिषद् में विविध विभागों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए । इस दिशा में क्षेत्रीय कार्यालयों का सहयोग प्राप्त करना चाहिए । राज्यों के शिक्षा विभागों द्वारा प्रशासित एवं नियमित बहुउद्देशीय शिक्षण संस्थाओं में टेकनिकल स्कूलों में चलाए जाने वाले विविध तकनीकी पाठ्यक्रमों को लागू किया जाना चाहिए ।

(23) **अनुसंधान एवं शोध का विकास :** प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षाओं में अनुसंधान एवं शोध कार्यों के विकास के लिए सरकार को चाहिए कि वह समय-समय पर इस बात का सर्वेक्षण करे कि किन-किन क्षेत्रों में अनुसंधानों की अधिक आवश्यकता है । इस बात का पता चलने पर उसके संभावित अनुसंधानों की व्यवस्था करनी चाहिए । साथ ही अन्य क्षेत्रों में भी यथावत् अनुसंधान के प्रयास करते रहना चाहिए ।

भारतीय शिक्षा आयोग सन् (1964–65) ने व्यावसायिक, तकनीकी शिक्षा के समुचित विकास हेतु अनेक सुझाव दिए हैं जिनमें निम्न सुझाव प्रमुख हैं ।

(अ) उद्योगों के लिए आवश्यक प्रशिक्षण सुविधाओं का इस प्रकार

विस्तार किया जाए कि इंजीनियरों एवं टेकनीशियनों का अनुपात 1.4 का हो जाए।

(व) उद्योग में डिप्लोमा देने वाली संस्थाओं में व्यावहारिक कार्य पर अधिक ध्यान दिया जाए। औद्योगिक क्षेत्रों में पॉलीटेकनिक संस्थाओं का विकास किया जाए।

(स) छात्रों को यथासंभव वास्तविक स्थितियों में ही प्रशिक्षण किया जाए। वर्कशाप अभ्यास में उत्पादन कार्य पर अधिक ध्यान दिया जाए।

(ड) कुछ चुने हुए पोलीटेकनिक संस्थाओं में उत्तर डिप्लोमा कोर्स व्यवस्थित किया जाए।

(इ) तकनीकी महाविद्यालय, पोलीटेकनिक, टेकनिकल हाईस्कूलों आदि से पास छात्रों को स्वयं अपने उद्योगों को स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित किया जाए।

(उ) इंजीनियरिंग के डिग्री कोर्स को 3 वर्षीय व्यावहारिक प्रशिक्षण दिया जाए।

(ऊ) रासायनिक प्राद्योगिक, विमान-विद्या, नक्षत्र विज्ञान आदि पाठ्यक्रमों का भी विकास किया जाए।

(क) टेकनालाजीकल क्षेत्रों में उन्नत अध्ययन केंद्रों का विकास किया जाए या इनके संस्थाओं एवं महाविद्यालयों द्वारा उद्योगों की आवश्यकतापूर्ति के प्रयास किए जाएं। टेकनालाजी संस्थाओं को विश्वविद्यालय के रूप में विकसित किया जाए।

(ख) शिक्षकों के लिए व्यापक रूप से 'ग्रीष्मकालीन शिविरों की व्यवस्था की जाए। इस क्षेत्र में शिक्षण व्यवसाय को आकर्षित करने के लिए उपयुक्त वेतनमान लागू किए जाएं।

(घ) पत्राचार द्वारा व्यावसायिक, प्राविधिक एवं इंजीनियरिंग शिक्षा देने की व्यवस्था की जाए।

(च) 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' के समरूप संगठन विकसित किया जाए। इसमें विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, व्यावसायिक संगठन, उद्योग तथा संबंधित मंत्रालयों के प्रतिनिधि सदस्य रहें।

यह संगठन 'नियोजन आयोग' तथा इं० आफ एप्लाइड मेन पावर रिसर्च के सहयोग से कार्य करें।

(झ) सभी राज्यों में डायरेक्टरेट आफ टेकनिकल एजूकेशन स्थापित किए जाएं।

प्रश्न

(1) भारत में प्राचीन एवं मध्यकाल में औद्योगिक एवं तकनीकी शिक्षा की व्यवस्था का विवरण दीजिए ?

(2) अंगरेजी शासन काल में औद्योगिक एवं तकनीकी शिक्षा के विकास का संक्षिप्त विवरण दीजिए ?

(3) भारत में तकनीकी एवं औद्योगिक शिक्षा की क्या-क्या समस्याएं हैं ?

(4) भारत में तकनीकी एवं औद्योगिक शिक्षा की समस्या सुलझाने के लिए उपाय बतलाइए ?

6

प्रौढ़ तथा समाज शिक्षा

विश्व में प्रौढ़ तथा समाज शिक्षा

प्रौढ़ तथा समाज शिक्षा अति प्राचीन काल से चली आ रही है परंतु विभिन्न देशों में परिस्थिति तथा आवश्यकतानुसार इसने विभिन्न तथा विशिष्ट रूप धारण किए हैं। यूरोप में 19वीं सदी में डेनमार्क में प्रौढ़ शिक्षा का क्रियात्मक रूप किसानों के अपने समाज का पुनर्गठन करने के लिए अपनाया गया था। इंग्लैंड तथा यूरोप के अन्य औद्योगिक क्षेत्रों में प्रौढ़ शिक्षा कारीगर, नागरिक तथा ट्रेड यूनियन के सदस्य बनने तथा इन स्थितियों में अपने कौशल और ज्ञान की वृद्धि करने के लिए दी जाती रही है। जर्मनी तथा डेनमार्क में 'फोक स्कूल' या जनता महाविद्यालय युवकों के लिए खोले गए थे। इनका प्रधानतः सांस्कृतिक उद्देश्य ही था। हालैंड में पीपुल्स मूवमेंट, स्वीडन में पीपुल्स हाई स्कूल तथा स्टडी सर्किल, फ्रांस में पापुलर क्लब तथा Lignede I 'Enseignment, चैकोस्लोवाकिया में ग्रंथालयों का जाल, जापान में ट्यूटोरियल कक्षाएं तथा पत्रकारिता स्कूल, विश्वविद्यालय विस्तार केंद्र, मेक्सिको में कारीगरों की कक्षाएं, प्रौढ़ तथा समाज शिक्षा के विशेष रूप रहे हैं। अमेरिका में बेटू इंस्टीट्यूशंस कम्युनिटी पब्लिक लायब्रेरी, विश्वविद्यालय विस्तार सेवा, व्यावसायिक स्कूल, टाउन मीटिंग, यंगमेन तथा वोमेन क्रिश्चियन एसोसियेशन आदि विभिन्न प्रकार से प्रौढ़ तथा समाज शिक्षा का कार्य किया जाता रहा है। द्वितीय महायुद्ध के बाद तो अनेक संगठन इसके लिए बने हैं।

भारत की समस्या

हमारे देश में प्रौढ़ तथा समाज शिक्षा की समस्या अन्य पाश्चात्य देशों से भिन्न है। अन्य देशों में जहां प्रौढ़ों को साक्षर बनाने की समस्या है ही नहीं वहां भारत में अशिक्षा के कारण साक्षरता की समस्या भी है। अन्य देशों में

तो 14, 15 या 16 वर्ष की आयु तक अनिवार्य शिक्षा व्यक्तियों को प्राप्त हो जाती है। हमारे देश में ऐसी कोई व्यवस्था अभी नहीं हो सकी है। तृतीय पंचवर्षीय योजना काल के अंत तक भी देश के 6 से 11 वर्ष की आयु वाले सभी बालक-बालिकाओं को शिक्षा संभव हो ही नहीं सकी।

इसके साथ-साथ हमारे देश में अपढ़ प्रौढ़ों की संख्या भी अधिक है। हमारे यहां देश में विभिन्न भाषाएं काम में लाई जाती हैं। हमारा देश गांवों का देश है। गांवों में तथा वहां तक पहुंचने के लिए आवागमन के साधन भी अच्छे तथा समुचित नहीं हैं। हमारे देश में सार्वजनिक स्वास्थ्य के अच्छे न होने के कारण जन्म तथा मरण का प्रतिशत अधिक है। औसत आयु भी अन्य देशों की अपेक्षा कम है और गरीबी अधिक है।

इन सब कारणों से हमारे देश में प्रौढ़ तथा समाज शिक्षा की समस्या बहुत कठिन तथा बृहद् बनी है। हमारे देश की इस समस्या के हल के लिए निम्न-लिखित बातों की आवश्यकता है :

(1) बहुत अधिक धन

(2) कुशल तथा प्रशिक्षित शिक्षक

इन साधनों के जुटाने पर ही देश के प्रौढ़ों को शिक्षा के रूप में हम केवल साक्षरता, मामूली सामान्य ज्ञान तथा सुख दे सकेंगे। पर इसे भी हम वर्तमान में संपूर्ण प्रौढ़ शिक्षा समझी जाने वाली प्रौढ़ शिक्षा न कह सकेंगे।

प्रौढ़ शिक्षा तथा समाज शिक्षा : पाठ्यक्रम तथा विधियां

प्रौढ़ शिक्षा तथा समाज शिक्षा का पाठ्क्रम तथा विधियां विभिन्न स्थानों में विभिन्न ही रहती हैं। ये परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं पर निर्भर करती हैं। अमेरिका में प्रौढ़ तथा समाज शिक्षा का पाठ्यक्रम बहुत ही भिन्न है। वहां पाठ्यक्रम के विषय दिन पर दिन बढ़ते जा रहे हैं। वहां नये रात्रि या शाम के विद्यालयों में विषयों के चुनाव के लिए बहुत अधिक व्यवस्था है। वर्तमान गतिविधियों, सामाजिक, राजनीतिक समस्याओं, सामाजिक अध्ययन, समाज विज्ञान आदि अनेक नये-नये विषयों के शिक्षण की व्यवस्था वहां काफी संख्या में की जाने लगी है। वक्ता बनने की शिक्षा, शार्टहैंड, टाइपिंग, घर सजावट, फोटोग्राफी, सामाजिक, सांस्कृतिक, नागरिक, आर्थिक समस्याओं का अध्ययन, नाच, गाना आदि अनेक प्रकार की शिक्षा देने वाली कक्षाओं में वहां काफी भीड़ होती है।

शिक्षण विधियों के संबंध में भी पुरानी शिक्षण विधियों को त्यागकर स्वयं क्रिया, वादविवाद, विचार-विमर्श, प्रतिवेदन, पठन, अवलोकन, प्रदर्शन,

श्रव्य-दृश्य सामग्री का उपयोग, योजना आदि विधियों पर ही अधिक बल दिया जाता है। इन प्रौढ़ों की कक्षाओं के शिक्षक प्रायः समाज के इन क्षेत्रों के कुशल कलाकार, ज्ञाता तथा कारीगर होते हैं। शिक्षक तथा प्रौढ़ का संबंध गुरु शिष्य का न होकर एक मित्र की भांति होता है। शिक्षा में व्यक्ति के समाजीकरण तथा उसकी प्रवृत्तियों तथा रुचियों के उचित विकास पर अधिक बल दिया जाता है।

अन्य यूरोपीय देशों में भी प्रायः इन विधियों का उपयोग किया जाता है। वहां के पाठ्यक्रम में इतनी विविधता नहीं पाई जाती है। हमारे देश के प्रौढ़ शिक्षा तथा समाज शिक्षा पाठ्यक्रम में साक्षर बनाने संबंधी बातों का समावेश आवश्यक है। साक्षर बनाने के साथ-साथ पढ़ने की ओर रुचि विकसित करने के लिए सुरुचिपूर्ण सरल छोटी पुस्तकें और प्रौढ़ों को प्रेरित किया जाता है। इसके साथ ही उन्हें देश की योजनाओं, गतिविधियों, कृषि, समाज-उत्थान, नागरिक गुणों आदि से संबंधित बातों का ज्ञान भी करा दिया जाता है। प्राथमिक तथा मिडिल विद्यालयों के शिक्षक शिक्षिकाएं ही प्रायः शिक्षक का काम करती हैं। विधियों में कक्षा-शिक्षण पद्धति के साथ विचार-विमर्श, वाद-विवाद विधियों का उपयोग भी किया जाता है। रेडियो, सिनेमा, समाचार पत्रों आदि का उपयोग भी किया जाता है। पर इनका उपयोग अभी सीमित ही है।

भारत में प्रौढ़ तथा समाज शिक्षा

प्राचीन काल

हमारे देश में प्रौढ़ तथा समाज शिक्षा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। समाज में प्रचलित अनेक प्रकार के संस्कार संस्कृति के संरक्षण के लिए ही प्रचलित किए गए थे। हमारे समाज में संन्यासी तथा साधु बनना जीवन की चतुर्थ अवस्था की आवश्यकता मानी जाती थी। यह आवश्यक सा था। ये संन्यासी, साधु कभी एक स्थान पर जमकर नहीं रहते थे। ये भजन-कीर्तन करते तथा घूम-घूमकर जनता को उपदेश देते रहते थे। इनका आदर्श जनजीवन को अपने उपदेशों से आदर्श बनाना था। इस प्रकार ये घूमती-फिरती पाठशालाएं ही थीं। आज भी इनका भारतीय जीवन पर काफी प्रभाव है।

मध्य काल

मध्यकाल में भारतीय जीवन में युद्ध, बाहर से अनेक जातियों के आने से संघर्ष अधिक रहा है। फलस्वरूप प्राचीन काल से चले आ रहे संन्यासियों तथा साधुओं के रूप में जन सामान्य के जीवन को उन्नत बनाने वाला स्रोत क्षीण हो गया परंतु वह सूखा नहीं है, कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में अवश्य बना

रहा है। यदि ऐसा न होता तो अंगरेजों के भारत आने पर उनके प्रारंभिक युग में जो शैक्षणिक सर्वेक्षण हुआ था उसमें देशी शिक्षा की स्थिति 20वीं शताब्दी की स्थिति से अच्छी न मिलती। हालांकि इस सर्वेक्षण में त्रुटियां अवश्य अधिक रही होंगी, पर इसे बिलकुल निराधार नहीं माना जा सकता है।

वर्तमान काल

अंगरेजों के आने के बाद देशी शिक्षा के नष्ट होने से भारतीय शिक्षा की बड़ी क्षति हुई। जनता निरक्षर होती गई तथा बालकों के लिए प्राथमिक शिक्षा की भी उपयुक्त व्यवस्था न हो सकी। इस दृष्टि से यदि हम भारतीय प्रौढ़ शिक्षा के इतिहास को देखें तो यह अपेक्षाकृत आधुनिक ही प्रतीत होता है। अंगरेजी शासन काल में सन् 1854 के वुड डिस्पेच में जनता के अज्ञानरूपी श्राप को दूर करने का उल्लेख आया है, पर संपूर्ण अंगरेजी शासन काल में उस समय से आज तक 100 वर्षों में इस दिशा में कोई विशेष कार्य संपन्न नहीं हो सका है। हां, मिशन, सार्वजनिक संस्थाओं आदि के द्वारा इस दिशा में अवश्य कार्य किए जाते रहे हैं। पर फिर भी यह निश्चित था कि 20वीं सदी के पूर्व भारत में प्रौढ़ों की उचित शिक्षा की व्यवस्था पर बहुत अधिक महत्त्व नहीं दिया गया।

सन् 1894 में त्रावणकोर तथा बड़ौदा रियासतों में शहरों तथा गांवों में पुस्तकालय खोले गए, पर इनसे पढ़े-लिखे लोगों को ही अधिक लाभ हुआ। मद्रास में पहले-पहल पादरियों ने भारतीय ईसाई प्रौढ़ों के लाभ के लिए प्रौढ़ विद्यालय खोले। भावनगर में निरक्षरता उन्मूलन के हेतु गुजराती, मराठी, तथा उर्दू में पुस्तकें तैयार की गईं जो आज भी प्रचलित हैं। मैसूर के दीवान श्री विश्वेसरैया ने सन् 1912 में मैसूर राज्य के लिए रात्रि विद्यालय तथा चलते-फिरते पुस्तकालय की योजना बनाई। परंतु उनकी मृत्यु के बाद यह योजना समाप्त हो गई। विश्व-कवि टैगोर ने शांतिनिकेतन के आसपास के गांवों नवयुवकों की सहायता से प्रौढ़ शिक्षा के प्रसार में बड़ा योग दिया। प्रथम महायुद्ध से भी प्रौढ़ शिक्षा को बड़ा बल मिला। अनेक सैनिक विदेशों में लड़ने गए थे। लौटने पर उन्नति करने तथा आगे बढ़ने की इच्छा से उन्होंने रात्रि पाठशालाओं में जाना प्रारंभ किया। फलस्वरूप सन् 1921 में पंजाब में रात्रि की प्रौढ़ कक्षाएं प्रारंभ की गईं। इसी बीच सन् 1919 के एक्ट के अनुसार भारत की राज्य व्यवस्था में परिवर्तन हुआ तथा शिक्षा का काम भारतीय मंत्री देखने लगे। फलस्वरूप अनिवार्य शिक्षा तथा प्रौढ़ शिक्षा के प्रयत्न आरंभ हुए।

पर वास्तव में विधिवत् कार्य इस दिशा में अभी भी प्रारंभ नहीं हुआ था।

सन् 1937 में इंग्लैंड की राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा यूनियन ने श्री टी० एफ० विलियम्स को भारतीय प्रौढ़ों की शिक्षा के लिए सहायतार्थ भेजा। फलस्वरूप भारत में अनेक स्थानों में प्रौढ़ों की शिक्षा समितियां बनीं तथा अखिल भारतीय स्तर पर प्रौढ़ शिक्षा समिति का गठन हुआ। इसकी प्रथम बैठक दिल्ली में सन् 1938 में मार्च महीने में हुई। सन् 1937 में सबसे पहले साक्षरता आंदोलन प्रारंभ किया गया। सभी प्रांतों में साक्षरता दिवस तथा शिक्षा सप्ताह मनाए गए। इसी समय श्री लोबक ने अनेक भाषाओं में प्रौढ़ शिक्षा के चार्ट बनाए तथा साक्षरता प्रसार प्रारंभ किया।

प्रौढ़ शिक्षा का सबसे महत्त्वपूर्ण आंदोलन सन् 1939 में बिहार में चला। इस वर्ष 3 लाख प्रौढ़ पढ़ने-लिखने को प्रोत्साहित किए गए। जेल का कार्य तो और भी सराहनीय रहा। जहां सभी कैदियों को, जिनकी आंखें ठीक थीं तथा मानसिक दोष न था, लिखना पढ़ना सिखाया गया। डा० लोबक ने इसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की है।

गया जेल के बाद तो देश में अनेक प्रांतों में प्रौढ़ शिक्षा का कार्य आगे बढ़ाया गया। इसका प्रमुख कारण सन् 1935 में संविधान के अनुसार देश के अनेक प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की स्थापना थी। देश के अनेक प्रांतों में प्रौढ़ शिक्षा का कार्य चलता रहा। अतः केंद्रीय सरकार ने इन सभी प्रयत्नों को संगठित करने के लिए दिसंबर सन् 1938 में डा० सैयद महमूद की अध्यक्षता में एक प्रौढ़ शिक्षा समिति की स्थापना की। इस समिति ने निम्नलिखित सिफारिशें कीं :

(1) प्रौढ़ों को साक्षर बनाना।

(2) शिक्षित प्रौढ़ों को और अधिक शिक्षा के लिए प्रोत्साहित करना तथा सुविधाएं देना।

(3) रुचि दिखलाने वाले प्रौढ़ों को उच्च शिक्षा पाने के लिए प्रेरित करना।

द्वितीय महायुद्ध के कारण प्रौढ़ शिक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया जा सका परंतु सेना अवश्य अपने सैनिकों की कुशलता बढ़ाने की दृष्टि से लिखने, पढ़ने तथा गणित के ज्ञान को उपयोगी समझती रही। इस प्रकार महायुद्ध काल में सेना ही प्रौढ़ शिक्षा की सबसे प्रमुख तथा क्रियाशील संस्था रही। साथ ही साथ जामिया मिलिया और मैसूर प्रौढ़ शिक्षा परिषद् अपना प्रौढ़ शिक्षा संबंधी महत्त्वपूर्ण तथा बहुमूल्य कार्य करती रही।

द्वितीय महायुद्ध के बाद देश की सबसे बृहत् शिक्षा योजना में, जिसे सार्जेंट रिपोर्ट के नाम से जाना जाता है, प्रौढ़ शिक्षा को महत्त्व दिया था। इस योजना

में 10 से 40 वर्ष की आयु के प्रौढ़ों की शिक्षा व्यवस्था का प्रावधान है तथा इसके लिए अन्य साधनों के साथ साथ दृश्य-श्रव्य साधनों के उपयोग की सिफारिशें की गई हैं। परंतु परिस्थितिवश इस योजना पर कोई विशेष कार्य न हो सका।

सन् 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के वाद सन् 1948 में अखिल भारतीय स्तर की एक प्रौढ़ शिक्षा समिति की स्थापना श्री मोहनलाल सक्सेना की अध्यक्षता में की गई। इस समिति ने अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए तथा प्रौढ़ शिक्षा के स्थान पर समाज शिक्षा का नाम अधिक उपयुक्त समझा। इस समिति ने समाज शिक्षा के उद्देश्य निश्चित किए तथा कार्य-प्रणाली और आर्थिक पक्षों पर भी मत व्यक्त किए एवं सुझाव दिए। इस समिति की योजना की अधिकांश वातों को सन् 1949 की जनवरी में प्रांतीय शिक्षा मंत्रियों की वैठक में स्वीकृत किया गया। फलस्वरूप अप्रैल, सन् 1949 से यह योजना कार्यान्वित की गई।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारंभ होने से समाज शिक्षा का कार्य और भी तेजी से चला। सामुदायिक विकास खंडों में भी समाज शिक्षा का कार्य महत्त्वपूर्ण माना गया। द्वितीय योजना में समाज शिक्षा पर 5 करोड़ रुपये व्यय करने का प्रावधान है। देश की इस वृहत् समस्या को देखते हुए यह वहुत कम प्रतीत होता है।

तृतीय पंचवर्षीय योजना काल में समाज तथा प्रौढ़ शिक्षा के संवंध में पंचायत-राज की जिले तथा ब्लाक स्तर पर स्थापना, समाज शिक्षा का विकास आदि योजनाएं कार्यान्वित की गईं। साथ ही शारीरिक शिक्षा, युवक गतिविधियों, संगीत, कला साहित्य अकादमी का विकास, अजायबघरों की उन्नति, राष्ट्रीय एकीकरण, परीक्षा सुधार, हिंदी तथा संस्कृत का विकास आदि योजनाओं को विकसित किया गया। इन कार्यक्रमों के लिए तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल में लगभग 29 करोड़ रुपयों का प्रावधान रहा जो कुल शिक्षा एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों के बजट का 6·9 प्रतिशत है।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में समाज शिक्षा पर 64 करोड़ रुपयों के व्यय करने का प्रावधान था। इस योजना काल में प्रौढ़ तथा समाज क्षिक्षा के विस्तार एवं आर्थिक विकास के साधन के रूप में साक्षरता कार्यक्रम पर बल दिया गया।

प्रौढ़ तथा समाज शिक्षा की समस्याएं

भारतवर्ष में प्रौढ़ तथा समाज शिक्षा वहुत कठिन समस्या है। इसका विकास समुचित रूप से नहीं हो पा रहा है। इसकी कुछ समस्याएं हैं ज़ो इस प्रकार हैं :

(1) **शिक्षकों में प्रौढ़ मनोविज्ञान के ज्ञान का अभाव :** प्रौढ़ों को जो शिक्षक ज्ञान देते हैं उन्हें प्रौढ़ों के मनोविज्ञान की जानकारी नहीं होती। इसलिए प्रौढ़ों को भी बच्चों के समान ही पढ़ाते हैं। परंतु बालक और प्रौढ़ दोनों की मनोवैज्ञानिक विशेषताएं भिन्न भिन्न होती हैं। दोनों की ग्रहण-शक्ति में अंतर रहता है। प्रौढ़ बालकों की अपेक्षा जल्दी ज्ञान ग्रहण करते हैं। इस भेद को जानने पर कभी-कभी शिक्षक प्रौढ़ों के आत्मसम्मान को ठेस पहुंचा देते हैं। वे यह नहीं महसूस करते कि जिन प्रौढ़ों को वे पढ़ा रहे हैं उनके मन में कितना सम्मान एवं मान है तथा समाज में उनका क्या स्थान है। परिणाम यह होता है कि उनकी रुचि पढ़ने की ओर कम हो जाती है और वे कक्षा में आना बंद कर देते हैं।

(2) **व्यापक निरक्षरता :** सरकार के प्रयत्न करने के बावजूद प्रौढ़ों को पढ़ने में रुचि नहीं है। ऐसे अनपढ़ों को पढ़ाना जिन्हें अक्षर का भी ज्ञान नहीं है, बड़ा जटिल कार्य है। टी० एन० सिकवेरा ने कहा है कि 'व्यावहारिक दृष्टि से एक महत्त्व की समस्या साक्षरता किस प्रकार बहुत शीघ्र उपलब्ध की जा सकती है। एक ऐसे देश में जहां की 90% प्रौढ़ जनसंख्या ने पढ़ना और लिखना अभी सीखा ही नहीं है।'

(3) **थकान की समस्या :** प्रौढ़ बालकों की अपेक्षा किसी भी ज्ञान को जल्दी ग्रहण कर लेते हैं। बालकों की तरह वे 5-6 घंटे लगातार कक्षा में नहीं बैठ सकते हैं। दिन में कारखानों, खेत, मिल आदि में कार्य करते हैं तथा भोजन के उपरांत वे इतने थक जाते हैं कि अध्ययन करना उन्हें बड़ा ही कष्टप्रद प्रतीत होता है।

(4) **शिक्षकों की समस्या :** प्रौढ़ों और बालकों में बहुत भिन्नता है। उनके अध्यापन कार्य के लिए उपयुक्त तथा सामान्य शिक्षा में प्रवीण अध्यापकों का अभाव है।

(5) **पाठ्यक्रम की समस्या :** प्रौढ़ों को साक्षर बनाने के लिए पाठ्यक्रम भी एक प्रमुख समस्या है। प्रौढ़ों के उपयुक्त रोचक तथा आकर्षक पाठ्यक्रम का अभाव है। उनकी रुचियां, आवश्यकताएं, क्षमताएं बालकों से भिन्न होती हैं। इन्हीं को ध्यान में रखते हुए पाठ्यक्रम का निर्माण होना चाहिए। वर्तमान में उसका अभाव है।

(6) **समुचित शिक्षण सामग्री का अभाव :** प्रौढ़ों को अध्ययन के प्रति आकर्षित करने के लिए उपयुक्त पाठ्यक्रम, दृश्य-श्रव्य सामग्री, लेखन सामग्री, श्याम पट, पुस्तकालय आदि का अभाव है। अभी भी इस प्रकार के कई स्थान हैं जहां समुचित प्रकाश की भी व्यवस्था नहीं है।

(7) उपयुक्त शिक्षण विधियों का अभाव : प्रौढ़ों को साक्षरता के प्रति आकर्षित करने के लिए उपयुक्त शिक्षण विधियों, जैसे कहानी पद्धति, वाक्य पद्धति, रेडियो, टेलीविजन, पुस्तकालय, शब्द पद्धति, चार्ट, चित्र आदि का अभाव है।

(8) स्वयं सेवकों का अभाव : गांवों में साक्षरता का प्रसार करने के लिए स्वयंसेवकों की कमी है जिसके अभाव में जनता का सहयोग प्राप्त नहीं हो पाता है।

(9) उपस्थिति की समस्या : साक्षरता के प्रसार में यह भी एक जटिल समस्या है। प्रौढ़ों को जीविकोपार्जन के काम से समय नहीं मिलता। इस कारण वे कक्षा में समय पर उपस्थित नहीं हो सकते।

(10) अनुसरण कक्षाओं की समस्या : प्रौढ़ों की शिक्षा में अनुसरण कक्षाओं का अभाव प्रायः सभी जगह रहता है। परिणाम यह होता है कि प्रौढ़ जो भी ज्ञान प्राप्त करते हैं वह व्यर्थ हो जाता है। इस तरह से धन तथा समय दोनों व्यर्थ खर्च होते हैं।

(11) अनुसरण साहित्य का अभाव : प्रायः जहां प्रौढ़ कक्षाएं लगती हैं वहां सब स्थानों में अनुसरण साहित्य की नितांत कमी रहती है, जैसे पुस्तकालय, वाचनालय आदि। परिणाम यह होता है कि प्रौढ़ जो कुछ सीखते हैं वह कुछ समय में भूल जाते हैं।

(12) समाज शिक्षा से संबंधित अधिकारियों में योग्यता की कमी : जिन-जिन स्थानों में समाज शिक्षा का कार्यक्रम आरंभ किया जाता है वहां के अधिकारीगण यह देखने की चेष्टा नहीं करते हैं कि प्रौढ़ शिक्षा का कार्यक्रम ठीक ढंग से चल रहा है कि नहीं। नाममात्र की प्रौढ़ संस्थाएं आरंभ हो जाती हैं परंतु यह ध्यान नहीं दिया जाता कि कक्षा में उनकी उपस्थिति कितनी है, शिक्षण सामग्री है या नहीं, शिक्षकों की स्थिति क्या है, आदि। इस तरह से समाज शिक्षा के संगठक की अयोग्यता भी एक प्रमुख समस्या है।

(13) प्रौढ़ों की स्वयं की समस्याओं पर विचार विमर्श करना : शिक्षक प्रौढ़ों की समस्याओं पर कोई प्रकाश नहीं डालते। केवल उन्हें लिखने-पढ़ने की शिक्षा ही देते हैं इसलिए अध्ययन के प्रति उनकी अरुचि हो जाती है। वे धीरे-धीरे कक्षा में आना बंद कर देते हैं क्योंकि उनकी समस्याओं पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जाता है।

(14) प्रौढ़ों में रूढ़िवादिता तथा निराशावादिता का बाहुल्य : प्रायः प्रौढ़ उत्साहहीन, निराश तथा रूढ़िवादी होते हैं। अतः जब तक शिक्षकों, स्वयंसेवकों द्वारा साक्षरता के प्रति रुचि जागृत करने का प्रयत्न नहीं किया

जाएगा तब तक उन्हें अपनी शिक्षा अनुपयोगी लगेगी। वे तकदीर को ही सब कुछ मानते हैं क्योंकि वे अपनी आंखों से देखते हैं कि अपढ़ व्यक्ति ही लाखों कमाकर आनंददायक जीवन व्यतीत कर लेता है। इसलिए उन्हें पढ़ना-लिखना बेकार लगता है। परिणाम यह होता है कि वे कक्षा में आना बंद कर देते हैं।

(15) **धन की समस्या :** समाज शिक्षा के लिए पर्याप्त धन की आवश्यकता है और हमारी सरकार के पास अभी इतना धन नहीं है कि समाज शिक्षा के कार्यक्रम को एक वृहद् रूप से व्यवस्थित कर सके।

(16) **प्रौढ़ शिक्षा विषयक स्पष्ट नीति भी एक समस्या के रूप में :** प्रौढ़ शिक्षा के जो भी कार्यक्रम हो रहे हैं उनकी नीति कोई निश्चित एवं स्पष्ट नहीं है। यद्यपि सरकार इसके लिए प्रयास कर रही है परंतु वे प्रयत्न इतने सराहनीय नहीं हैं जितने होने चाहिए।

(17) **प्रौढ़ कक्षा-स्थलों को विद्यालय के नाम से पुकारना :** प्रौढ़ों को जिस संस्था में शिक्षा दी जाती है उसे विद्यालय नाम से पुकारना ठीक नहीं है क्योंकि प्राय: विद्यालय नाम से भी वे चिढ़ते हैं। यह भी एक समस्या के रूप में है।

समस्या को दूर करने के उपाय

(1) शिक्षकों को प्रौढ़ मनोविज्ञान के संबंध में जानकारी होनी चाहिए जिससे कि वे प्रौढ़ों की रुचियों, योग्यताओं, क्षमताओं तथा आवश्यकताओं के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकें। इससे वे प्रौढ़ों को ज्ञान अच्छी तरह से दे सकेंगे और प्रौढ़ भी अध्ययन के प्रति आकर्षित हो सकेंगे। शिक्षकों को यह जानना भी जरूरी होगा कि उन्हें किस शिक्षण विधि का उपयोग करना चाहिए जिससे कि वे अच्छी तरह समझ सकें।

प्रौढ़ शिक्षा के लिए स्थानीय विद्यालयों के अध्यापकों का सहयोग लिया जाए तो उत्तम होगा क्योंकि शिक्षकों को प्रौढ़ अच्छी तरह से जानते हैं। प्रौढ़ों के बच्चे उन्हीं शिक्षकों के द्वारा पढ़ाए जाते हैं। इसलिए उनके प्रति सम्मान की भावना भी जागृत होगी। वे ज्ञान अच्छी तरह से ग्रहण कर सकेंगे।

(2) व्यापक निरक्षरता की समस्या को हल करने के लिए विद्यालयों के छात्र-छात्राओं से सहयोग लिया जा सकता है। इन छात्र-छात्राओं को लंबी छुट्टियों में प्रशिक्षण देकर इनके द्वारा निरक्षरता की समस्या को हल किया जा सकता है। लावाक महोदय की Each one Teach one नीति का अनुसरण भी इसी हेतु किया गया है।

(3) थकान की समस्या हल करने के लिए अध्ययन कार्य रोचक तथा मनोरंजक बनाना चाहिए। दिन भर का थका हुआ प्रौढ़ सायंकाल में दो-तीन घंटे नहीं पढ़ सकता है। उसके लिए घंटा-डेढ़ घंटा पर्याप्त समय होगा। सर्वप्रथम भजन, गीत एवं ईश भजन के द्वारा कार्यक्रम आरंभ करना चाहिए। इससे वे अपने आपको ताजा महसूस करेंगे। इसके बाद सरलता से अध्ययन कर सकते हैं और जहां वे थकान महसूस करने लगें फिर कोई गीत या कहानी उनको सुनानी चाहिए। इस तरह से रोचक एवं आकर्षक कार्यक्रम द्वारा प्रौढ़ थकान नहीं महसूस करेंगे तथा अध्ययन के प्रति उनकी रुचि जागृत होगी।

(4) प्रौढ़ों के पाठ्यक्रम में ऐसे विषय होने चाहिए जिनसे उनका नैतिक, बौद्धिक तथा सामाजिक स्तर सुधर सके। उनके पाठ्यक्रम में सांस्कृतिक कार्यों को भी प्राथमिकता एवं महत्त्व मिलेगा। पाठ्यक्रम के विषय जीवनोपयोगी एवं व्यावहारिक होने चाहिए।

(5) प्रौढ़ शिक्षालयों के पुस्तकालयों में पुस्तकें, दृश्य-श्रव्य सामग्री तथा लेखन सामग्री आदि की पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिए।

(6) शिक्षकों को प्रौढ़ों को पढ़ाने के लिए उचित शिक्षण विधियों को उपयोग में लाना चाहिए जैसे कहानी पद्धति, वाक्य पद्धति, देखो और कहो पद्धति, रेडियो, टेलीविजन, चलचित्र, पत्र, प्रवचन, अभिनय, महाभारत, पुराण आदि का ज्ञान कहानियों द्वारा देना चाहिए जिससे उनका मन अध्ययन में लगा रहे।

(7) साक्षरता प्रसार के लिए स्वयंसेवकों की भी समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। इससे साक्षरता का प्रसार व्यापक रूप से किया जा सकेगा। इसके लिए जनता का सहयोग प्राप्त करना उपयुक्त होगा।

(8) उपस्थिति की समस्या को हल करने के लिए शिक्षा को रोचक बनाना चाहिए। अध्ययन के लिए डेढ़ घंटा समय पर्याप्त है। इतने समय के लिए आना प्रौढ़ों को कष्टकर प्रतीत नहीं होगा। शिक्षकों को उनकी मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं को समझकर ज्ञान देना चाहिए।

(9) अनुसरण कक्षाओं का होना नये साक्षरों के लिए अत्यंत आवश्यक है जिससे कि वे जितना ज्ञान प्राप्त करें उसे भूल न जाएं। नव-साक्षरों के सहयोग से भित्ति पत्रों को महत्त्व दिया जाना चाहिए।

(10) समाज शिक्षा की उन्नति के लिए अनुसरण साहित्य को प्रोत्साहन मिलना आवश्यक है। इसके लिए पुस्तकालय, वाचनालय, अध्ययन गोष्ठी आदि की उचित व्यवस्था की जानी चाहिए। प्रौढ़ों के जीवन की समस्याओं को हल करने में सहायक साहित्य प्रकाशित होना चाहिए। प्रौढ़ इस प्रकार के साहित्य

को रुचिपूर्वक पढ़ेंगे। इससे दो लाभ होंगे, एक तो उनकी समस्याओं का हल होगा तथा दूसरे अध्ययन के प्रति उनकी रुचि जागृत होगी।

(11) समाज शिक्षा से संबंधित अधिकारियों को पर्याप्त सुविधाएं मिलनी चाहिए। प्रायः अधिकारियों को रिपोर्ट, लिखा पढ़ी आदि का काम भी बहुत करना पड़ता है। इससे वे प्रौढ़ शिक्षा के कार्यक्रम में भलीभांति रुचि नहीं लेते हैं। उन्हें इन कामों से छुट्टी मिलनी चाहिए। सिर्फ प्रौढ़ शिक्षा के प्रसार में क्या कठिनाइयां हैं, कैसे उन्नति हो सकती है, कैसे योजनाएं बनानी चाहिए, यह सब कार्य उन्हें सोंपना चाहिए; तभी वे अपना कार्य समुचित ढंग से कर सकेंगे। साथ ही साथ पर्याप्त वेतन तथा भत्ता आदि की भी व्यवस्था होनी चाहिए।

(12) शिक्षकों को अध्यापन के साथ-साथ प्रौढ़ों की स्वयं की समस्याओं को भी सुलझाना चाहिए जैसे बीमारियों की रोकथाम के लिए कार्य, खेती को उपजाऊ बनाना, उसके लिए जल की व्यवस्था, गंदे पानी की निकासी की समस्या का हल करना आदि। इसके लिए सामूहिक विचार विमर्श होना चाहिए। इससे अध्ययन के प्रति प्रौढ़ छात्र रुचि लेंगे।

(13) समाज शिक्षा अधिकारियों तथा शिक्षकों को सामूहिक विचार-विमर्श द्वारा प्रौढ़ों की रूढ़िवादिता आदि की भावना को नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। इससे समाज शिक्षा के प्रसार में काफी सहायता मिलेगी।

(14) समाज शिक्षा के लिए सरकार को पर्याप्त धन की व्यवस्था करनी चाहिए तभी यह समस्या हल हो सकेगी।

(15) प्रौढ़ों के लिए शिक्षा विषयक जो नीति बनाई जाए वह बिलकुल स्पष्ट एवं निश्चित होनी चाहिए जिसे प्रौढ़ एवं समाज के लोग अच्छी तरह समझ सकें। शिक्षा की नीति स्पष्ट होने से समाज शिक्षा की पर्याप्त उन्नति हो सकेगी।

(16) प्रौढ़ों को जिस विद्यालय में ज्ञान दिया जाए उसे भजन मंडली या सामुदायिक जीवन केंद्र का नाम दिया जाना चाहिए। यह उचित होगा। ऐसा नाम देने से प्रौढ़ों को इस केंद्र के प्रति आसानी से आकर्षित किया जा सकेगा क्योंकि शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् भी उनका इनसे कुछ संबंध बना रहेगा।

(17) भारतीय शिक्षा आयोग (1964-66) ने सुझाव दिया है कि किसी देश के प्रौढ़ों को शिक्षित करने के लिए 20 वर्षों से अधिक की अवधि नहीं लगनी चाहिए। इस हेतु आयोग ने सन् 1975 तक 60 प्रतिशत तक, 1980 तक 80 प्रतिशत तक तथा सन् 1985–86 तक देश के सभी प्रौढ़ों को शिक्षित करने का लक्ष्य रखा है। आयोग ने प्रौढ़ों के लिए अल्पकालीन तथा दीर्घ-

(7) उपयुक्त शिक्षण विधियों का अभाव : प्रौढ़ों को साक्षरता के प्रति आकर्षित करने के लिए उपयुक्त शिक्षण विधियों, जैसे कहानी पद्धति, वाक्य पद्धति, रेडियो, टेलीविजन, पुस्तकालय, शब्द पद्धति, चार्ट, चित्र आदि का अभाव है।

(8) स्वयं सेवकों का अभाव : गांवों में साक्षरता का प्रसार करने के लिए स्वयंसेवकों की कमी है जिसके अभाव में जनता का सहयोग प्राप्त नहीं हो पाता है।

(9) उपस्थिति की समस्या : साक्षरता के प्रसार में यह भी एक जटिल समस्या है। प्रौढ़ों को जीविकोपार्जन के काम से समय नहीं मिलता। इस कारण वे कक्षा में समय पर उपस्थित नहीं हो सकते।

(10) अनुसरण कक्षाओं की समस्या : प्रौढ़ों की शिक्षा में अनुसरण कक्षाओं का अभाव प्रायः सभी जगह रहता है। परिणाम यह होता है कि प्रौढ़ जो भी ज्ञान प्राप्त करते हैं वह व्यर्थ हो जाता है। इस तरह से धन तथा समय दोनों व्यर्थ खर्च होते हैं।

(11) अनुसरण साहित्य का अभाव : प्रायः जहां प्रौढ़ कक्षाएं लगती हैं वहां सब स्थानों में अनुसरण साहित्य की नितांत कमी रहती है, जैसे पुस्तकालय, वाचनालय आदि। परिणाम यह होता है कि प्रौढ़ जो कुछ सीखते हैं वह कुछ समय में भूल जाते हैं।

(12) समाज शिक्षा से संबंधित अधिकारियों में योग्यता की कमी : जिन-जिन स्थानों में समाज शिक्षा का कार्यक्रम आरंभ किया जाता है वहां के अधिकारीगण यह देखने की चेष्टा नहीं करते हैं कि प्रौढ़ शिक्षा का कार्यक्रम ठीक ढंग से चल रहा है कि नहीं। नाममात्र की प्रौढ़ संस्थाएं आरंभ हो जाती हैं परंतु यह ध्यान नहीं दिया जाता कि कक्षा में उनकी उपस्थिति कितनी है, शिक्षण सामग्री है या नहीं, शिक्षकों की स्थिति क्या है, आदि। इस तरह से समाज शिक्षा के संगठक की अयोग्यता भी एक प्रमुख समस्या है।

(13) प्रौढ़ों की स्वयं की समस्याओं पर विचार विमर्श करना : शिक्षक प्रौढ़ों की समस्याओं पर कोई प्रकाश नहीं डालते। केवल उन्हें लिखने-पढ़ने की शिक्षा ही देते हैं इसलिए अध्ययन के प्रति उनकी अरुचि हो जाती है। वे धीरे-धीरे कक्षा में आना बंद कर देते हैं क्योंकि उनकी समस्याओं पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जाता है।

(14) प्रौढ़ों में रूढ़िवादिता तथा निराशावादिता का बाहुल्य : प्रायः प्रौढ़ उत्साहहीन, निराश तथा रूढ़िवादी होते हैं। अतः जब तक शिक्षकों, स्वयंसेवकों द्वारा साक्षरता के प्रति रुचि जागृत करने का प्रयत्न नहीं किया

जाएगा तब तक उन्हें अपनी शिक्षा अनुपयोगी लगेगी। वे तकदीर को ही सब कुछ मानते हैं क्योंकि वे अपनी आंखों से देखते हैं कि अपढ़ व्यक्ति ही लाखों कमाकर आनंददायक जीवन व्यतीत कर लेता है। इसलिए उन्हें पढ़ना-लिखना बेकार लगता है। परिणाम यह होता है कि वे कक्षा में आना बंद कर देते हैं।

(15) **धन की समस्या :** समाज शिक्षा के लिए पर्याप्त धन की आवश्यकता है और हमारी सरकार के पास अभी इतना धन नहीं है कि समाज शिक्षा के कार्यक्रम को एक बृहद् रूप से व्यवस्थित कर सके।

(16) **प्रौढ़ शिक्षा विषयक स्पष्ट नीति भी एक समस्या के रूप में :** प्रौढ़ शिक्षा के जो भी कार्यक्रम हो रहे हैं उनकी नीति कोई निश्चित एवं स्पष्ट नहीं है। यद्यपि सरकार इसके लिए प्रयास कर रही हैं परंतु वे प्रयत्न इतने सराहनीय नहीं हैं जितने होने चाहिए।

(17) **प्रौढ़ कक्षा-स्थलों को विद्यालय के नाम से पुकारना :** प्रौढ़ों को जिस संस्था में शिक्षा दी जाती है उसे विद्यालय नाम से पुकारना ठीक नहीं है क्योंकि प्राय: विद्यालय नाम से भी वे चिढ़ते हैं। यह भी एक समस्या के रूप में है।

समस्या को दूर करने के उपाय

(1) शिक्षकों को प्रौढ़ मनोविज्ञान के संबंध में जानकारी होनी चाहिए जिससे कि वे प्रौढ़ों की रुचियों, योग्यताओं, क्षमताओं तथा आवश्यकताओं के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकें। इससे वे प्रौढ़ों को ज्ञान अच्छी तरह से दे सकेंगे और प्रौढ़ भी अध्ययन के प्रति आकर्षित हो सकेंगे। शिक्षकों को यह जानना भी जरूरी होगा कि उन्हें किस शिक्षण विधि का उपयोग करना चाहिए जिससे कि वे अच्छी तरह समझ सकें।

प्रौढ़ शिक्षा के लिए स्थानीय विद्यालयों के अध्यापकों का सहयोग लिया जाए तो उत्तम होगा क्योंकि शिक्षकों को प्रौढ़ अच्छी तरह से जानते हैं। प्रौढ़ों के बच्चे उन्हीं शिक्षकों के द्वारा पढ़ाए जाते हैं। इसलिए उनके प्रति सम्मान की भावना भी जागृत होगी। वे ज्ञान अच्छी तरह से ग्रहण कर सकेंगे।

(2) व्यापक निरक्षरता की समस्या को हल करने के लिए विद्यालयों के छात्र-छात्राओं से सहयोग लिया जा सकता है। इन छात्र-छात्राओं को लंबी छुट्टियों में प्रशिक्षण देकर इनके द्वारा निरक्षरता की समस्या को हल किया जा सकता है। लावाक महोदय की Each one Teach one नीति का अनुसरण भी इसी हेतु किया गया है।

(3) थकान की समस्या हल करने के लिए अध्ययन कार्य रोचक तथा मनोरंजक बनाना चाहिए। दिन भर का थका हुआ प्रौढ़ सायंकाल में दो-तीन घंटे नहीं पढ़ सकता है। उसके लिए घंटा-डेढ़ घंटा पर्याप्त समय होगा। सर्वप्रथम भजन, गीत एवं ईश भजन के द्वारा कार्यक्रम आरंभ करना चाहिए। इससे वे अपने आपको ताजा महसूस करेंगे। इसके वाद सरलता से अध्ययन कर सकते हैं और जहां वे थकान महसूस करने लगें फिर कोई गीत या कहानी उनको सुनानी चाहिए। इस तरह से रोचक एवं आकर्षक कार्यक्रम द्वारा प्रौढ़ थकान नहीं महसूस करेंगे तथा अध्ययन के प्रति उनकी रुचि जागृत होगी।

(4) प्रौढ़ों के पाठ्यक्रम में ऐसे विषय होने चाहिए जिनसे उनका नैतिक, बौद्धिक तथा सामाजिक स्तर सुधर सके। उनके पाठ्यक्रम में सांस्कृतिक कार्यों को भी प्राथमिकता एवं महत्त्व मिलेगा। पाठ्यक्रम के विषय जीवनोपयोगी एवं व्यावहारिक होने चाहिए।

(5) प्रौढ़ शिक्षालयों के पुस्तकालयों में पुस्तकें, दृश्य-श्रव्य सामग्री तथा लेखन सामग्री आदि की पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिए।

(6) शिक्षकों को प्रौढ़ों को पढ़ाने के लिए उचित शिक्षण विधियों को उपयोग में लाना चाहिए जैसे कहानी पद्धति, वाक्य पद्धति, देखो और कहो पद्धति, रेडियो, टेलीविजन, चलचित्र, पत्र, प्रवचन, अभिनय, महाभारत, पुराण आदि का ज्ञान कहानियों द्वारा देना चाहिए जिससे उनका मन अध्ययन में लगा रहे।

(7) साक्षरता प्रसार के लिए स्वयंसेवकों की भी समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। इससे साक्षरता का प्रसार व्यापक रूप से किया जा सकेगा। इसके लिए जनता का सहयोग प्राप्त करना उपयुक्त होगा।

(8) उपस्थिति की समस्या को हल करने के लिए शिक्षा को रोचक बनाना चाहिए। अध्ययन के लिए डेढ़ घंटा समय पर्याप्त है। इतने समय के लिए आना प्रौढ़ों को कष्टकर प्रतीत नहीं होगा। शिक्षकों को उनकी मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं को समझकर ज्ञान देना चाहिए।

(9) अनुसरण कक्षाओं का होना नये साक्षरों के लिए अत्यंत आवश्यक है जिससे कि वे जितना ज्ञान प्राप्त करें उसे भूल न जाएं। नव-साक्षरों के सहयोग से भित्ति पत्रों को महत्त्व दिया जाना चाहिए।

(10) समाज शिक्षा की उन्नति के लिए अनुसरण साहित्य को प्रोत्साहन मिलना आवश्यक है। इसके लिए पुस्तकालय, वाचनालय, अध्ययन गोष्ठी आदि की उचित व्यवस्था की जानी चाहिए। प्रौढ़ों के जीवन की समस्याओं को हल करने में सहायक साहित्य प्रकाशित होना चाहिए। प्रौढ़ इस प्रकार के साहित्य

को रुचिपूर्वक पढ़ेंगे। इससे दो लाभ होंगे, एक तो उनकी समस्याओं का हल होगा तथा दूसरे अध्ययन के प्रति उनकी रुचि जागृत होगी।

(11) समाज शिक्षा से संबंधित अधिकारियों को पर्याप्त सुविधाएं मिलनी चाहिए। प्राय: अधिकारियों को रिपोर्ट, लिखा पढ़ी आदि का काम भी बहुत करना पड़ता है। इससे वे प्रौढ़ शिक्षा के कार्यक्रम में भलीभांति रुचि नहीं लेते हैं। उन्हें इन कामों से छुट्टी मिलनी चाहिए। सिर्फ प्रौढ़ शिक्षा के प्रसार में क्या कठिनाइयां हैं, कैसे उन्नति हो सकती है, कैसे योजनाएं बनानी चाहिए, यह सब कार्य उन्हें सोंपना चाहिए; तभी वे अपना कार्य समुचित ढंग से कर सकेंगे। साथ ही साथ पर्याप्त वेतन तथा भत्ता आदि की भी व्यवस्था होनी चाहिए।

(12) शिक्षकों को अध्यापन के साथ-साथ प्रौढ़ों की स्वयं की समस्याओं को भी सुलझाना चाहिए जैसे बीमारियों की रोकथाम के लिए कार्य, खेती को उपजाऊ बनाना, उसके लिए जल की व्यवस्था, गंदे पानी की निकासी की समस्या का हल करना आदि। इसके लिए सामूहिक विचार विमर्श होना चाहिए। इससे अध्ययन के प्रति प्रौढ़ छात्र रुचि लेंगे।

(13) समाज शिक्षा अधिकारियों तथा शिक्षकों को सामूहिक विचार-विमर्श द्वारा प्रौढ़ों की रूढ़िवादिता आदि की भावना को नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। इससे समाज शिक्षा के प्रसार में काफी सहायता मिलेगी।

(14) समाज शिक्षा के लिए सरकार को पर्याप्त धन की व्यवस्था करनी चाहिए तभी यह समस्या हल हो सकेगी।

(15) प्रौढ़ों के लिए शिक्षा विषयक जो नीति बनाई जाए वह बिलकुल स्पष्ट एवं निश्चित होनी चाहिए जिसे प्रौढ़ एवं समाज के लोग अच्छी तरह समझ सकें। शिक्षा की नीति स्पष्ट होने से समाज शिक्षा की पर्याप्त उन्नति हो सकेगी।

(16) प्रौढ़ों को जिस विद्यालय में ज्ञान दिया जाए उसे भजन मंडली या सामुदायिक जीवन केंद्र का नाम दिया जाना चाहिए। यह उचित होगा। ऐसा नाम देने से प्रौढ़ों को इस केंद्र के प्रति आसानी से आकर्षित किया जा सकेगा क्योंकि शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् भी उनका इनसे कुछ संबंध बना रहेगा।

(17) भारतीय शिक्षा आयोग (1964-66) ने सुझाव दिया है कि किसी देश के प्रौढ़ों को शिक्षित करने के लिए 20 वर्षों से अधिक की अवधि नहीं लगनी चाहिए। इस हेतु आयोग ने सन् 1975 तक 60 प्रतिशत तक, 1980 तक 80 प्रतिशत तक तथा सन् 1985–86 तक देश के सभी प्रौढ़ों को शिक्षित करने का लक्ष्य रखा है। आयोग ने प्रौढ़ों के लिए अल्पकालीन तथा दीर्घ-

कालीन व्यावसायिक तथा सामान्य शिक्षा की व्यवस्था करने का सुझाव दिया है। इन सुझावों का शीघ्र ही क्रियान्वित किया जाना चाहिए।

(18) प्रौढ़ शिक्षा पर शोधकार्य को प्रोत्साहित करना चाहिए। राष्ट्रीय या राज्य स्तरीय प्रौढ़ संगठनों को अभी तक हुए इस क्षेत्र के शोध कार्यों को प्रकाशित कराने की व्यवस्था करनी चाहिए।

7

शिक्षक प्रशिक्षण

भारत में शिक्षक प्रशिक्षण

हमारे देश में शिक्षकों के प्रशिक्षण की ओर आज से लगभग 70 वर्ष पूर्व तक कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। वैसे हमारे देश में प्राचीन काल से ही शिक्षकों को बड़े आदर से देखते हैं। प्राचीन काल में हमारे देश के ऋषि मुनि तथा ब्राह्मण ही बालकों तथा जनता को शिक्षित करने का कार्य किया करते थे। अंगरेजों के आने के पूर्व तक भी ब्राह्मण या मुल्ला शिक्षक का कार्य करते थे तथा बालकों को शिक्षा देते थे। अब न तो प्राचीन काल के ज्ञानी-ध्यानी ऋषि, ब्राह्मण, मुल्ला रह गए हैं और न शिक्षकों की हमारी भारतीय प्राचीन परंपराएं ही रहने पाई हैं। हमारे देश में शिक्षकों की इतनी उच्च तथा मान्य परंपराएं होते हुए भी हमारे शिक्षकों के विधिवत् प्रशिक्षण का इतिहास बहुत ही नया है तथा इसका आधार भी विदेशी है। पाश्चात्य देशों में भी शिक्षण-प्रशिक्षण ऐसे समय में आरंभ हुआ था जब लोग यह समझते थे कि जो व्यक्ति पुस्तक पढ़ सकता है वह पढ़ा भी सकता है। उस काल में गरीब शिक्षा से वंचित रहते थे। उस काल में शिक्षक प्रशिक्षण को समाज, राजनीतिक परिस्थिति, सांस्कृतिक परिवर्तन आदि से कोई मतलब नहीं रहता था। उस समय का शिक्षकों का प्रशिक्षण केवल शिक्षण-संबंधी बातों के किताबी तथा व्यावहारिक ज्ञान तक ही सीमित रहता था। उसका शिक्षा की समस्याओं से कोई संबंध नहीं होता था। शिक्षक प्रशिक्षण इस प्रकार की परिस्थितियों में प्रारंभ हुआ। पाश्चात्य देशों का शिक्षक प्रशिक्षण हमारे भारतीय शिक्षक प्रशिक्षण का आधार रहा है। हमारे देश में सन् 1882 तक कोई विधिवत् शिक्षक प्रशिक्षण की व्यवस्था नहीं थी। हालांकि कुछ राज्यों तथा शैक्षणिक संस्थाओं ने नार्मल स्कूल खोले थे, पर उनमें विधिवत् प्रशिक्षण का स्वरूप स्थिर न हुआ था। सन् 1882 तक देश में केवल मद्रास तथा लाहौर में ही शिक्षण-प्रशिक्षण की संस्थाएं थीं। सन् 1882

के भारतीय शिक्षा समीक्षा-मंडल ने प्रथम वार शिक्षकों के प्रशिक्षण के महत्त्व को माना तथा सिफारिश की कि शिक्षा के सिद्धांतों तथा अभ्यास में परीक्षा की व्यवस्था की जाए तथा सरकारी या गैर सरकारी आर्थिक सहायता प्राप्त माध्यमिक विद्यालय में पक्के तौर पर शिक्षक के स्थान के लिए इस परीक्षा में पास होना आवश्यक माना जाए। इस समीक्षा मंडल ने स्नातक तथा उससे कम स्तर के शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था अलग-अलग करने को महत्त्वपूर्ण माना। पर शिक्षण-प्रशिक्षण को वास्तविक महत्त्व सन् 1904 (मार्च) के सरकारी प्रस्ताव से मिला। इसमें शिक्षण-प्रशिक्षण के महत्त्व, विधि तथा प्रशिक्षण सुविधाएं दिए जाने तथा उनकी वृद्धि की ओर ध्यान दिया गया। इसके पश्चात् सन् 1913 में पुनः एक सरकारी प्रस्ताव द्वारा शिक्षक प्रशिक्षण के महत्त्व को स्वीकार किया गया। इस प्रस्ताव के अनुसार ऐसे नियम वनाने की वात सोची गई कि कोई भी शिक्षक विना प्रशिक्षण योग्यता की प्राप्ति के शिक्षण कार्य न कर सके।

कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग ने सन् 1919 में शिक्षक प्रशिक्षण के विचार को विस्तृत रूप दिया। इसके पूर्व इसका स्वरूप संकुचित ही था। कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग ने न केवल शिक्षक प्रशिक्षण को महत्त्वपूर्ण मानकर प्रशिक्षण की सुविधाओं में वृद्धि की सिफारिश की वरन् शिक्षण प्रशिक्षण कार्यक्रम में भी परिवर्तन आवश्यक समझा क्योंकि शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं का कार्य शिक्षण का प्रशिक्षण तथा प्रमाण पत्र देने मात्र से पूर्ण नहीं हो जाता है। उनके लिए तो देश की शैक्षणिक समस्याओं का विधिवत् अध्ययन भी करना आवश्यक है। कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग ने प्रत्येक शिक्षक-प्रशिक्षण संस्था से एक-एक अभ्यास विद्यालय संलग्न करने की सिफारिश भी की। अभी तक शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं के साथ शैक्षणिक कार्य के व्यावहारिक अभ्यास के लिए अभ्यास विद्यालय संलग्न नहीं रहते थे।

बुनियादी शिक्षा के विकास ने शिक्षक प्रशिक्षण के इतिहास में एक नये दृष्टिकोण का आविर्भाव किया। वुनियादी शिक्षा तो जड़-मूल से शिक्षा बदलने तथा नये क्रांतिकारी विचारों का प्रादुर्भाव करने के लिए प्रारंभ की गई थी। अतः स्वाभाविक है कि इन विद्यालयों के शिक्षकों को एक विशेष प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाए। बुनियादी विद्यालय समाज के केंद्र होते हैं। उनमें समवायी शिक्षण अनिवार्य रूप से चलता है। इनमें न कोई ऊंचा या अमीर होता है और न कोई गरीव। यह सभी के हितों के लिए समान रूप से कार्य करती है। अतः ऐसे शिक्षकों के प्रशिक्षण के उद्देश्य शिक्षकों में इस प्रकार के गुणों, भावनाओं, प्रवृत्तियों, आदतों आदि का विकास करना ही होना चाहिए। प्रारंभ

में बुनियादी शिक्षा प्राथमिक स्तर पर ही प्रयोग के रूप में चली थी। अतः बुनियादी शिक्षक प्रशिक्षण प्राथमिक तथा पूर्व माध्यमिक स्तर तक ही सीमित रहा। अब इनका विकास माध्यमिक स्तर तक हो रहा है। साथ ही साथ प्राथमिक एवं पूर्व प्राथमिक स्तर के बुनियादी शिक्षकों की प्रशिक्षण संस्थाओं के लिए शिक्षकों तथा बुनियादी विद्यालयों के निरीक्षकों के प्रशिक्षण की आवश्यकता भी अब बढ़ रही है। अतः प्रायः प्रत्येक राज्य ने स्नातकोत्तर बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालय स्थापित किए हैं। ऐसे स्नातकोत्तर बुनियादी महाविद्यालयों की संख्या अब बढ़ती जा रही है। चूंकि अब बुनियादी शिक्षा ने राष्ट्रीय शिक्षा का स्वरूप ले लिया है तथा नीतिनिर्धारण से बुनियादी और गैर बुनियादी का भेद मिटता जा रहा है, प्रशिक्षण संस्थाओं—स्नातकोत्तर तथा पूर्व स्नातकोत्तर दोनों स्तरों में बुनियादी परिवर्तन शीघ्रता से हो रहा है। इस बुनियादी प्रशिक्षण संस्थाओं में बुनियादी शिक्षा संबंधी शोध कार्य भी किए जाते हैं।

सन् 1948 में भारतीय विश्वविद्यालय आयोग की स्थापना डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में की गई थी। इस आयोग ने भी शिक्षक प्रशिक्षण को एक नया मोड़ दिया तथा विकसित किया। आयोग ने स्नातकोत्तर परीक्षण संस्थाओं में दिए जाने वाले सैद्धांतिक ज्ञान पर तो संतोष व्यक्त किया पर इन सिद्धांतों की व्यावहारिक शिक्षा पर और अधिक बल देने की सिफारिश की। इस आयोग ने कहा कि जब हमारी वास्तविक शिक्षा का उद्देश्य केवल कुछ पाठ याद कर लेना या पढ़ लेना ही नहीं है तथा जीवन में जीकर सोद्देश्यपूर्ण क्रियाओं में भाग लेना है तब यह आवश्यक हो जाता है कि हमारे विश्वविद्यालयों से संबद्ध शिक्षण संस्थाओं में भी इस प्रकार से परिवर्तन किया जाए। इसको ध्यान में रखते हुए आयोग ने सुझाया कि शिक्षकों के व्यावहारिक प्रशिक्षण पर और अधिक बल दिया जाना चाहिए। अभ्यास हेतु उपयुक्त अभ्यास विद्यालयों को चुना जाना चाहिए; शिक्षा के सिद्धांत लचीले बनाए जाने चाहिए जिससे उन्हें परिस्थितियों के अनुकूल ढाला जा सके; तथा अखिल भारतीय स्तर पर शैक्षणिक शोधकार्य इन प्रशिक्षण संस्थाओं द्वारा अपनाया जाना चाहिए।

राधाकृष्णन आयोग की सिफारिशों के फलस्वरूप ही सन् 1950 में बड़ौदा में प्रथम प्रशिक्षण संस्थाओं की अखिल भारतीय सभा बुलाई गई। इस सभा में विश्वविद्यालयीय स्तर पर शिक्षक प्रशिक्षण के कार्यों एवं गतिविधियों पर विचार किया गया तथा भविष्य में कार्य हेतु सिद्धांत एवं नीति निर्धारित की गई। मैसूर में सन् 1951 में इसकी द्वितीय सभा का आयोजन हुआ, जिसमें

स्नातकोत्तर स्तर पर शैक्षणिक शोधकार्य तथा स्नातक शिक्षक प्रशिक्षण का अध्ययन विशेष रूप से किया गया।

केंद्रीय शिक्षा विभाग ने शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं के कार्य के समन्वय तथा मार्गदर्शन के लिए पत्रिकाओं का प्रकाशन किया है। 'शिक्षा त्रैमासिक' तथा 'बुनियादी तालीम' त्रैमासिक पत्रिकाएं इस दिशा में उपयोगी मार्गदर्शन कर रही हैं। इसके साथ-साथ केंद्रीय शिक्षा विभाग शिक्षण प्रशिक्षण संबंधी जानकारी पुस्तिकाओं के रूप में भी समय-समय पर निकालता रहता है।

भारत में शिक्षा संगठनों तथा निरीक्षकों की स्थिति भी गिरी हुई है। अभी तक शिक्षा सचिव आइ० ए० एस० आफिसर ही होता है। शिक्षा मंत्री तथा विधान सभा के सदस्यों से तो शिक्षक प्रशिक्षण की अपेक्षा ही नहीं की जा सकती। अत: ऐसी दशा में यह आवश्यक है कि शिक्षा सचिव शिक्षा में प्रशिक्षित हों। शिक्षा संचालक पद पर तो अब शिक्षा प्रशिक्षित को ही नियुक्त किया जाता है। परंतु सन् 1854 में जब इनकी नियुक्तियां प्रारंभ की गई थीं तब ऐसा नहीं था। प्रारंभ में तो विद्यालय निरीक्षकों का भी शिक्षा-प्रशिक्षित होना आवश्यक नहीं था। प्रारंभ में जो था सो था पर आज भी विद्यालय निरीक्षकों को किसी विशेष प्रकार के शिक्षा संगठन का प्रशिक्षण नहीं दिया जाता है। इसका कारण यह है कि शिक्षा संगठन एक विशेष विज्ञान के रूप में उपेक्षित ही है। शिक्षा विभाग में कार्य कर रहे लिपिक, सचिव आदि के शिक्षा प्रशिक्षण की तो भारत में कोई व्यवस्था ही नहीं है। ये लोग भूल तथा सुधार' या दैनिक कार्य करते समय जो भी समस्याएं आती जाती हैं उनके आधार पर अपना कार्य सीखते हैं तथा सरकारी कार्यालयों, जनपदों, जिला बोर्डों तथा अन्य स्वायत्त संस्थाओं में शिक्षा की व्यवस्था तथा संगठन संबंधी कार्य करते रहते हैं, इसका कारण यह है कि अभी तक भारत में शिक्षा प्रबंध तथा शिक्षा संगठन के प्रशिक्षण को उपयोगी समझा ही नहीं जाता है। यदि वास्तव में हमें शिक्षा का स्तर सुधारना है तथा शिक्षा का उचित विकास करना है तब शिक्षक प्रशिक्षण के समान शिक्षा निरीक्षकों शिक्षा लिपिकों, शिक्षा प्रबंध तथा संगठन से संबंधित अन्य कर्मचारियों के उचित प्रशिक्षण की तथा सेवा के कार्य काल की सेवा करते हुए प्रशिक्षण की उचित व्यवस्था करनी ही चाहिए।

शिक्षक प्रशिक्षण संबंधी समस्याएं

वर्तमान समय में संगठित तथा व्यवस्थित प्रशिक्षण संस्थाओं को अपने उत्तरदायित्वों का समुचित निर्वाह करने में कठिनाई हो रही है। उनकी अनेक समस्याएं हैं जिनका उचित हल आवश्यक है। वर्तमान में शिक्षक-प्रशिक्षण की

निम्नलिखित समस्याएं प्रमुख हैं।

(1) प्रशिक्षण हेतु योग्य शिक्षकों के चुनाव का अभाव

अध्यापकों को प्रशिक्षित करने से तभी लाभ हो सकता है जब कि योग्य व्यक्ति या महिलाएं, जिनमें भविष्य में अच्छे शिक्षक बनने तथा विकसित होने की संभावनाएं हों, शिक्षक प्रशिक्षण हेतु चुने जाएं। प्राथमिक प्रशिक्षण संस्थाओं में अब मिडिल पास व्यक्तियों को चुना जाता है। इसी तरह से माध्यमिक शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं में स्नातक तथा स्नातकोत्तर परीक्षा पास व्यक्तियों को सीधे या शिक्षकीय अनुभव के उपरांत प्रशिक्षण में भरती करना चाहिए। इस तरह से पहले की अपेक्षा अब योग्य व्यक्ति प्रशिक्षण हेतु चुनने के प्रयास किए जाते हैं···परंतु परीक्षा पास करना ही योग्यता का प्रमाण नहीं है तथा यह आधार प्रशिक्षण हेतु चुनाव के लिए अनुपयुक्त तथा अपूर्ण है। यदि हम प्राथमिक प्रशिक्षण संस्थाओं में भरती किए गए व्यक्तियों की गणना करें तो हमें गणित, ललित कला आदि में रुचि लेने तथा योग्यता रखने वाले शिक्षक कठिनाई से पांच या दस प्रतिशत ही मिलेंगे। इनमें सामाजिक अध्ययन तथा विज्ञान शिक्षण की योग्यताएं भी अत्यंत साधारण तथा न्यून रहती हैं, जब कि प्राथमिक तथा पूर्व माध्यमिक स्तर पर भाषा, गणित, सामाजिक अध्ययन, सामान्य विज्ञान, ललित कला, उद्योग, संगीत आदि विषय अनिवार्य रूप में पढ़ाए जाते हैं। मिडिल कक्षाओं में अंगरेजी भी अनिवार्य है। अंगरेजी तथा संस्कृत के लिए योग्य व्यक्ति प्रशिक्षण हेतु बहुत कम संख्या में भरती हो पाते हैं।

इसी प्रकार की समस्या दूसरी प्रशिक्षण संस्थाओं में चुनाव की पद्धति से संबंधित है। छात्र अध्यापकों के चुनाव के लिए साक्षात्कार या परीक्षणों का उपयोग केवल दिखावे के लिए ही होता है। वास्तव में सेवा अवधि, सांप्रदायिकता, जातीय, पारिवारिक संबंध के आधार पर छात्राध्यापकों को प्रवेश दिया जाता है।

अनेक प्रशिक्षण संस्थाओं में छात्रवृत्ति की भी कोई व्यवस्था नहीं है। छात्राध्यापकों को प्रवेश पाने के लिए काफी अधिक शुल्क देना पड़ता है। योग्य एवं गरीब छात्रों की सहायता की कोई प्रबंध नहीं है। इसलिए ऐसे छात्र प्रवेश पाने से वंचित रह जाते हैं और अयोग्य छात्र शुल्क देकर प्रवेश पा जाते हैं। इन सभी कारणों से प्रशिक्षित करने के लिए योग्य व्यक्तियों का चुनाव नहीं हो पाता है। इसके अतिरिक्त यदि इतना पैसा व्यय करके भी कोई शिक्षक बी० एड० या बी० टी० आदि की उपाधियां प्राप्त कर लेता है तो उसे अच्छी नौकरी

मिल ही जाएगी इसकी कोई निश्चितता नहीं होती। इसी कारण व्यक्तियों की प्रशिक्षण की ओर कम प्रवृत्ति रहती है।

(2) पाठ्यक्रम संबंधी समस्या

बी० एड० तथा एम० एड० आदि स्तरों में पाठ्यक्रम सैद्धांतिकता पर अधिक तथा व्यावहारिकता और प्रयोग की ओर कम आधारित हैं। सत्रीय कार्य के रूप में शिक्षा मनोविज्ञान, शिक्षा सिद्धांत, विद्यालय प्रबंध आदि से संबधित व्यावहारिक कार्य अवश्य कराए जाने लगे हैं पर सभी शिक्षक प्रशिक्षण संस्थानों में सत्रीय कार्य नहीं कराए जाते हैं। साल के अन्त में या मध्य में, किसी एक माह में सभी विषयों में सत्रीय कार्य कराने से कोई लाभ नहीं है। इसमें छात्र पुस्तकों से नकल करके अपना कार्य पूर्ण कर देते हैं।

पाठ्यक्रम में वैकल्पिक विषयों की भी कमी है। विशिष्ट विधियों में कहीं एक तथा कहीं दो विषयों की शिक्षा की विधियां छात्र शिक्षकों को लेनी पड़ती हैं। पर माध्यमिक स्तर पर प्रत्येक शिक्षक को कम से कम दो-तीन विषय पढ़ने और पढ़ाने पड़ते हैं। कुछ ऐसे भी छात्र शिक्षक होते हैं जो अंगरेजी बिना पढ़े ही बी० एड० पास कर लेते हैं जब कि अनेक राज्यों में माध्यमिक स्तर पर अंगरेजी अनिवार्य है। इस प्रकार पाठ्यक्रम संबंधी अनेक समस्याओं को हल करना आवश्यक है।

(3) बुनियादी तथा गैर बुनियादी पाठ्यक्रमों की विभिन्नता संबंधी समस्या

वर्तमान समय में देश में दो प्रकार की शिक्षण प्रशिक्षण संस्थाएं हैं। बुनियादी प्रशिक्षण केंद्रों में सैद्धांतिक पाठ्यक्रम पर अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता है। यहां पर क्रियाविधि, सामुदायिक जीवन एवं अभ्यास विधि पर ज्यादा महत्त्व दिया जाता है। गैर बुनियादी शिक्षण संस्थाओं में सैद्धांतिक ज्ञान पर व्यावहारिक की अपेक्षा अधिक बल दिया जाता है।

(4) शिक्षा प्रशिक्षण केंद्रों में स्वतंत्रता रहित वातावरण संबंधी समस्या

देश में जितने भी शिक्षक प्रशिक्षण केंद्र हैं उनमें छात्राध्यापकों को बहुत अधिक नियंत्रण में रहना पड़ता है। इन प्रशिक्षण केंद्रों में नेतृत्व, सामुदायिक जीवन, स्वतंत्रता आदि पर कम महत्त्व दिया जाता है और छात्र शिक्षकों से आशा की जाती है कि इन सुझावों और गुणों को किसी भी प्रकार पुस्तकों से ग्रहण करके अपने विद्यालयों में इनको क्रियान्वित करें। परंतु जब छात्राध्यापकों को प्रशिक्षण केंद्रों में इन गुणों को क्रियान्वित करने के समुचित अवसर नहीं

दिए जाते हैं तो फिर वे अपने विद्यालयों में इन्हें कैसे साकार रूप दे सकेंगे। छात्राध्यापकों को अपने प्रशिक्षण की अवधि में अपने शिक्षकों के कड़े नियंत्रण में रहना पड़ता है। अतः बाद में उनसे ऐसी आशा करना व्यर्थ है।

(5) शिक्षक प्रशिक्षण केंद्रों में शिक्षक शिक्षा का असामान्य स्तर

वर्तमान समय में 5 या 6 प्रकार के शिक्षक प्रशिक्षण केंद्र हैं। इनके पाठ्यक्रमों में भी विभिन्नता है। उपाधियों तथा डिग्रियों के नामों में भी विभिन्नता है। जैसे कि एल० टी० तथा बी० एड० की उपाधियों को एक समान समझा जाता है परंतु इनके नामों में विभिन्नता है और पाठ्यक्रमों में भी भिन्नता है। इस तरह से इन प्रशिक्षण केंद्रों में शिक्षा का सामान्य स्तर नहीं है।

(6) पाठ्य पुस्तक संबंधी समस्या

बी० एड० तथा एम० एड० कक्षाओं के उपयोग हेतु अभी भी हिंदी में या क्षेत्रीय भाषा में उत्तम प्रामाणिक साहित्य कम ही है। अच्छी पुस्तकें प्रायः अंगरेजी में ही उपलब्ध हैं जो पश्चिमी देशों की विचारधाराओं तथा समस्याओं के आधार पर लिखी हुई हैं। हम अपनी समस्याओं का उन पुस्तकों के आधार पर समाधान नहीं कर सकते। पुस्तकालयों में ये पुस्तकें बहुत ही कम प्राप्त हैं। इनका इतना अधिक मूल्य है कि साधारण छात्र इन्हें खरीद कर पढ़ ही नहीं सकता। इस तरह से शिक्षक प्रशिक्षण संबंधी पाठ्यक्रमों की समस्या भी जटिल ही है।

(7) शोध कार्य से संबंधित समस्या

एम० एड० स्तर पर कुछ शोध कार्य अवश्य कराया जाता है। पर देखा गया है कि एम० एड० स्तर पर जो शोध कार्य होते हैं वे उच्च स्तर के नहीं होते हैं। इसके अनेक कारण हो सकते हैं। एक तो 9 माह की अवधि में छात्र शिक्षक को 4 विषय पढ़ने के साथ मनोविज्ञान के कुछ प्रयोग भी करने पड़ते हैं। अतः उनसे उच्च शोध कार्य की आशा करना व्यर्थ है। साथ ही पुस्तकालयों में शोध सामग्री का भी अभाव है जो कि इसे निम्न स्तर का बनाने के लिए उत्तरदायी है। इसका हल आवश्यक है।

(8) शिक्षक शिक्षा की अवधि में विभिन्नता

शिक्षक शिक्षा की अवधि में भी विभिन्नता पाई जाती है। बी० एड० तथा

बी० टी० की डिग्रियां बी० ए०, बी० एस-सी० के बाद एक ही वर्ष में प्राप्त हो जाती हैं जब कि एल० टी० की दो वर्ष में। अंडर ग्रेजुएट पाठ्यक्रम भी कहीं दो तथा कहीं एक ही वर्ष में पूर्ण किया जाता है। कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में शिक्षक प्रशिक्षण केंद्रों में सामान्य एवं व्यावसायिक शिक्षा के संयुक्त प्रशिक्षण की योजना बनाई गई है। अंडर ग्रेजुएटों को इस उपाधि को प्राप्त करने में 4 वर्ष लगेंगे। इस तरह से शिक्षक शिक्षा की अवधि में विभिन्नता भी शिक्षक-प्रशिक्षण संबंधी कठिन समस्या है।

(9) भौतिक साधनों की उपलब्धि संबंधी समस्या

भौतिक साधनों के अंतर्गत भूमि, मुख्य तथा अन्य इमारतें, अभ्यास विद्यालय उपकरण आदि आते हैं। भारतीय शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं में कुछ को छोड़कर सभी प्रशिक्षण संस्थाओं में आवश्यक भौतिक साधनों की कमी पाई जाती है। अनेक स्थानों में शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाएं किराये की इमारतों में लगती हैं या किसी अन्य शिक्षण संस्था में साथ-साथ पाली के अनुसार व्यवस्थिति हैं। इनके पास कृषि तथा खेलकूद आदि अन्य कार्यों के लिए पर्याप्त भूमि नहीं है। छात्रावास भी पर्याप्त नहीं हैं। उपकरणों के अंतर्गत शिक्षण सहायक सामग्री, मनोविज्ञान प्रयोगशालाओं के सामान्य ज्ञान, उद्योग तथा अन्य प्रयोग कक्ष आते हैं। ग्रंथालय की उचित व्यवस्था बहुत कम शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं में है। प्रशिक्षण गतिविधियों को व्यवस्थित तथा प्रभावशाली रूप से आयोजित नहीं किया जाता। फलस्वरूप प्रशिक्षण का स्तर गिरता जा रहा है। इससे उसमें किए जा रहे धन और समय दोनों का अपव्यय को रहा है।

(10) उद्योग अभ्यास पाठ तथा सामुदायिक जीवन व्यवस्था से संबंधित समस्या

प्राथमिक तथा पूर्व प्राथमिक शिक्षा में उद्योग का बड़ा महत्त्व है। माध्यमिक स्तर में भी उद्योग का काफी महत्त्व है। पर शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं में उद्योग प्रशिक्षण पर अब भी जितना बल दिया जाना चाहिए उतना नहीं दिया जाता है। इसके अनेक कारण हैं जैसे उद्योग के दर्शन को ठीक से न समझना, उद्योग शिक्षण की दूषित व्यवस्था, प्रशिक्षण अवधि में उद्योग में स्वावलंबन पर बल न देना, उद्योग शिक्षण हेतु उपयुक्त स्टाफ का अभाव आदि।

कक्षा अभ्यास पाठों के कार्यक्रमों के अंतर्गत पाठ-अवलोकन, पाठों की आलोचना, आदर्श पाठ, कक्षा शिक्षण आदि गतिविधियां आती हैं। परंतु कक्षा अभ्यास पाठों को बहुधा औपचारिक रूप से पूर्ण करा दिया जाता है। छात्र शिक्षक की यह धारणा रहती है कि प्रशिक्षण संस्थाओं में पढ़ाई गई शिक्षण

विधियां काम में नहीं आती हैं। सैद्धांतिक ज्ञान तथा व्यावहारिक कार्य का मेल न बैठने से कक्षा शिक्षण में सुधार नहीं होता है तथा प्रशिक्षण का प्रभाव कक्षा शिक्षण पर नहीं पड़ता है।

वर्तमान समय में शिक्षा में सामुदायिक जीवन का महत्त्व बढ़ रहा है। पर यह देखा जाता है कि प्रशिक्षण संस्थाओं में सामुदायिक जीवन छात्रावास में एक साथ बैठकर खाने-पीने के बर्तनों को साफ करने, बगीचे की देखभाल, अपने कमरे की सफाई आदि तक ही सीमित है। ऊंच-नीच सैद्धांतिक रूप में तो नहीं मानी जाती है परंतु व्यवहार में बहुधा मानी जाती है। सामुदायिक जीवन के शिक्षण की व्यवस्था तो बहुत कम स्थानों में है। इसीलिए प्रशिक्षण संस्थाओं में सामुदायिक जीवन से संबंधित अनेक समस्याएं विद्यमान हैं जिनका समाधान होना आवश्यक है।

(11) योग्य क्षमतावान स्टाफ की नियुक्ति की समस्या

संस्था की सफलता दो बातों पर निर्भर करती है :

(1) भौतिक साधन, (2) मानवीय साधन या स्टाफ की योग्यता। परंतु मानवीय साधनों की योग्यता तथा क्षमता अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व की है। आज शिक्षा में सामुदायिक जीवन, रचनात्मक कार्य, उद्योग, उचित मानवीय संबंध आदि का महत्त्व अधिक है। पर इन सभी गुणों से युक्त व्यक्ति की ही नियुक्ति स्टाफ में होती है। इसीलिए प्रशिक्षण संस्थाओं में उचित प्रवृत्तियों, उचित रुचियों वाले व्यक्तियों का अभाव ही रहता है।

(12) उचित पर्यवेक्षण तथा निरीक्षण की समस्या

वर्तमान समय में प्रशिक्षण सस्थाओं में पर्यवेक्षण तथा निरीक्षण की व्यवस्था अच्छी नहीं है। निरीक्षण जहां कहीं होता है वह औपचारिक, आधिकारिक तथा रूढ़िगत होता है। इसके अनेक कारण हैं। (1) निरीक्षकों का कम योग्यता वाला होना, (2) संस्था के प्राचार्य का कम योग्य होना, (3) निरीक्षक तथा संस्था के प्राचार्य अधिकारों का उचित वितरण न होना आदि प्रमुख हैं।

पर्यवेक्षण तथा निरीक्षण की उचित व्यवस्था न होने से शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं का समुचित विकास नहीं हो पा रहा है।

(13) सेवारत शिक्षक : सेवा तथा प्रसार संबंधी समस्या

पूर्व प्राथमिक तथा प्राथमिक स्तरीय शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं में प्रसार सेवाओं तथा सेवारत सेवा की व्यवस्था जैसी होनी चाहिए वैसी नहीं है।

माध्यमिक शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालयों में भी इनकी व्यवस्था संतोषप्रद नहीं है। इनके संबंध में अनेक समस्याएं हैं : जैसे नवीन केंद्रों में उपयुक्त तथा समुचित स्टाफ का न होना, पर्याप्त भौतिक साधन न होना, प्रसार केंद्रों में धन समय पर उपलब्ध न होना, सेमीनार गोष्ठियों आदि के निर्णय कार्यान्वित न होना आदि।

(14) प्रशासनिक तथा संगठनात्मक समस्या

शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं में प्रशासनिक तथा संगठन संबंधी समस्या अति जटिल है। शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं के प्राचार्य एवं शिक्षक अपने अधिकारों के प्रति अधिक सजग तथा छात्राध्यापकों के कर्तव्यों के प्रति कम सजग रहते हैं। स्टाफ के शिक्षकों तथा छात्र शिक्षकों के संबंध अच्छे न होने के कारण भी अनेक समस्याएं उपस्थित हो जाती हैं।

(15) अपव्यय की समस्या

अपव्यय की समस्या तो शिक्षक प्रशिक्षण के प्रत्येक स्तर पर विद्यमान है। प्रशिक्षण का अपव्यय महिला शिक्षिकाओं की शादी होने के बाद शिक्षकीय कार्य न करने, शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं में संपूर्ण सीटें न भर पाना आदि के रूप में है। बी० एड० स्तर का प्रशिक्षण लेने के उपरांत प्राथमिक विद्यालयों में कार्य करने का अवसर मिलना भी माध्यमिक स्तर के प्रशिक्षण का अपव्यय है।

(16) प्रशिक्षण महाविद्यालय की संबद्धता

वर्तमान समय में शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाएं तीन संस्थाओं से संबद्ध हैं—(1) विश्वविद्यालय, (2) निजी संगठनों, तथा (3) राज्य के शिक्षा विभाग से। कहीं-कहीं शिक्षक प्रशिक्षण का उत्तरदायित्व राज्य का है। विश्वविद्यालय केवल परीक्षाओं के लिए जिम्मेदार रहते हैं। किन्हीं राज्यों की ओर से डिप्लोमा वितरित किए जाते हैं। कहीं स्वतंत्र शास्त्र के रूप में शिक्षक प्रशिक्षण का विश्वविद्यालय ही उत्तरदायित्व निर्वाह कर रहा है। इस प्रकार इसमें एकरूपता नहीं है।

(17) मूल्यांकन संबंधी समस्या

साधारण तथा प्रशिक्षण संस्थाओं में आंतरिक तथा वाह्य दोनों विधियों को ही अपनाया जा रहा है। कही-कहीं आंतरिक मूल्यांकन पर ही आज मूल्यांकन किया जा रहा है। मूल्यांकन आज जिस प्रकार किया जाता है उससे प्रशिक्षण

के उद्देश्यों की कितनी उपलब्धि हुई है तथा शिक्षण विधियां कितनी उपयोगी हुई हैं इसका ज्ञान नहीं हो पाता है। इसमें अनेक दोप पाए जाते हैं। अभ्यास पाठों के जो आंतरिक तथा बाह्य मूल्यांकन होते हैं वे भी पूर्णतया प्रामाणिक, समुचित तथा निरपेक्ष होते हैं। अभ्यास पाठ मूल्यांकन हेतु एक ही विश्व-विद्यालय या वोर्ड के अंतर्गत विभिन्न योग्यता वाले विभिन्न व्यक्ति जांचते हैं, जिससे मूल्यांकन में अंतर आ जाता है। इस तरह मूल्यांकन की समस्या भी शिक्षक प्रशिक्षण में अति जटिल समस्या है।

शिक्षक प्रशिक्षण की समस्याओं को दूर करने के उपाय

(1) प्रामाणिक परीक्षणों तथा प्रत्यक्ष भेंट के आधार पर छात्र शिक्षकों के चुनाव होने चाहिए। साथ ही साथ यह चुनाव प्रशिक्षण संस्था के प्राचार्य तथा स्टाफ द्वारा किया जाना चाहिए क्योंकि वे संभावित शिक्षकों की क्षमताओं को अपेक्षाकृत अधिक अच्छी तरह जानते हैं और समझकर चुनाव कर सकते हैं। प्रशिक्षण के लिए चुने हुए सभी छात्र शिक्षकों को प्रशिक्षण लेने के लिए आकर्षित करने हेतु यथेष्ट वेतन प्राप्त होना चाहिए। उन्हें ऋण लेने की सुविधा प्राप्त होनी चाहिए। शिक्षक संस्थाओं में निर्देशन केंद्र खोले जाने चाहिए जहां योग्य लोगों को शिक्षक वनने के लिए आकर्षित कर सकने संवंधी उपाय सुझाए जाए।

(2) शिक्षक प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम का पुनर्गठन इस ढंग से करना चाहिए जिससे छात्र-शिक्षकों की (i) व्यावसायिक क्षमता का विकास, (ii) व्यक्तित्व का विकास, (iii) अवकाश के लिए प्रशिक्षण, तथा (iv) संबंधित क्षेत्र में ज्ञान की वृद्धि हो सके। पाठ्यक्रम में सैद्धांतिक ज्ञान के साथ-साथ व्यावहारिक कार्य का सत्रीय कार्य कराने संवधी विस्तृत विवरण भी समाविष्ट किया जाना चाहिए। वैकल्पिक विषयों के शिक्षण का अधिकाधिक प्रावधान होना चाहिए जिससे वी० एड० आदि के छात्र शिक्षक अपनी रुचियों और योग्यताओं के अनुसार विषय ले सकें। माध्यमिक स्तरीय शिक्षक प्रशिक्षण को उद्योग केंद्रित तथा क्रिया के आधार पर बहु-उद्देशीय वनाने के प्रयास किए जाने चाहिए।

(3) बुनियादी तथा गैर बुनियादी दोनों पाठ्यक्रमों को विकसित किया जाए ताकि उनके दोष दूर हो सकें और एक उपयोगी एवं आकर्षक पाठ्यक्रम छात्र शिक्षकों के लिए वन सके। इसके लिए गैर वुनियादी पाठ्यक्रम में सैद्धांतिक भाग को कम करना चाहिए तथा उसमें वांछित परिवर्तन एवं सुधार करना चाहिए। व्यावहारिक कार्य को अधिक महत्त्व दिया जाए और सामुदायिक जीवन, उद्योग और समवायी शिक्षा पर वल दिया जाए। इस तरह से दोनों

प्रकार के पाठ्यक्रमों में समन्वय स्थापित होना चाहिए। इस प्रकार के प्रयत्न विद्याभवन ट्रेनिंग कालेज, विश्वभारती में हो रहे हैं। आशा है कि वे अपने प्रयत्नों में सफलीभूत होंगे।

(4) शिक्षक प्रशिक्षण केंद्रों में अध्ययन करने वाले छात्र शिक्षकों को अधिक नियंत्रण में नहीं रखना चाहिए। प्रशिक्षण केंद्रों को स्वतंत्र एवं सक्रिय समाजों के रूप में व्यवस्थित किया जाए।

(5) अध्यापक शिक्षा के निम्न स्तर की समस्या तभी हल हो सकती है जब शिक्षक प्रशिक्षण केंद्र में सैद्धांतिक तथा व्यावसायिक शिक्षण को सफल बनाने के प्रयास किए जाएं।

(6) शोध कार्य को प्रोत्साहन देने के लिए एक पृथक् अनुसंधान विभाग की व्यवस्था करनी चाहिए जो कि एम० एड० तथा पी-एच०डी० छात्र, छात्राओं तथा शिक्षकों का मार्ग निर्देशन करे। इस ओर शिक्षा मंत्रालय महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है। अनुसंधान कार्य के लिए केंद्रीय सरकार पर्याप्त वित्त देती है पर शिक्षा में शोध बहुत कम हो रहे हैं। अतः इस दिशा में और अधिक प्रयास किए जाने चाहिए। एम० एड० स्तर पर किए जा रहे शोध कार्यों के निष्कर्षों को शीघ्र से शीघ्र विद्यालयों में प्रसारित करने की व्यवस्था की जाए।

(7) शिक्षक शिक्षा की अवधि में विभिन्नता से संबंधित समस्या का समाधान सभी प्रशिक्षण विद्यालयों में अवधि की मात्रा में भिन्नता को समाप्त करके कर लिया जाना चाहिए। अंडर ग्रेजुएट छात्र शिक्षकों का पाठ्यक्रम यदि दो वर्ष का है तो यह ठीक है।

(8) शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं की भौतिक सुविधाओं तथा साधनों को उन्नत तथा संपन्न बनाया जाना चाहिए। इसके लिए प्रत्येक स्तर पर प्रशिक्षण संस्थाओं के लिए समुचित स्टाफ, फर्नीचर, उपकरण, इमारत, कार्यालय का सामान आदि बातों की व्यवस्था होनी चाहिए।

(9) कक्षा शिक्षण तथा अभ्यास पाठों के साथ-साथ शारीरिक शिक्षा, प्रशासन तथा पर्यवेक्षण, शैक्षणिक तथा व्यावसायिक निर्देशन, विद्यालय अभिलेख भरना आदि अनेक कार्यों का व्यावहारिक ज्ञान वास्तव में प्रत्यक्ष कार्यों के आधार पर दिया जाना चाहिए। उद्योग कार्य तथा सामुदायिक जीवन को भी शिक्षक प्रशिक्षण का मुख्य अंग बनाकर उनकी उचित व्यवस्था की जानी चाहिए।

(10) प्रशिक्षण संस्थाओं का स्टाफ उचित प्रवृत्तियों, रुचियों, क्षमताओं वाला होना चाहिए। स्टाफ में ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति की जाए जो सामुदायिक जीवन, रचनात्मक कार्य आदि में रुचि रखते हों। सतत ज्ञानवर्धन की लगन, अच्छी सूझबूझ आदि गुणों का भी स्टाफ के व्यक्तियों में होना अत्यंत आवश्यक है।

(11) शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं के पर्यवेक्षण तथा निरीक्षण के लिए अनुभवों एवं योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति की जानी चाहिए। शिक्षा संचालक, निरीक्षक आदि प्रशासनिक तथा अन्य कार्यों में इतने व्यस्त रहते हैं कि ये पर्यवेक्षण तथा निरीक्षण का कार्य सुव्यवस्थित तथा समुचित ढंग से नहीं देख पाते। एक ही व्यक्ति के लिए दोनों कार्य कर पाना असंभव भी है। अतः यह आवश्यक है कि प्रशिक्षण संस्थाओं के निरीक्षण तथा पर्यवेक्षण एवं मार्गदर्शन हेतु अलग-अलग व्यवस्था की जाए। साथ ही माथ प्रशिक्षण संस्थाओं को अपने-अपने क्षेत्र के विद्यालयों को शैक्षणिक निर्देशन देने के अधिकार तथा सुविधाएं भी दी जानी चाहिए।

(12) सेवारत शिक्षकों के स्तर तथा समस्याओं के समाधान हेतु शिक्षकों की सेवा का प्रसार तथा पुनर्गठन किया जाना चाहिए। प्रत्येक शिक्षण संस्था में प्रसार सेवाएं संगठित की जानी चाहिए। ग्रंथालयों को समृद्ध और आकर्षक वनाया जाना चाहिए। दृश्य-श्रव्य सामग्री का उपयोग तथा व्यवस्था संबंधी प्रशिक्षण सभी छात्र शिक्षकों को उपलब्ध करवाया जाना चाहिए।

(13) शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं में प्रशासन तथा संगठन लोकतंत्रीय एवं सहयोगी होना आवश्यक है। विद्यालयों में लोकतंत्र का विकास करने के लिए शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं को भी अपना प्रशासन तथा संगठन लोकतंत्रीय करके छात्र शिक्षकों के समक्ष आदर्श उपस्थित करना चाहिए।

(14) अपव्यय को कम करके प्रशिक्षण को अधिक से अधिक प्रभावी और उपयोगी वनाने के प्रयास करने चाहिए।

(15) माध्यमिक स्तर के सभी शिक्षक प्रशिक्षण केंद्रों के संवंध सीधे विश्वविद्यालय से होना चाहिए। प्राथमिक तथा पूर्व प्राथमिक स्तर की संस्थाओं का उत्तरदायित्व एक पृथक् परिषद् के हाथों में होना चाहिए। इन्हें राज्यों के नियंत्रण में देना ठीक नहीं है।

(16) शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं में मूल्यांकन को निरपेक्ष, प्रामाणिक तथा समुचित वनाने के प्रयत्न किए जाने चाहिए। आंतरिक्र एवं बाह्य मूल्यांकन में संवंध होना चाहिए। वर्ष भर के कार्यों तथा प्रगति के आधार पर मूल्यांकन किया जाना चाहिए। नवीन मूल्यांकन विधि का सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक ज्ञान सभी छात्र शिक्षकों को कराया जाना चाहिए।

(17) शिक्षक प्रशिक्षण पर व्यय कम करने तथा शोध कार्य को वढ़ावा देने के लिए वहुस्तरीय शिक्षक प्रशिक्षण एक ही संस्था में व्यवस्थित किए जाने चाहिए, यह उपयोगी सिद्ध होगा। क्रियात्मक अनुसंधान विधि के उपयोग, महत्त्व, व्यवस्था, कार्य विधि आदि का सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक ज्ञान छात्रों को कराना चाहिए।

(18) शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं के ग्रंथालयों को संपन्न करने के प्रयास करने चाहिए। छात्र शिक्षक जिन पुस्तकों को अधिक पढ़ते हैं उनकी अधिक से अधिक प्रतियां संगृहीत की जानी चाहिए। प्रत्येक प्रशिक्षण सस्था में शिक्षा संबंधी पत्र-पत्रिकाएं अधिक से अधिक उपलब्ध कराई जानी चाहिए। ग्रंथालयों में सुविधापूर्वक पढ़ने-लिखने की सुविधाएं उपलब्ध कराई जानी चाहिए। अंगरेजी की वे ही पुस्तकें जो मान्य हों तथा जिनको छात्र पढ़ें, रखी जानी चाहिए। क्षेत्रीय भाषाओं तथा राष्ट्रभाषा में शिक्षा संबंधी साहित्य के विकास के प्रयास किए जाएं।

(19) माध्यमिक शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालयों के अंतर्गत सभी स्तरों के अभ्यास विद्यालय खोले जाएं जिससे बालकों के विकास की समस्याओं और सभी स्तर की शिक्षण विधियों आदि के संबंध में शोध या प्रयोग करने की कठिनाई न महसूस हो। छात्र शिक्षकों को कृषि सुधार, सहकारिता, जानवरों की नस्ल सुधार, गृह उद्योग का ज्ञान कराया जाना चाहिए। जिससे शिक्षक ग्रामोत्थान में अधिक प्रभावी ढंग से सहायक सिद्ध हो सकेंगे।

(20) प्रशिक्षण संस्थाओं में नोट्स के स्थान पर विचार विमर्श, मनन, स्वाध्याय, ट्यूटोरियल विधियों का उपयोग अधिक किया जाना चाहिए।

अन्य सुझाव : भारतीय शिक्षा आयोग (सन् 1964–66) ने शिक्षक शिक्षा को उन्नत करने के लिए अनेक सुझाव दिए हैं। आयोग का कथन है कि शिक्षक शिक्षा का स्तर उच्च होना चाहिए। इसके अभाव में यह वित्तीय अपव्यय तो है ही, सार्वजनिक रूप से शैक्षिक स्तर के नीचे होने का भी प्रमुख कारण है। अतः शिक्षक शिक्षा के उन्नन होने का भी प्रमुख कारण है। अतः इसे सार्वजनिक महत्त्व दिया जाना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि विश्वविद्यालयों के सहयोग से पाठ्यक्रम व्यवस्थित किए जाएं। ये शिक्षकों के द्वारा पढ़ाए जाएं। उनके द्वारा पढ़ाए जाने वाले विषयों के लक्ष्यों, विचारों आदि के संबंध में अंतर्दृष्टि विकसित करें। विद्यालयों में सामान्य एवं व्यावसायिक शिक्षा के समन्वित कार्यक्रम व्यवस्थित किए जाएं। शोध कार्य के द्वारा भारतीय स्थितियों में शिक्षक शिक्षा की व्यावसायिक शिक्षा को सबल बनाया जाए। शिक्षक शिक्षा में शिक्षण विधियों को उन्नत करने की दृष्टि से स्वयं अध्ययन, वादविवाद, मूल्यांकन की उन्नति एवं प्रामाणिक विधियों (सतत मूल्यांकन एवं सत्रीय कार्य) का उपयोग किया जाए। अभ्यास शिक्षण हेतु पूर्ण इंटरशिप की व्यवस्था की जाए। सभी स्तरों पर शिक्षक पाठ्यक्रम का पुनर्गठन होना चाहिए, शिक्षक शिक्षा सत्र कम से कम 230 दिन का रहना चाहिए। राज्य शिक्षक शिक्षा संगठनों का विकास एवं उनके द्वारा शिक्षक शिक्षा पाठ्यक्रम

का सर्वेक्षण एवं सुधार किया जाना चाहिए, स्नातकोत्तर स्तर पर विविध एवं लचीला पाठ्यक्रम विकसित करना चाहिए जिससे शिक्षा के क्षेत्र के लिए आवश्यक विभिन्न प्रकार के कार्यों को करने वाले अधिकारियों को उचित मार्ग-दर्शन एवं प्रशिक्षण मिल सके। शिक्षक शिक्षा संस्थाओं में योग्य एवं समुचित रूप से शिक्षित, यथासंभव माध्यमिक शिक्षक शिक्षा महाविद्यालयों में पढ़ाए जाने वाले विषय एवं शिक्षा में स्नातकोत्तर डिग्री प्राप्त व्यक्तियों की नियुक्ति, शिक्षक शिक्षा संस्थाओं के स्टाफ को उन्नत बनाने हेतु ग्रीष्मकालीन शिविरों का आयोजन, प्राथमिक स्तर के शिक्षकों के पत्राचार पाठ्यक्रम की व्यवस्था, प्रशिक्षण संस्थाओं में फीस लेने की प्रथा की समाप्ति, शिक्षक शिक्षा प्राप्त करने हेतु ऋण, छात्रवृत्ति या अन्य आर्थिक सहायता। प्रशिक्षण अवधि में छात्र शिक्षकों को कम व्यय पर रहने का या छात्रावास की सुविधाओं की उपलब्धि, छात्र शिक्षकों को कुछ काम करके आय करते रहने की सुविधा आदि अनेक ऐसे उपाय हैं जिनको अपनाकर शिक्षक शिक्षा को उन्नत बनाया जा सकता है।

8

महिला शिक्षा तथा सहशिक्षा

जवाहरलाल नेहरू ने महिला शिक्षा के महत्त्व को दर्शाते हुए कहा था कि 'किसी लड़के की शिक्षा का अर्थ है एक व्यक्ति की शिक्षा परंतु किसी बालिका की शिक्षा संपूर्ण कुटुम्ब की शिक्षा है।' वास्तव में आधुनिक लोकतंत्रीय समाज में पुरुष एवं महिला दोनों की उत्तम शिक्षा की व्यवस्था अति आवश्यक है। महिला शिक्षा के संबंध में समाज में दो प्रकार की विचारधाराएं विद्यमान हैं। कुछ लोगों का विचार है कि महिलाओं का कार्यक्षेत्र गृह है। अतः इनकी शिक्षा बालकों की शिक्षा से भिन्न तथा गृहकार्य से संबंधित होनी चाहिए। परंतु अन्य विद्वान् इस बात में विश्वास करते हैं कि महिलाओं को पुरुषों के समान जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कार्य करना चाहिए तथा उनकी शिक्षा के लिए उन्हें बालकों के समान अवसर उपलब्ध होने चाहिए। इस प्रकार महिला शिक्षा के पाठ्यक्रम तथा व्यवस्था के संबंध में विभिन्न विचार पाए जाते हैं। परंतु यह तो सभी स्पष्ट रूप से मानते हैं कि समाज को उन्नत करने, देश की आर्थिक स्थिति ठीक करने आदि के लिए महिलाओं की शिक्षा की उचित व्यवस्था अति आवश्यक है। भारतीय समाज के अविकसित होने का सबसे प्रमुख कारण भारतीय महिला का अशिक्षित एवं परंपरावादी होना है। हम यह मानते हैं कि महिलाओं में घर में माता के रूप में तथा समाज में नागरिक के रूप में कार्यशील होने की क्षमता होनी चाहिए। अतः महिलाओं की शिक्षा में गृहकार्य में कुशलता बढ़ाने वाली बातें तथा नागरिक कौशल विकसित करने वाली बातें—दोनों का समावेश होना चाहिए।

सहशिक्षा की समस्या

महिला शिक्षा की समस्या का सहशिक्षा से बड़ा घनिष्ठ संबंध रहा है। इसके पक्ष तथा विपक्ष दोनों में अनेक तर्क दिए जा सकते हैं। अनेक विद्वानों

का विचार है कि सहशिक्षा से न तो कार्य उन्नत होता है और न अनुशासन रहता है। इससे नैतिकता का ह्रास होता है। अनेक लोग सहशिक्षा को भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के विरुद्ध मानते हैं। इससे शिक्षण संस्थाओं में अनुशासनहीनता तथा यौन-अपराधों की वृद्धि होती है। अनेक लोगों का विचार है कि सहशिक्षा वाली संस्थाओं से असंतुलित व्यक्तित्व वाले व्यक्तियों का विकास होना है। फलस्वरूप समाज में अनेक समस्याएं विकसित होती हैं। भारत में बालकों के लिए निर्धारित पाठ्यक्रम महिलाओं के लिए भी निर्धारित रहता है। इस प्रकार पौरुष तत्त्वों से निहित बातों का अध्ययन ही महिलाओं को करना पड़ता है। अतः महिलाओं में मान्य एवं उचित कौशलों तथा गुणों का जैसा विकास होना चाहिए वैसा नहीं हो पाता है। पर्याप्त संख्या में महिला शिक्षकों का न मिलना भी बालिका विद्यालयों की एक समस्या है। विशेषतः ग्रामीण क्षेत्रों में तथा गणित एवं विज्ञान विषयों के लिए। सहशिक्षा वाली संस्थाओं में एक शिकायत सामान्यतः पाई जाती है कि पुरुष शिक्षक बालिकाओं के प्रति नरम रुख रखते तथा उन्हें बढ़ावा देते हैं जिससे बालक-बालिकाओं में द्वंद्व की स्थिति विकसित हो जाती है। इससे दलबंदी को भी बढ़ावा मिलता है। सहशिक्षा वाले विद्यालयों में बालक महिलाओं के लिए उचित गुणों का विकास भी करने लगते हैं तथा महिलाएं पुरुषों के लिए आवश्यक गुणों का विकास करती हैं। इससे दोनों के प्रौढ़ जीवन में अनेक समस्याओं का विकास होता है। भारत में तो अनेक माता-पिता अपनी बच्चियों को सहशिक्षा विद्यालयों में इसलिए भी नहीं भेजते हैं कि वे यह नहीं चाहते हैं कि उनकी लड़कियां लड़कों से मिलें या उनके साथ कुछ समय भी रहें। इन सभी समस्याओं के कारण सहशिक्षा वाले स्थानों में बालिकाएं कम से कम शिक्षित हो पाती हैं।

परंतु इसके विपरीत अनेक विद्वानों का विचार है कि सहशिक्षा बालिकाओं को दृढ़, वीर तथा स्वतंत्र बनाती है। इससे यौन-प्रवृत्ति का उदात्तीकरण होता है। सहशिक्षा व्यक्ति का संपूर्ण सामाजिक विकास करती है। सहशिक्षा वाली संस्थाओं के बालक बालिकाओं से उचित व्यवहार करना जानते हैं। वित्तीय दृष्टि से सहशिक्षा सस्ती तथा मितव्ययी सिद्ध होती है। महिला शिक्षकों की कमी को दूर करने की दृष्टि से भी यह उत्तम है। सहशिक्षा बालकों तथा बालिकाओं दोनों को उन्नति करने के लिए समुचित प्रोत्साहन देती है। सह-शिक्षा से यौन-स्वस्थता का विकास होता है। इन सभी कारणों से पश्चिमी विकसित देशों में तो सहशिक्षा को उपयोगी माना जाता है। परंतु अविकसित एवं विकसित हो रहे देशों में अभी भी सहशिक्षा की समस्या कठिन सी ही लगती है। भारत जैसे विकसित हो रहे देश में प्राथमिक स्तर पर सहशिक्षा को

मान्य करना शिक्षा के विकास को गति देना है। उच्च तथा माध्यमिक स्तरों पर जहां तक संभव हो बालक तथा बालिकाओं की विद्यालयों की व्यवस्था अलग-अलग की जाए। परंतु भारत में शिक्षा के प्रसार एव विकास के कारण सह-शिक्षा को प्रोत्साहन मिल रहा है। माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952–53) ने सहशिक्षा की समस्या के हल हेतु अनेक सुझाव दिए हैं। उन्हें अपनाकर इस समस्या को हल किया जा सकता है। माध्यमिक शिक्षा आयोग ने सुझाव दिया था कि सहशिक्षा वाली शिक्षण संस्थाओं में पुरुष एवं महिला दोनों प्रकार के शिक्षक नियुक्त करने चाहिए। इन विद्यालयों में महिलाओं के लिए शौच तथा अन्य सुविधाओं का पर्याप्त ध्यान दिया जाना चाहिए। बालिकाओं के लिए अलग कमरों तथा अन्य सुविधाओं की व्यवस्था करनी चाहिए। बालिकाओं के लिए सहपाठ्यक्रमगामी क्रियाएं अलग से व्यवस्थित की जा सकती हैं। विद्यालय की विभिन्न समितियों में महिला प्रतिनिधियों का उचित प्रतिनिधित्व रहे। विद्यालयों में छोटे-छोटे यौन अपराधों को तूल न दिया जाए। यदि संभव हो तो सहशिक्षा वाली संस्थाओं की प्रधान महिलाएं हों जिससे संस्था की बालिकाएं सुरक्षा का अनुभव करें। इस प्रकार सहशिक्षा को सफल बनाया जा सकता है।

महिला शिक्षा की समस्याएं

स्त्री शिक्षा के विकास के लिए उनकी समस्याओं पर ध्यान देना आवश्यक है। ये समस्याएं निम्न प्रकार की हैं :

(1) **स्त्री शिक्षा के प्रति सामान्य जनता की रूढ़िगत संकीर्णता एवं संकुचित विचारधारा :** पाश्चात्य देशों में स्त्री शिक्षा को अधिक महत्त्व दिया जाता है। परंतु हमारी अधिकांश भारतीय जनता रूढ़िगत एवं संकुचित विचार-धारा की है। हम स्त्रियों को केवल गृहिणी के रूप में प्रतिस्थापित करना चाहते हैं। समाज में पुरुषों को स्त्रियों की अपेक्षा बहुत ऊंचा स्थान देते हैं। इसी कारण स्त्री शिक्षा की उन्नति और महत्त्व को मान्यता नहीं प्राप्त हो रही है।

(2) **निरक्षरता एवं अज्ञानता :** भारत गांवों का देश है। हमारी भारतीय जनता अधिकांशतः गांवों में रहती है और गांव के अधिकांश व्यक्ति निरक्षर होते हैं जो शिक्षा के महत्त्व को नहीं मानते हैं। अतः ऐसी दशा में शिक्षा के पर्याप्त विकास की आशा नहीं की जा सकती है।

(3) **बाल विवाह की समस्या :** वर्तमान समय में भी अधिकांश हिंदू और मुसलमान रूढ़िवादी एवं संकीर्ण विचारधारा के हैं। वे प्रचलित परंपराओं के अनुसार, अपनी कन्याओं का विवाह अल्प आयु में कर देते हैं। अतः उनकी शिक्षा नहीं हो पाती है।

(4) **पर्दा प्रथा की समस्या** : स्त्री शिक्षा के विकास में बाधक पर्दा प्रथा भी है। आज भी मुसलमानों के यहां पर्दा प्रथा का रिवाज है। पर ग्रामीण क्षेत्रों में सब जातियों एवं वर्गों में यह प्रचलित है। इसी के कारण बालिकाओं की शिक्षा नहीं हो पाती है।

(5) **आर्थिक समस्या** : पर्याप्त धन के अभाव में भी स्त्री शिक्षा का समुचित विकास नहीं हो पा रहा है। गांवों की जनता में निर्धनता पूरी तरह से व्याप्त है और जो पैसा है वह लोग लड़कियों की शिक्षा की अपेक्षा लड़कों की शिक्षा पर व्यय करते हैं। लड़कियों को गृहस्थी के कामों में हाथ बंटाना पड़ता है इसलिए उनकी शिक्षा नहीं हो पाती है। निजी प्रयासों द्वारा स्थापित कन्या विद्यालयों को भी पर्याप्त अनुदान नहीं मिलता है, इसलिए विद्यालय बीच में ही टूट जाते हैं। विद्यालय भवन की कमी, शिक्षण सामग्री का अभाव, पुस्तकालय एवं प्रयोगशालाओं के अभाव में भी स्त्रियों की शिक्षा का समुचित विकास नहीं हो पाता है।

(6) **शैक्षिक समस्याएं** : शैक्षिक समस्याओं में शिक्षा पद्धति, पाठ्यक्रम एवं कार्यक्रम की समस्याएं हैं। बालकों की तरह बालिकाओं का पाठ्यक्रम, शिक्षा पद्धति एवं कार्यक्रम न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता है। अधिकांश स्त्रियों को उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् भी गृहिणी का जीवन व्यतीत करना पड़ता है। इसलिए उनकी शिक्षा पद्धति, पाठ्यक्रम एवं कार्यक्रम ऐसे रखे जाने चाहिए जो उनके गृहस्थ जीवन में सहायता प्रदान कर सकें। परंतु वर्तमान समय में स्त्रियों की शिक्षा में इन सब बातों का अभाव है। इसीलिए स्त्री शिक्षा का पर्याप्त विकास नहीं हो पा रहा है।

(7) **शिक्षिकाओं की समस्या** : कन्या विद्यालयों में प्रशिक्षित शिक्षिकाओं का अभाव है। यह समस्या ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक है। गांवों में स्त्रियां जाना पसंद नहीं करती हैं। इसीलिए वहां पर बालिकाओं की शिक्षा पर्याप्त लाभप्रद नहीं हो पा रही है। शिक्षिकाओं के अभाव के अनेक कारण हैं, जैसे वेतन में कमी होना, स्त्री शिक्षक प्रशिक्षण केंद्रों का अभाव, गांव में रहने के लिए उचित आवास व्यवस्था न होना आदि।

(8) **बालिकाओं के लिए पृथक् विद्यालय एवं कालेजों का अभाव** : बालिकाओं के लिए प्रत्येक स्तर पर (प्राथमिक, माध्यमिक, उच्च) अलग से विद्यालयों का अभाव है। ग्रामीण क्षेत्रों में तो यह समस्या और भी अधिक भयंकर है। अधिकांश गांवों में बालिकाओं के लिए अलग विद्यालयों की व्यवस्था नहीं है। ग्रामीण अशिक्षित होने के कारण बालिकाओं को बालकों के विद्यालय

में शिक्षा के लिए भेजना पसंद नहीं करते और उनके लिए प्रारंभ से ही अलग विद्यालय चाहते हैं।

(9) **स्त्री शिक्षा के प्रति सरकार का उदासीन दृष्टिकोण :** स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् जिस तेजी से छात्रों की शिक्षा का विकास हुआ है उसकी अपेक्षा स्त्रियों की शिक्षा का विकास बहुत ही कम हुआ है। हमारी सरकार बालकों की शिक्षा पर तो अधिक धन व्यय करती है परंतु स्त्रियों की शिक्षा पर बहुत ही कम। यही कारण है कि स्त्रियों की शिक्षा की उचित प्रगति नहीं हो रही है।

(10) **अपव्यय एवं अवरोधन की समस्या :** स्त्री शिक्षा में बाधक अपव्यय और अनुरोधन की समस्या भी भयंकर रूप धारण किए हुए है। बाल विवाह, घर के कार्यों के कारण अनेक बालिकाओं को प्राथमिक शिक्षा भी बीच से ही छोड़नी पड़ती है। इसलिए उन पर व्यय की गई राशि व्यर्थ जाती है। बालकों की अपेक्षा बालिकाओं की शिक्षा पर यह अवरोधन अधिक होता है।

(11) **स्त्री शिक्षा के प्रशासन एवं नियंत्रण की समस्या :** वर्तमान समय में भी अधिकांश स्थानों में शिक्षा का प्रशासन एवं नियंत्रण पुरुषों के ही अधिकार में है। स्त्री शिक्षा के विकास में यह बहुत ही बाधक है क्योंकि पुरुष वर्ग न तो स्त्री शिक्षा पर पर्याप्त ध्यान देता है और न उनकी समस्याओं से परिचित ही होता है। स्त्री निरीक्षकों की कमी है। इसके अभाव में कन्या विद्यालयों का निरीक्षण एवं मार्गदर्शन उचित ढंग से नहीं हो पाता है। स्त्रियों के नेतृत्व द्वारा ही स्त्रियों की शिक्षा का विकास हो सकता है।

(12) **मार्गदर्शन एवं शिक्षा निर्देशन की समस्या :** विकास के लिए उचित रुचियों तथा क्षमताओं का ज्ञान होना चाहिए। अतः प्रत्येक राज्य को जिला स्तर पर बालिकाओं के मार्गदर्शन तथा परामर्श के लिए शैक्षणिक परामर्शदाताओं की व्यवस्था करनी चाहिए और इस पद पर स्त्रियों को ही नियुक्त किया जाना चाहिए जो छात्राओं का उचित मार्गनिर्देशन कर सकें।

(13) **बढ़ती हुई बालिकाओं की संख्या :** वर्तमान समय में बालिकाओं की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। इन सबके लिए शिक्षा की व्यवस्था करना सरकार का कार्य है जो कि सरकार व्यवस्थित रूप से नहीं कर पा रही है। फलस्वरूप उन्हें बालकों के विद्यालयों में ही शिक्षा के लिए जाना पड़ता है। इसके कारण अनेक बालिकाओं को शिक्षा प्राप्त करने की आज्ञा अपने माता-पिता से नहीं मिल पाती। वर्तमान समाज एवं विद्यालयों में व्याप्त छात्र अनुशासनहीनता को देखते हुए अनेक अभिभावक अपनी लड़कियों को अशिक्षित रखना ही उचित समझते हैं।

(14) **ग्रामीण क्षेत्रों में अविकसित एवं पिछड़ी स्थिति :** भारत की अधिकांश जनता गांवों में रहती है। वह ग्रामीण क्षेत्र पिछड़ तथा अविकसित हैं। यहां रूढ़िगत परंपराएं अभी भी व्याप्त हैं, जिसके कारण जनता शिक्षा के महत्त्व को समझने में असमर्थ है। इसी के कारण वे अपनी बालिकाओं को शिक्षा दिलाना मात्र समय एवं धन का अपव्यय समझते हैं।

समस्याओं को दूर करने के सुझाव

(1) सामान्य जनता की रूढ़िगत संकीर्णता, संकुचित विचारधारा को समाप्त करने के लिए समाज शिक्षा की कक्षाओं को अधिकाधिक प्रोत्साहन देना चाहिए। माताएं जब यहां पर इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करेंगी तभी साहस प्राप्त करके अपनी बालिकाओं को शिक्षा के लिए भेजेंगी। इससे निरक्षरता एवं अज्ञानता की समस्या हल होगी।

(2) स्त्री शिक्षा के पर्याप्त विकास के लिए केंद्रीय सरकार, राज्य सरकार तथा व्यक्तिगत संस्थाओं को मिलकर धन की व्यवस्था करनी चाहिए। बालकों तथा बालिकाओं के शिक्षा के आंकड़ों में जो अंतर है उसे शीघ्र ही समान करने का प्रयास किया जाना चाहिए। आशा है कि सरकारी तथा निजी प्रयत्नों द्वारा यह समस्या शीघ्र ही हल की जाएगी। सरकार को स्त्रियों की शिक्षा के विकास के लिए पर्याप्त धन की व्यवस्था करनी चाहिए। इसके बिना स्त्रियों की शिक्षा की प्रगति संभव नहीं है।

(3) बाल विवाह, पर्दा प्रथा आदि सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिए समाज सुधारकों एवं संस्थाओं और नेताओं को सहयोग देना चाहिए। इनकी सहायता से अभिभावकों में व्याप्त रूढ़िगत एवं संकीर्ण विचारों का अंत हो सकेगा और वे स्त्री शिक्षा की ओर उन्मुख होंगे। वर्तमान समय में तो स्त्री शिक्षा के प्रति काफी ध्यान दिया जा रहा है परंतु इस दिशा में और अधिक सघन प्रयास किए जाने चाहिए।

(4) बालिकाओं की शिक्षण विधियों तथा पाठ्यक्रम में परिवर्तन होना चाहिए। पाठ्यक्रम बालिकाओं की रुचियों, क्षमताओं एवं आवश्यकताओं के अनुकूल होना चाहिए। विशेषकर माध्यमिक शिक्षा स्तर पर गृह विज्ञान, सिंचाई, कटाई, बुनाई, पाकशास्त्र, शिशु संरक्षण आदि की शिक्षा बालिकाओं को मिलनी चाहिए। इन विषयों को पाठ्यक्रम में स्थान देना चाहिए। बालिकाओं को नृत्य, संगीत आदि की शिक्षा भी मिलनी चाहिए। इसीलिए इन विषयों की शिक्षण व्यवस्था भी विद्यालयों में होनी आवश्यक है। बालिकाओं के शारीरिक स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए खेलकूद और व्यायाम आदि की

व्यवस्था होनी चाहिए। साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम भी विद्यालयों में होना चाहिए जिससे उनका सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास हो सकेगा।

(5) शिक्षिकाओं के वेतनमान को अधिक आकर्षक बनाकर महिलाओं को शिक्षा की ओर आकर्षित किया जा सकता है। साथ ही बालकों के विद्यालयों में भी अध्ययन कार्य हेतु प्राथमिक स्तर पर महिलाओं की नियुक्ति किए जाने में कोई हिचकिचाहट नहीं की जानी चाहिए।

(6) विद्यालय भवन की कमी को, विद्यालयों को 'शांति निकेतन' की भांति खुली जगहों में कक्षाएं लगाकर, विद्यालय भवनों में पालियों में स्कूल लगाकर तथा पंचायत घर, मंदिर के अहाते तथा मीटिंग आदि करने के लिए बनाए गए भवनों का उपयोग शिक्षा हेतु करके इस समस्या को हल किया जा सकता है। यों तो हमारी सरकार पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत विद्यालय भवनों के विस्तार तथा निर्माण पर काफी धन व्यय कर रही है। पर देश की बाह्य आक्रमण से विपन्न अवस्था में यह आवश्यक हो गया है कि नये भवन न बना कर पूर्व निर्मित भवनों का अधिकाधिक उपयोग किया जाए तथा विद्यालय खुले क्षेत्रों में लगाए जाएं।

(7) स्त्री शिक्षा की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा प्रशासन में ऐसा सुधार किया जाए कि सभी शिक्षा का उत्तरदायित्व स्त्रियों के हाथ में ही रहे। स्त्री निरीक्षकों की संख्या बढ़ाई जाए।

(8) बालिकाओं के मार्गदर्शन एवं शिक्षा निर्देश देने के लिए योग्य पथ-प्रदर्शिकाओं की व्यवस्था होनी चाहिए जो कि बालिकाओं का पथ-प्रदर्शन विद्यालय विषयों के चुनाव तथा अन्य समस्याओं के हल हेतु करें।

(9) बालिकाओं की बढ़ती हुई संख्या को हम परिवार नियोजन के आधार पर नियंत्रित कर सकते हैं, परंतु साथ ही बालिकाओं की बढ़ती हुई जन-संख्या के अनुरूप शिक्षा की अधिकाधिक सुविधाओं को जुटाना भी आवश्यक है। केवल परिवार नियोजन को ही उसका एकमात्र हल नहीं मान लेना चाहिए।

(10) ग्रामीण जनता के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने के लिए समाज को प्रोत्साहन देना चाहिए। इससे ग्रामीणों का दृष्टिकोण विस्तृत होगा और वे स्त्री शिक्षा के महत्त्व को भली भांति समझ सकेंगे तथा अपनी बालिकाओं को शिक्षित करने की ओर अधिक ध्यान सजगता से देंगे।

9

बुनियादी शिक्षा

हमारे देश के जनतंत्रात्मक गणराज्य बनने के कारण शिक्षा का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया है। एक सफल जनतंत्र जनता के शिक्षित होने तथा उसके अच्छे नेतृत्व पर निर्भर है। इस उद्देश्य-पूर्ति के लिए हमारे संविधान के निर्देशक तत्त्वों में इंगित किया गया है कि प्रत्येक राज्य 6 से 14 वर्ष तक के सभी बालक-बालिकाओं को दस वर्ष में निःशुल्क, सर्वव्यापी और अनिवार्य शिक्षा देने का प्रयत्न करेगा। केंद्रीय तथा प्रांतीय सरकारें संविधान के इस निर्देश को पूर्ण करने का भरसक प्रयत्न करेंगी। वर्तमान प्रारंभिक शिक्षा संकीर्ण, पुस्तकीय तथा ग्रामीण क्षेत्रों के लिए अनुपयुक्त है। इन्हीं तथा कुछ अन्य कारणों से प्रारंभिक शिक्षा के पुर्नानिर्माण के लिए उसे बुनियादी शिक्षा में परिवर्तित किया गया है। बुनियादी शिक्षा में समाज में प्रचलित हस्तकार्य की शिक्षा का माध्यम बनाया गया है। इसमें पाठ्यक्रम के अन्य सभी विषय हस्तकार्य के चारों ओर संगठित किए गए हैं। इस प्रकार बुनियादी शिक्षा न केवल वयस्कों का बौद्धिक विकास करके उन्हें अपने वातावरण तथा संस्कृति को समझाने में सहायक होती है वरन् सामाजिक प्रगति में योग भी देती है। इसी विशेष गुण के कारण केंद्र तथा राज्य सरकारों ने उसे 6 से 14 वर्ष तक के बालक-बालिकाओं के लिए शिक्षा प्रणाली के रूप में अंगीकार किया है। अवाड़ी कांग्रेस अधिवेशन में भी बुनियादी शिक्षा में सरकारी नीति तथा निष्ठा की पुष्टि की गयी। परंतु बुनियादी शिक्षा का प्रसार देश में जैसा होना चाहिए था नहीं हो सका।

बुनियादी शिक्षा का आधार

बुनियादी शिक्षा हमारे राष्ट्र के आदर्शों और मान्यताओं के अनुकूल ठहरती है। वास्तव में बुनियादी शिक्षा व्यक्तियों और समूहों के उद्देश्यों और आदर्शों के अनुकूल विकसित होती है तथा यह उनके आदर्शों और उद्देश्यों को

भी प्रभावित करके एक रूप देती रहती है। हमें यदि जीवित रहना है तो अपने वातावरण के अनुकूल हमें स्वयं को बदलना चाहिए। इससे हमारा समुचित विकास हो सकता है। हमारे लिए अपने वातावरण के अनुकूल बनना ही आवश्यक नहीं है वरन् उसका पुर्नानिर्माण करना भी आवश्यक है। बुनियादी शिक्षा हमें अपने वातावरण का समुचित उपयोग करके उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु विकसित करना सिखलाती है।

हम सभी यह जानते हैं कि कोई भी सामाजिक सुधार बिना शिक्षा के नहीं हो सकता। गांधी जी इसे और भी अच्छी तरह जानते थे, इसीलिए उन्होंने राष्ट्रीय एकता और उचित सामाजिक भावनाओं के विकास के लिए बुनियादी शिक्षा को एक बड़ा प्रभावशाली साधन माना। मानव सामाजिक प्राणी है और वह समाज में रहना पसंद करता है। बुनियादी शिक्षा मानव की इस प्रवृत्ति के समुचित उपयोग के लिए उसे एक सहकारी समाज का सदस्य मानती है। बुनियादी विद्यालय समाज का छोटा रूप होता है। इस प्रकार विद्यालय को एक समाज मानने से वह नागरिकता की शिक्षा के लिए अनुकूल तथा उपयुक्त वातावरण का निर्माण करती है। बुनियादी विद्यालय में बालक एक समाज के सदस्य के रूप में रहते हैं तथा एक दूसरे के प्रति अपने उत्तरदायित्वों और कर्त्तव्यों का निर्वाह करते हैं। इस प्रकार बुनियादी शिक्षा समाज में प्रचलित स्वार्थ की भावनाओं और निर्बाध स्वतंत्रता से दूर बालक के मस्तिष्क में यह भावना भरती है कि वह एक जीवित और सक्रिय समाज का सदस्य है। इस भावना के कारण वह समूह में अपनी सभी विद्यालयीय क्रियाओं और प्रवृत्तियों को विकसित करता है। इन क्रियाओं की सामाजिक उपयोगिता भी होती है। इस प्रकार बुनियादी शिक्षा प्रारंभ से ही सहकारिता और उत्तरदायित्व की उचित भावनाओं का विकास करती है।

प्रयोगों द्वारा मनोवैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि व्यक्ति किसी भी प्रक्रिया में सक्रिय सहयोग देकर शीघ्र ही कुछ भी सीख सकता है। अतः शिक्षा के लिए बालकों की क्रियाशीलता बड़ी उपयोगी है। बुनियादी शिक्षा में बालक की क्रियाशीलता का समुचित उपयोग किया जाता है। पाश्चात्य देशों में बालक की इस क्रियाशीलता के उपयोग के लिए विभिन्न प्रकार के आयोजनों एवं क्रियाओं को क्रियान्वित कराया जाता है। वहां इस बात का ध्यान रखा जाता है कि क्रिया रचनात्मक तथा सामाजिक दृष्टि से उपयोगी हो। गांधी जी ने बुनियादी शिक्षा की क्रियाओं में सामाजिक उपयोगिता के तत्त्वों का उपयोग करके एक मौलिक उदाहरण उपस्थित किया है। बुनियादी शिक्षा की क्रियाओं में एक सामाजिक उपयोगिता के तत्त्व के कारण ही बुनियादी शिक्षा का महत्त्व

बहुत अधिक बढ़ गया है। इससे बालक का मस्तिष्क विकसित होता है और उसे व्यावहारिक ज्ञान भी मिलता है। मस्तिष्क और हाथों का प्रयोग करके बालक एक ऐसे उद्योग को सीखता है जो समाज के लिए हितकर होता है और जिससे उसके अपने व्यक्तित्व का भी संतुलन विकसित होता है। इस दृष्टि से भी बुनियादी शिक्षा उपयोगी और महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती है।

बुनियादी शिक्षा के मूलोद्योग तथा जीवन की ठोस परिस्थितियों पर आधारित होने से सामाजिक उपयोगिता के साथ-साथ अन्य अनेक लाभ हैं। उत्पादक उद्योग से समाज को बना-बनाया सामान मिलता है। बालक स्वयं उत्पादन करके अपने द्वारा बनाई गई वस्तुओं को देखकर प्रसन्न होते हैं। इससे उनमें आत्म-निर्भरता, आत्म-विश्वास, उत्तरदायित्व की भावनाओं के साथ-साथ विनय और अनुशासन का विकास भी होता है।

उद्योग तथा जीवन के ठोस कार्यों या क्रियाओं के माध्यम से ज्ञान देने की समवायी पद्धति के कारण भी बालकों में जीवन के प्रति समन्वित दृष्टिकोण का विकास होता है। इससे मानसिक संतुलन का विकास भी होता है।

समाज की दृष्टि से भी बुनियादी शिक्षा बड़ी उपयोगी सिद्ध होती है। इसमें बालक सहकारिता से हिलमिलकर कार्य करते हैं। वे श्रम के महत्त्व और उपयोगिता का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इससे समाज में जाति तथा वर्ग की जो बड़ी-बड़ी दीवारें खड़ी हो गई हैं, वे भी हटती हैं। जाति-पांति तथा वर्ग-भेद के कारण हमारा भारतीय समाज विघटित तथा छिन्न-भिन्न हो रहा है। श्रम करना हेय समझा जाता है। अतः ऐसी स्थिति में बुनियादी शिक्षा श्रम के महत्त्व तथा वर्गहीनता का पाठ पढ़कर समाज की एकता की नींव को और भी मजबूत बनाती है।

लोकतंत्रीय समाज को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए समता, न्याय, भाईचारे और स्वतंत्रता आदि की भावनाएं अत्यंत आवश्यक हैं। ये भावनाएं सत्य, अहिंसा और पारस्परिक प्रेम के बल पर ही विकसित की जा सकती हैं। लोकतंत्रीय समाज का विवेकी होना भी आवश्यक है। बुनियादी शिक्षा बालक में इन सभी गुणों का उचित विकास करती है।

आर्थिक दृष्टिकोण से भी बुनियादी शिक्षा बालकों की उत्पादन-क्षमता का विकास करती है तथा अवकाश के समय का सदुपयोग करना सिखाती है।

यदि केवल शैक्षणिक दृष्टिकोण से ही हम बुनियादी शिक्षा पर विचार करें तो भी बुनियादी शिक्षा अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगी। मूलोद्योग तथा जीवन की ठोस क्रियाओं के आधार से दिया गया ज्ञान सच्चा और ठोस होता है। इस प्रकार से सीखी बातों का उनके व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन से लगाव

रहता है। उनमें लगातार अधिक देर तक दूसरे के सहयोग से काम करने की उचित आदतों का विकास होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बुनियादी शिक्षा हमारी संस्कृति तथा सभ्यता के अनुकूल है। यह बालकों को भावी जीवन का उपयोगी ज्ञान देती है तथा उन्हें लोकतंत्रीय समाज में रहने और उसका उचित विकास करने में सहायता देती है। यह हमारी जीवनदायिनी प्रकृति तथा पोषक समाज दोनों का हमसे संबंध स्थापित करती है। यह सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक आदि दृष्टियों से हमारे लिए उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है।

बुनियादी शिक्षा का मनोवैज्ञानिक आधार

गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि हम किसी वस्तु को उसके टुकड़ों के रूप में नहीं देखते हैं। प्रत्येक वस्तु के साथ उसकी पृष्ठभूमि रहती है। हम वस्तु को इसी पृष्ठभूमि में ही देखते हैं। यह गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिकों का पूरक सिद्धांत है। इसी सिद्धांत को उपनिषदों में एक भिन्न प्रकार से अभिव्यक्त किया गया है। शून्य में से शून्य को यदि निकालें तो शून्य ही बचता है। कहने का तात्पर्य है कि ज्ञान पूर्ण है। हम उसके टुकड़े अपनी सुविधा के लिए करते हैं।

हरबार्ट का कथन है कि नये ज्ञान को सिखाने के लिए यदि हम उसका संबंध सीखे हुए ज्ञान या पुरान ज्ञान से जोड़ें तो सीखना गतिपूर्ण हो जाता है। संबद्ध करने की यह प्रक्रिया गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिकों के पूरक सिद्धांत के अनुरूप ही है। स्मरण करने के लिए हम जेब में कागज रख लेते हैं या कपड़े में गांठ बांध लेते हैं। इससे हमें कार्य याद आ जाता है। मनोवैज्ञानिकों ने यह बतलाया है कि याद करना, पहचानना, सुनना, आवृत्ति करना या दुहराना आदि क्रियाएं एक दूसरे से संबद्ध करने की ही क्रियाएं हैं। बुनियादी शिक्षा में समवाय की विधि के द्वारा ज्ञान देना भी हम ज्ञान को क्रिया तथा सीखी गई अन्य बातों से संबद्ध करते हैं।

मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि बालक क्रियाशील है। बुनियादी शिक्षा में कार्य या क्रिया करने से बालक गतिशील तो रहता ही है, उसका आत्मविश्वास, आत्मसंतोष भी विकसित होता है। क्रिया करने से उसके हाथ और मस्तिष्क का संबंध स्थापित होता है।

बुनियादी शिक्षा में वस्तुओं के निर्माण, उनकी व्यवस्था, संग्रह आदि करने में बालक की कल्पना, कौतूहल, संग्रह, रचनात्मक आदि मूल प्रवृत्तियों के विकास हेतु समुचित अवसर मिलते हैं। आपसी सहानुभूति तथा सहयोग की प्रवृत्तियों का भी समुचित विकास होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वुनियादी शिक्षा का मनोवैज्ञानिक आधार पुष्ट तथा सवल है।

वुनियादी शिक्षा का विकास

वुनियादी शिक्षा की योजना देश के सामने रखने के पूर्व महात्मा गांधी ने शिक्षा के संवंध में अफ्रीका प्रवास में प्रयोग किए थे। अफ्रीका में 'टाल्स्टाय फार्म' पर भारतीय बच्चों की शिक्षा व्यवस्था हेतु वुनियादी शिक्षा संवंधी प्रारंभिक प्रयोग किए गए थे। इसके वाद भारत आने पर विदेशी शासन का अंत करने के लिए जो सत्याग्रह आंदोलन चले तव देश के राष्ट्रीय आंदोलन केंद्रों में वच्चों की शिक्षा तथा सामाजिक-आर्थिक जीवन संवंधी कार्यक्रम व्यवस्थित किए गए। परंतु राष्ट्रीय आंदोलनों के कारण शिक्षा का कार्य विधिवत निर्वाध गति से नहीं चल पाता था क्योंकि इन राष्ट्रीय सस्थाओं के शिक्षकों और छात्रों दोनों को राजनैतिक आंदोलनों में जुटना पड़ता था। परंतु शिक्षा संवंधी इन प्रयोगों ने गांधी जी की शिक्षा संवंधी योजना का स्वरूप स्पष्ट किया।

सन् 1935 के संविधान के अनुसार सन् 1937 में भारत के अनेक प्रांतों में सरकारें गठित हुईं। गांधी जी ने इस अवसर को अपनी वुनियादी शिक्षा योजना को साकार रूप देने तथा प्रचलित करने का उपयुक्त समय मानकर कार्य करना प्रारंभ किया। इसी समय उन्होंने 'हरिजन' पत्रिका के माध्यम से वुनियादी शिक्षा संवंधी अपने विचारों को देश के सामने रखा। परंतु इसके पूर्व भी उड़ीसा अकाल के समय उन्होंने यह अनुभव किया कि विना काम दिए जनता को दान देने से जनता में अकर्मण्यता वढ़ती है तथा लोग स्वाभिमान और आत्मविश्वास खोते हैं। अतः उन्होंने सोचा कि कताई-वुनाई एक ऐसा काम है जो सरलता से कम खर्चे में व्यवस्थित हो सकता है और लोग इसे करके भरण-पोषण भी कर सकते हैं। इसी दृष्टि से उन्होंने कहा था कि 'जनता की बीमारी धन की कमी उतनी नहीं है जितनी कि कर्म की आवश्यकता की।' उनका विचार था कि भारत की गरीबी लोगों के आलस्य के कारण है। अतः उड़ीसा के अकाल से उद्धार हेतु उन्होंने कताई को आवश्यक माना।

गांधी जी ने उड़ीसा अकाल से उद्धार के लिए जो कताई का कार्य आवश्यक माना था, उन्होंने उसे संपूर्ण भारत के उद्धार के लिए आवश्यक माना। यही वुनियादी शिक्षा का आधार वना। मानव जीवन की नींव मूलभूत आवश्यकताओं—भोजन, वस्त्र और आवास—की पूर्ति के लिए एक उत्पादक कार्य के आधार पर शिक्षा देने की पहल गांधी जी ने की। गांधी जी की शिक्षा योजना पर विचार करने सन् 1937 में 22 तथा 23 अक्टूबर को वर्धा में एक

अखिल भारतीय शिक्षा परिषद् बुलाई गई। इसमें प्रत्येक प्रांत के शिक्षा मंत्री, शिक्षा संचालक तथा अन्य शिक्षाशास्त्री आमंत्रित किए गए थे। इन सभी के समक्ष गांधी जी ने अपनी शिक्षा संबंधी योजना प्रस्तुत की। इसके प्रमुख तत्त्व निम्न थे :

(1) प्राथमिक शिक्षा कम से कम 7 वर्ष की हो।

(2) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।

(3) शिक्षा किसी उत्पादक उद्योग के माध्यम से दी जाए।

(4) शिक्षा स्वावलंबी हो अर्थात् पूर्ण शिक्षा अवधि में बालकों के कार्य से शिक्षक का वेतन निकल सके।

सन् 1937 में वर्धा में आयोजित अखिल भारतीय परिषद् में गांधी जी की बुनियादी शिक्षा योजना पर विचार-विमर्श हुआ तथा निम्न प्रस्ताव पारित किए गए :

(1) परिषद् का मत है कि संपूर्ण देश के लिए 7 वर्षीय निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जाए।

(2) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।

(3) परिषद् गांधी जी के इस मत से सहमत है कि इस आयु में बालकों को शिक्षा किसी प्रकार के शारीरिक श्रम तथा उत्पादक कार्य को केंद्र बनाकर दी जाए तथा अन्य क्षमताएं, जिनका विकास करना है या ट्रेनिंग जो देनी है, जहां तक हो सके, बालक के वातावरण के अनुकूल चुने गए इस केंद्रीय उद्योग से ही प्रदान की जाएं।

(4) परिषद् की अपेक्षा है कि शिक्षा-विधि क्रमशः शिक्षकों के वेतन का खर्च तो निकाल ही लेगी।

परिषद् के इन प्रस्तावों पर बारीकी से विचार करने तथा बुनियादी शिक्षा की रूपरेखा निर्माण हेतु डा० जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक 10 सदस्यीय समिति गठित की गई। इस समिति ने अपना प्रतिवेदन गांधी जी के समक्ष प्रस्तुत किया तथा गांधी जी की स्वीकृति के बाद इसे फरवरी सन् 1938 में अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन में प्रस्तुत किया गया। कांग्रेस में अधिवेशन के इस प्रतिवेदन को मंजूर करके निम्न प्रस्ताव पास किया गया :

"कांग्रेस का मत है कि प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर की शिक्षा के लिए बुनियादी शिक्षा निम्न सिद्धांतों के आधार पर दी जाए :

(1) निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा अखिल भारतीय स्तर पर 7 वर्ष की कर दी जाए।

(2) शिक्षा का माध्यम अनिवार्य रूप से मातृभाषा हो।

(3) इस शिक्षा अवधि में शिक्षा किसी रूप में शारीरिक श्रम तथा उत्पादक कार्य को केंद्र मानकर दी जाए तथा अन्य क्रियाएं तथा प्रशिक्षण जो दिया जाना हो वह बालक के वातावरण के अनुकूल चुने हुए इस केंद्रीय उद्योग से पूर्णत: समन्वित हो।

कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पास करके डा० जाकिर हुसैन तथा ई० डब्ल्यू० आर्यनायकम् को गांधी जी की सलाह से एक अखिल भारतीय शिक्षा संघ या बोर्ड स्थापित करने के अधिकार भी दिए जिससे बुनियादी शिक्षा के कार्यक्रम को व्यवस्थित किया जा सके। यहां एक बात विचारणीय है। हरिपुरा कांग्रेस तथा अखिल भारतीय शिक्षा परिषद् के प्रस्तावों में थोड़ा अंतर है। हरिपुरा कांग्रेस के प्रस्ताव में स्वावलंबन के पक्ष पर बल नहीं दिया गया तथा इसकी बात ही नहीं की गई। बुनियादी शिक्षा के इस पक्ष पर विद्वानों का मतैक्य न होने के कारण ऐसा हुआ। हरिपुरा कांग्रेस के प्रस्ताव के अनुसार बुनियादी शिक्षकों के प्रशिक्षण, बुनियादी विद्यालयों की व्यवस्था, बुनियादी शिक्षा संबंधी प्रयोग और शोध करने हेतु सन् 1938 में हिन्दुस्तानी तालीमी संघ के नाम से अखिल भारतीय शिक्षा बोर्ड गठित किया गया। इस प्रकार देश के विभिन्न प्रांतों में बुनियादी शिक्षा प्रारंभ हुई। पहले तो बुनियादी शिक्षकों को प्रशिक्षित किया गया तथा सन् 1939 से बुनियादी विद्यालय स्थापित किए गए। सन् 1939 में देश में 14 बुनियादी प्रशिक्षण संस्थाएं, 30 बुनियादी विद्यालय बिहार के चम्पारन जिले में, 58 जिला बोर्ड विद्यालय बम्बई में, 98 विद्या मंदिर मध्य प्रदेश में स्थापित किए गए।

बुनियादी शिक्षा का कार्य प्रारंभ होने के बाद इसकी प्रगति तथा कार्यान्विति की जांच हेतु अनेक शिक्षा समितियां गठित की गई। इनमें उत्तर प्रदेश में स्थापित की गई नरेन्द्रदेव समिति विशेष उल्लेखनीय है। इन सभी समितियों ने बुनियादी शिक्षा के सिद्धांतों की पुष्टि की।

केंद्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् के अंतर्गत समितियां

जनवरी सन् 1938 में बंबई के तत्कालीन मुख्यमंत्री तथा शिक्षा मंत्री श्री बी० जी० खेर की अध्यक्षता में एक शिक्षा उपसमिति की स्थापना 'वर्धा शिक्षा योजना' की जांच हेतु वुड तथा ऐबट रिपोर्ट की व्यावसायिक तथा सामान्य शिक्षा के सुझावों की पृष्ठभूमि में करने हेतु की गई। डा० जाकिर हुसैन ने, जो इस समिति के सदस्य थे, बुनियादी शिक्षा की संकल्पना को स्पष्ट करते हुए व्यक्त किया कि बुनियादी शिक्षा योजना 'शिक्षा की योजना है न कि उत्पादन

की।' उन्होंने बुनियादी शिक्षा संबंधी अनेक भ्रांतियों का निराकरण किया। खेर समिति ने विचार-विमर्श के उपरान्त निम्न सुझाव दिए :

(1) सबसे पहले बुनियादी शिक्षा योजना ग्रामीण क्षेत्रों में लागू की जाए।

(2) शिक्षा को अनिवार्य करने की अवधि 6 से 14 वर्ष की हो परंतु बुनियादी विद्यालयों में बालक 5 वर्ष की आयु में भी भरती किए जा सकेंगे।

(3) बुनियादी विद्यालय से अन्य विद्यालयों में छात्र 11 वर्ष के बाद या 5वीं पास करके ही भरती किए जाएं।

(4) शिक्षा का माध्यम प्रांत की भाषा हो।

(5) हिंदुस्तानी—उर्दू तथा हिंदी के मेल से बनी—भाषा भारत के लिए आवश्यक है। इसकी हिंदी तथा उर्दू दोनों लिपियां हों। शिक्षक को दोनों का ज्ञान हो परंतु बालक अपनी रुचि के अनुसार लिपि चुने।

(6) जहां तक क्रिया द्वारा शिक्षा का सिद्धांत है बुनियादी शिक्षा, वुड तथा ऐबट रिपोर्ट से मेल खाती है। बालकों की क्रिया से प्राप्त आमदनी को विद्यालय व्यवस्था में व्यय किया जाए।

(7) जो सांस्कृतिक विषय मूलोद्योग से समवायित नहीं किए जा सकते हों उन्हें स्वतंत्र रूप से पढ़ाया जाए।

(8) शिक्षक-प्रशिक्षण उन्नत किया जाए।

(9) प्रत्येक शिक्षक को 20 रुपये माहवार से कम नहीं मिलना चाहिए। महिला शिक्षकों की अधिक से अधिक संख्या में नियुक्ति की जाए।

(10) बुनियादी विद्यालय उपयुक्त प्रशिक्षित शिक्षक मिलने पर ही खोले जाएं।

(11) पाठ्यक्रम में अनुभव के आधार पर परिवर्तन किए जाएं। अंगरेजी को एक वैकल्पिक विषय के रूप में रखा जाए।

(12) बाह्य परीक्षा न रखी जाए। कक्षावार उन्नति विद्यालय निश्चित करे। यह निरीक्षक के निरीक्षण के आधार पर आंतरिक परीक्षा द्वारा की जाए।

खेर समिति ने बुनियादी शिक्षा के स्वावलंबन के पक्ष पर भी विचार किया तथा उत्पादक उद्योग के माध्यम से शिक्षा देने के सिद्धांत को बुनियादी शिक्षा का प्रमुख सिद्धांत माना। खेर समिति का विचार था कि उत्पादक उद्योग के आर्थिक पक्ष से शैक्षणिक पक्ष अधिक महत्त्व का है। अतः 'उत्पादक' उद्योग के बजाय इसे 'रचनात्मक' उद्योग कहा जाए।

जनवरी सन् 1939 से केंद्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् ने श्री खेर की

अध्यक्षता में एक और समिति बुनियादी शिक्षा का माध्यमिक शिक्षा से समन्वय करने के संबंध में सुझाव देने हेतु गठित की। इस समिति ने सुझाया कि बुनियादी शिक्षा-अवधि 8 वर्ष की होना चाहिए तथा इसे व्यावहारिक दृष्टि से 5 वर्ष की जूनियर बेसिक तथा 3 वर्ष की सीनियर बेसिक—इन दो भागों में विभक्त किया जाए।

इन दोनों खेर समितियों के प्रतिवेदनों को केंद्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् ने स्वीकार किया तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत इन सुझावों को सार्जेंट शिक्षा योजना में सम्मिलित किया गया।

सार्जेंट रिपोर्ट (1944)

सार्जेंट रिपोर्ट में दोनों खेर समितियों के सुझावों का समावेश करके 40 वर्षों में भारत में अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा-व्यवस्था की योजना बनाई गई। इस रिपोर्ट में प्राथमिक शिक्षा हेतु 'क्रिया या उद्योग द्वारा शिक्षा' के सिद्धांत को मान्य किया परंतु इसने स्वावलंबन के सिद्धांत को मान्यता नहीं दी। इस प्रकार सार्जेंट रिपोर्ट में बुनियादी शिक्षा के स्वावलंबन के सिद्धांत को छोड़कर अन्य सभी सिद्धांतों को मान्यता दी गई। केंद्र तथा प्रांतीय सरकारों ने सार्जेंट रिपोर्ट को मान्यता दी तथा 40 वर्षों की 5-5 वर्ष की योजनाएं बनाईं। ये योजनाएं सन् 1946-47 से प्रारंभ की गईं।

अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन

शासकीय स्तर पर तो खरे समिति, सार्जेंट समिति आदि बनीं परंतु यह भी सोचा गया कि बुनियादी क्षेत्र में कार्य करने वालों का सम्मेलन बुलाकर उनके अनुभवों का एकत्रीकरण हो तथा एक मिली-जुली नीति निर्धारित की जाए। इस दृष्टि से बंबई सरकार के अनुरोध पर पूना में 1938 में अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन में देश के विभिन्न क्षेत्रों से आए शिक्षाशास्त्रियों ने विचार-विमर्श करके अनेक निर्णय किए। जैसे (1) अंगरेजी के कारण शिक्षा की प्रगति में बाधा आई है अतः इसे बुनियादी शिक्षा अवधि के उपरांत प्रारंभ किया जाए, (2) पिछले दो वर्षों में बुनियादी शिक्षा की प्रगति संतोषप्रद हुई, (3) केंद्र और प्रांतीय सरकारों को बुनियादी शिक्षा हेतु आवश्यक व्यय करना चाहिए, (4) बुनियादी शिक्षकों की ग्राम्य संस्कृति में आस्था विकसित करते हुए उनकी प्रशिक्षण अवधि एक रखी जाए, (5) बुनियादी शिक्षा का कार्य चुने हुए क्षेत्रों में सघनता से किया जाए, (6) शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों के शिक्षकों का प्रशिक्षण एक स्थान

में हो जिससे एक-सा दृष्टिकोण विकसित हो, (7) समवाय जबरदस्ती न किया जाए, (8) मूलोद्योग समाज में प्रचलित उद्योग हो, (9) सघन क्षेत्रों के लिए अलग से निरीक्षक रखे जाएं।

द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारंभ होने के कारण अनेक राजनैतिक कारणों से भारत के विभिन्न प्रांतों से कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिए। फलस्वरूप एक वर्ष तो बुनियादी शिक्षा का कार्य ठीक चला परंतु बाद में इसकी गति मंद पड़ गई। सन् 1941 में जामिया नगर में द्वितीय अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में यह निश्चित किया गया कि बुनियादी शिक्षा में छात्रों के स्वास्थ्य और व्यवहार में निश्चित परिवर्तन हुआ है। अतः भविष्य में इसके अच्छे परिणाम निकलेंगे। सन् 1942 में 'भारत छोड़ो' आंदोलन में संपूर्ण देश उत्तेजित रहा। नेता तथा कार्यकर्त्ता जेल में होने के कारण बुनियादी शिक्षा कार्य प्रायः बंद-सा हो गया।

बुनियादी शिक्षा की नई परिभाषा

सन् 1945 में जेल से आने के बाद गांधी जी ने कहा कि बुनियादी शिक्षा केवल 7 या 8 वर्षों तक ही सीमित नहीं होनी चाहिए। यह 'जीवन भर चलने वाली जीवन द्वारा जीवन की शिक्षा' है। बुनियादी शिक्षा के इस नये आयाम तथा पिछले 5 वर्षों की इसकी प्रगति पर विचार करने के लिए सेवाग्राम में जनवरी सन् 1945 में तृतीय अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन ने गांधी जी के विचारों पर विचार-विमर्श करके बुनियादी शिक्षा की निम्न 4 अवस्थाएं मान्य कीं :

(1) प्रौढ़ शिक्षा : इसे प्रथम स्थान दिया गया क्योंकि कोई भी देश अशिक्षित नागरिकों के रहते हुए विकसित नहीं हो सकता है।

(2) पूर्व बुनियादी शिक्षा : 7 वर्ष की आयु से कम आयु के बच्चों के लिए।

(3) बुनियादी शिक्षा : 7 से 18 वर्ष की आयु के बच्चों के लिए।

(4) उत्तर बुनियादी शिक्षा : बुनियादी स्तर के बाद।

इन चारों स्तरों की शिक्षा योजना, पाठ्यक्रम आदि बनाने के लिए अलग-अलग समितियां भी गठित की गईं तथा सेवाग्राम में इन चारों स्तरों की शिक्षा के केंद्र स्थापित किए गए। सन् 1947 में बिहार तथा सेवाग्राम में बुनियादी शिक्षा-स्तर में शिक्षा पाने वालों ने अपना 6 वर्षीय पाठ्यक्रम पूर्ण किया। इनके लिए उत्तर बुनियादी पाठ्यक्रम विकसित करने हेतु भी एक समिति गठित हुई। गांधी जी ने उत्तर बुनियादी शिक्षा के पूर्णरूपेण स्वाश्रयी होने पर बल

दिया । विहार में गांधी जी के अनुरोध से (1) कुमारवाग (चंपारन विहार) तथा (2) सेवाग्राम में उत्तर वुनियादी संस्थाएं स्थापित की गईं । इस समय तक देश के प्रायः सभी प्रांतों में वुनियादी शिक्षा संवंधी प्रयोग किए गए थे परंतु ये प्रयोग कक्षा 4 या 5 तक ही सीमित रहे क्योंकि 8 वर्षीय वनाने में एक तो व्यय अधिक होना निश्चित था; दूसरे सरकारी उच्च शिक्षाधिकारी वुनियादी शिक्षा का प्रसार नहीं चाहते थे ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद बुनियादी शिक्षा

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद प्रति वर्ष नियमित रूप से अखिल भारतीय वुनियादी शिक्षा सम्मेलन होने लगे जिससे वुनियादी शिक्षा के प्रसार तथा विचारों के आदान-प्रदान में वड़ी सहायता मिली । सन् 1948 में तत्कालीन केंद्रीय शिक्षामंत्री मौलाना आजाद ने सार्जेंट रिपोर्ट के आधार पर भारत में 40 वर्षों से वुनियादी शिक्षा के प्रसार की अवधि को वहुत अधिक वतलाते हुए यह व्यक्त किया कि संपूर्ण देश में इतनी अधिक अवधि तक वुनियादी शिक्षा के विकास हेतु रुकना उचित न होगा ।

सन् 1948–49 में राधाकृष्णन विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने ग्रामीण विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों की स्थापना की योजना प्रस्तावित की । अतः सन् 1959 में 7वें अखिल भारतीय वुनियादी शिक्षा सम्मेलन में वुनियादी शिक्षा में उच्च शिक्षा संवंधी कार्यक्रम विकसित करने हेतु एक समिति श्री आर्यनायकम की अवहेलना में गठित की गई । इस समिति के प्रतिवेदन के अनुसार प्रथम उत्तम वुनियादी केंद्र सेवाग्राम में खोला गया । इस प्रकार वुनियादी शिक्षा के क्षेत्र में उत्तम वुनियादी स्तर भी जुड़ गया ।

सन् 1950 में विनोवा भावे की तेलंगाना यात्रा के समय भूदान आंदोलन की प्रक्रिया प्रारंभ हुई । इसके वाद तो ग्रामदान, स्वर्णदान तथा अन्य दानों की प्रक्रियाएं भी चल निकलीं । भूदान, ग्रामदान आदि आंदोलनों का प्रमुख आधार निर्दलीय लोकनीति एवं स्वावलंवी अर्थनीति है । अतः विनोवा के इन आंदोलनों ने वुनियादी शिक्षा को नया रूप दिया जिससे वुनियादी शिक्षा का क्षेत्र विस्तृत हुआ तथा सर्वोदय से इसका संवंध जुड़ा ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश में वुनियादी शिक्षा पर विचार करने हेतु अनेक समितियों का गठन हुआ । एक समिति उत्पादन तथा स्वावलंवन पर विचार करने हेतु भी गठित हुई । इस समिति ने वंवई तथा विहार राज्यों में भ्रमण करके हेतु सुझाव दिए जिन पर सन् 1952 में मार्च में केंद्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् की बैठक में विचार किया गया तथा निम्न निर्णय किए गए :

(1) बुनियादी शिक्षा में उत्पादन कार्य का शैक्षिक महत्त्व आर्थिक महत्त्व से बहुत अधिक है। अतः आर्थिक लाभ बिल्कुल न होने पर भी इसकी व्यवस्था की जाए।

(2) राज्य 8 साल की पूर्ण शिक्षा की व्यवस्था करे।

(3) शैक्षणिक तथा उत्पादन दोनों दृष्टियों से उद्योग पर बल दिया जाए।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश में बुनियादी शिक्षा संस्थाओं का बहुत अधिक विकास होने से केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय में बुनियादी शिक्षा तथा प्रौढ़ शिक्षा का अलग से एक उपविभाग स्थापित किया गया। सन् 1955 में केंद्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् के अंतर्गत एक बुनियादी शिक्षा उपसमिति गठित की गई जो केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय को बुनियादी शिक्षा संबंधी समस्याओं पर सुझाव देती थी। दिल्ली में बुनियादी शिक्षा सबंधी शोध करने हेतु एक राष्ट्रीय अन्वेषण केंद्र भी स्थापित किया गया।

बुनियादी शिक्षा मूल्यांकन समिति (1955–56)

प्रथम पंचवर्षीय योजना में देश में बुनियादी शिक्षा की पर्याप्त प्रगति हुई थी। अतः इस प्रगति की जांच करने हेतु केंद्रीय सरकार ने सन् 1955 में श्री रामचन्द्रन की अध्यक्षता में 'बुनियादी शिक्षा मूल्यांकन समिति' गठित की। इस समिति को बहुमूल्य सुझावों से बहुत लाभ हुआ। समिति का विचार था कि बुनियादी शिक्षा में कार्य के माध्यम से शिक्षा देने के कारण देश को बहुत लाभ हुआ है। इस समिति के प्रतिवेदन से बुनियादी शिक्षा संबंधी कल्पना स्पष्ट हुईं तथा बुनियादी और गैरबुनियादी में भेदभाव को कम करने के लिए प्रयास किए गए। शिक्षा अधिकारियों को भी बुनियादी में प्रशिक्षित करने, बुनियादी का माध्यमिक शिक्षा से समन्वय करने, बुनियादी में शोध आवश्यक बतलाने आदि के संबंध में मूल्यांकन समिति के सुझाव अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहे। केंद्र तथा राज्य सरकारों ने इस समिति के सुझावों के अनुसार बुनियादी शिक्षा के कार्य को बहुत आगे बढ़ाया।

अखिल भारतीय बुनियादी प्रदर्शनी तथा परिषद्

सन् 1956 में देश के लोगों का ध्यान बुनियादी शिक्षा की ओर आकर्षित करने हेतु दिल्ली में 28 अप्रैल से 7 मई तक बुनियादी शिक्षा प्रदर्शनी आयोजित की गई। इसमें देश के अधिकांश राज्यों तथा अनेक संस्थाओं ने भाग लिया। इसी अवसर पर (1956 में) 30 अप्रैल से 2 मई तक राज्यों के प्रमुख शिक्षा

अधिकारियों की परिषद् डा० जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में नई दिल्ली में आयोजित की गई। इसमें बुनियादी शिक्षा की संकल्पना का स्पष्टीकरण, बुनियादी शिक्षा विकास संगठन, संचालन, निरीक्षण आदि पर विचार किया गया।

पंचवर्षीय योजनाओं में बुनियादी शिक्षा

सन् 1950 में भारतीय गणतंत्र के संविधान में 10 वर्षों में संपूर्ण देश में 6 से 14 वर्ष की आयु के बच्चों की शिक्षा व्यवस्थित करने का उद्देश्य है। इस दृष्टि से सरकार ने बुनियादी शिक्षा को राष्ट्रीय शिक्षा नीति के रूप में स्वीकार किया तथा प्रथम पंचवर्षीय योजना में बुनियादी शिक्षा के विकास के लिए अनेक योजनाएं प्रारंभ कीं। एक योजना के अंतर्गत देश के विभिन्न प्रांतों में सघन क्षेत्र चुनकर बुनियादी एवं प्रौढ़ शिक्षा की संस्थाओं का विकास किया गया। प्रत्येक चुने गए सघन क्षेत्र में निम्न संस्थाएं प्रारंभ की गईं :

(1) (अ) एक स्नातकोत्तर बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालय—बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालयों तथा निरीक्षण-कार्य हेतु विशेष कार्यकर्त्ताओं को तैयार करने के लिए।

(ब) एक वरिष्ठ विद्यालय—अभ्यास हेतु।

(2) (अ) बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालय—बुनियादी विद्यालयों के शिक्षकों के प्रशिक्षण हेतु।

(ब) दो जूनियर बुनियादी विद्यालय—शिक्षण अभ्यास हेतु।

(3) 5 आदर्श सामुदायिक केंद्र।

(4) एक संगठित पुस्तकालय—आसपास के गांवों को लाभान्वित करने हेतु।

(5) एक जनता कालेज

सघन क्षेत्र के प्राथमिक विद्यालयों को बुनियादी में परिवर्तित करने की योजना भी चलाई गई। 27 राज्यों में 38 ऐसे सघन क्षेत्रों में बुनियादी शिक्षा योजना के अनुसार कार्य प्रारंभ किया गया। केंद्र ने राज्यों को इस योजना हेतु अनावर्तक व्यय का 66% तथा आवर्तक व्यय का 60%, 50% तथा $33\frac{1}{3}\%$ आगामी वर्षों में देने का प्रावधान रखा।

शहरी क्षेत्रों में बुनियादी विद्यालय खोलने हेतु भी एक योजना प्रारंभ की गई। बुनियादी शिक्षा के प्रसार हेतु योजना आयोग ने अनावर्तक व्यय का 30% राज्यों को दिया।

बुनियादी विद्यालभ खोलने, गैर बुनियादी विद्यालयों तथा प्रशिक्षण संस्थाओं को बुनियादी में परिवर्तित करने, उद्योग शिक्षकों के प्रशिक्षण, बुनियादी

विद्यालय में सामग्री देने आदि के लिए भी राज्यों को वित्तीय सहायता केंद्र ने दी। सन् 1950 में ऐसे राज्यों के लिए, जहां बुनियादी शिक्षा का कोई कार्य नहीं हुआ था, एक पाठ्यक्रम शिक्षा किया गया। बुनियादी शिक्षकों के मार्गदर्शन के लिए एक बुनियादी शिक्षा संदर्शिका भी प्रकाशित की गई। 'बुनियादी शिक्षा की संकल्पना' नामक पुस्तिका बुनियादी शिक्षा संबंधी भ्रांतियों के निवारणार्थ प्रकाशित की गई। इसके अतिरिक्त बुनियादी शिक्षा संबंधी अन्य सामग्री भी प्रकाशित की गई।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में ऐसे ही कार्यक्रम बृहत् पैमाने पर आयोजित किए गए। सन् 1950 में प्राथमिक शिक्षा स्तर पर कुल दर्ज संख्या का 1% भाग बुनियादी विद्यालयों में दर्ज था। प्रथम पंचवर्षीय योजना काल के अंत में यह दर्ज संख्या 4% हो गई तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल के अंत तक 11% होने की आशा की गई थी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में समस्त बुनियादी विद्यालय 8वीं तक स्थापित किए गए। बुनियादी शिक्षा को कृषि, ग्रामीण उद्योग, सहकारिता तथा सामुदायिक विकास आदि कार्यक्रमों से संबद्ध करने के प्रयास किए गए। अनेक राज्यों में बुनियादी शिक्षा परिषद् स्थापित की गई। बुनियादी शिक्षा के माध्यमिक शिक्षा से समन्वित करने हेतु एक समिति का गठन भी केंद्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् ने किया। देश में उत्तर बुनियादी विद्यालयों की स्थापना के प्रयास भी अनेक राज्यों में किए गए।

तृतीय तथा चतुर्थ पंचवर्षीय योजना काल में इन्हीं योजनाओं को चालू रखा गया तथा बुनियादी शिक्षा मूल्यांकन समिति के सुझाव के अनुसार बुनियादी तथा गैर-बुनियादी के भेद को कम करके सभी विद्यालयों में बुनियादी शिक्षा के तत्त्वों का समावेश करने के प्रयास किए गए। सभी प्रशिक्षण संस्थाओं को बुनियादी में परिवर्तित किया गया। मध्य प्रदेश में सभी स्तरों की प्रशिक्षण संस्थाओं को बुनियादी में परिवर्तित किया गया। इन दोनों योजना काल में बुनियादी साहित्य का समुचित प्रकाशन देश में हुआ। बुनियादी शिक्षा सम्मेलन भी प्रत्येक राज्य में आयोजित किए गए। परंतु गैर-बुनियादी क्षेत्रों का घनीभूत प्रभाव बुनियादी संस्थाओं पर पड़ा तथा बुनियादी शिक्षा की जैसी प्रगति होनी चाहिए थी न हो सकी। शिक्षा आयोग (1964–66) ने सिफारिश की कि किसी स्तर की शिक्षा को बुनियादी न कहकर बुनियादी तत्त्वों का समावेश शिक्षा में करने के प्रयास किए जाने चाहिए। फलस्वरूप अब तो बुनियादी और गैर-बुनियादी का भेदभाव रहा ही नहीं है।

बुनियादी शिक्षा की समस्याएं :

बुनियादी शिक्षा की मुख्य समस्याएं निम्नांकित हैं :

(1) बुनियादी शिक्षा की योग्य व्याख्या न होना।

(2) बुनियादी शिक्षा को गांवों की ही शिक्षा के रूप में देखना।

(3) बुनियादी विद्यालयों के पाठ्यक्रम तथा हाई स्कूल तथा बहु-उद्देशीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम में समन्वय स्थापित न होना।

(4) राष्ट्र की नई आर्थिक व्यवस्था में तकली चर्खा, आदि का मेल स्थापित करना।

(5) बुनियादी शिक्षा प्रारंभ करने के लिए बड़ी संख्या में प्रशिक्षित शिक्षक प्राप्त करना।

(6) बुनियादी शिक्षा के विद्यालयों के लिए आवास तथा उद्योग-कक्षों की व्यवस्था करना।

(7) बुनियादी शिक्षा का निश्चित पाठ्यक्रम बनाना।

(8) सामग्री तथा शिक्षकों के वेतन-संबंधी समस्याएं।

(9) शासन-व्यवस्था संबंधी समस्याएं।

(10) मूल्यांकन संबंधी समस्याएं।

(1) बुनियादी शिक्षा की योग्य व्याख्या न होना : बुनियादी शिक्षा की व्याख्या भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न रूप में की है। यही कारण है कि बुनियादी शिक्षा के संबंध में लोग अलग-अलग प्रकार से सोचते हैं। साधारण जनता इसे तकली द्वारा शिक्षा समझती है। इसके अनुसार प्रत्येक विद्यालय में जहां तकली या चरखा चलवाया जाता है बुनियादी शिक्षा व्यवस्थित मानी गई है। कुछ लोग इसे नये फैशन या झलक के रूप में मानते हैं। कुछ अंधभक्त यह सोचते हैं कि चूंकि इसे महात्मा गांधी ने चलाया है इसलिए यह अच्छी वस्तु ही होगी अतः वे इस ओर समुचित ध्यान न देकर इसकी निश्चित रूप-रेखा नहीं तैयार करते। कुछ लोग इसे इस मशीन के जमाने में बैलगाड़ी के रूप में देखते हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान् जिन्होंने इसका अध्ययन किया है वे इसे योजना-पद्धति (प्रोजेक्ट मेथड) का भारतीयकरण मानते हैं। इसके अनुसार जिस प्रकार योजना-पद्धति में एक योजना बनाकर उसके सहारे सभी विषयों को पढ़ा जाता है, उसी प्रकार किसी एक उद्योग के सहारे बुनियादी शिक्षा में अन्य विषयों का ज्ञान दिया जाता है।

कुछ अन्य विद्वान् इसे 'समवायी शिक्षा प्रणाली' मानते हैं तथा समवाय उनके सामने हमेशा बना ही रहता है। इन्हीं में से कुछ विद्वान् गांधी जी की

तकली को एक अच्छा खिलौना कहने पर इसे खेल द्वारा शिक्षा की प्रणाली के रूप में मानते हैं। कुछ अन्य विद्वान् इसे औद्योगिक शिक्षा मानते हैं। इनके अनुसार इस पद्धति से शिक्षा देने के लिए उद्योगों पर ही अधिक वल दिया जाता है। इसके विपरीत कुछ विद्वान् इसे औद्योगिक शिक्षा की पूर्व तैयारी के रूप में भी मानते हैं। ऐसे विद्वानों की भी कमी नहीं है जो वुनियादी शिक्षा को वालक द्वारा कमाई करके शिक्षा ग्रहण करने की प्रणाली मानते हैं।

इस प्रकार वुनियादी शिक्षा के संवंध में विद्वानों तथा साधारण जनता के विभिन्न मत हैं। ये सव भ्रम वुनियादी शिक्षा के किसी एक अंग को लेकर उसे अनावश्यक महत्त्व देने के कारण उत्पन्न होते हैं। वुनियादी शिक्षा को एक शिक्षा प्रणाली मानना भी एक भूल ही है, वुनियादी शिक्षा तो जीवन का एक दर्शन है। यह तो शुद्ध जीवन के लिए जीवन के माध्यम से जीवन की शिक्षा है। यह किसी विशिष्ट आयु के वालकों की शिक्षा भी नहीं है। यह तो जीवन के प्रारंभ से आरंभ होकर जीवन के ग्रंत तक चलने वाली शिक्षा है। इसका ग्रंत जीवन के अंत से ही होता है। इस शिक्षा का मुख्य उद्देश्य स्वयं जीना तथा दूसरों को जीने देना है। इसलिए यह 'स्व' का विकास करके समाज का विकास करती है।

वुनियादी शिक्षा के संवंध में भ्रांतियों को दूर करने तथा उसकी एक निश्चित और स्पष्ट रूपरेखा लोगों के सामने रखने के लिए यह आवश्यक है कि सरकार की ओर से निश्चित व्यवस्था की जाए तथा उसी व्यवस्था को वुनियादी शिक्षा की योजनाओं को कार्यान्वित करते समय सामने रखा जाए।

केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय की ओर से नियुक्त 'मूल्यांकन समिति' (1956) ने अपने प्रतिवेदन में केंद्र तथा राज्य सरकारों को वुनियादी शिक्षा के स्वरूप-निर्धारण तथा उसके प्रसार के संवंध में निम्न सुझाव दिए हैं:

(क) केंद्रीय सरकार के लिए सुझाव: केंद्रीय सरकार वुनियादी शिक्षा की उचित व्याख्या के लिए केंद्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् की वुनियादी शिक्षा उपसमिति द्वारा निर्धारित व्याख्या मान्य करे।

वर्तमान परिस्थितियों तथा राष्ट्रीय महत्त्व को देखते हुए केंद्रीय शिक्षा विभाग शीघ्र ही राज्य के शिक्षा मंत्रियों तथा शिक्षा सचिवों की वैठक वुलाकर उन्हें वुनियादी शिक्षा के स्वरूप संवंधी निर्णय से अवगत कराए जिससे संपूर्ण देश में वुनियादी शिक्षा का एक ही स्वरूप मान्य किया जाए। इसके वाद केंद्र तथा राज्य सरकारें अपनी पंचवर्षीय योजनाओं में वुनियादी शिक्षा के पुनर्निर्माण की योजनाएं शामिल करें।

प्रत्येक राज्य के शिक्षा संचालकों तथा सहायक शिक्षा संचालकों की भी

बैठक किसी बुनियादी शिक्षा के अच्छे क्षेत्र में बुलाई जाए।

अखिल भारतीय तथा समाजीय स्तर पर संगोष्ठियों का आयोजन किया जाए जिससे बुनियादी क्षेत्र में कार्य करने वाले कार्यकर्त्ता आपसी विचार विनिमय से अपनी कठिनाइयों को हल कर सकें।

केंद्रीय सरकार सामान्य जनता को बुनियादी शिक्षा के स्वरूप से अवगत कराने के लिए प्रचार कार्य करे तथा इसमें सिनेमा, समाचार पत्र, रेडियो, प्रर्दाशनी आदि की सहायता ली जाए।

बुनियादी शिक्षा संबंधी शोध कार्य हेतु एक केंद्रीय बुनियादी शिक्षा शाखा खोली जाए।

बुनियादी शिक्षा विशेषज्ञों की एक समिति बुनियादी विद्यालयों के कार्यों, उत्पादन आदि के मूल्यांकन तथा स्तर निश्चित करने के लिए बनाई जाए। बुनियादी क्षेत्र के साहित्य में संपादन आदि के लिए भी एक समिति का निर्माण किया जाए।

गैर बुनियादी विद्यालयों में बुनियादी विद्यालयों की जो भी गतिविधियां शीघ्र ही बिना अधिक साधन जुटाए चलाई जा सकती हों उसके संबंध में एक प्रपत्रक शीघ्र ही तैयार कराया जाए जिससे गैर बुनियादी विद्यालयों का बुनियादी विद्यालयों में परिवर्तन किए जाने का कार्य शीघ्र ही पूरा किया जा सके।

ग्राम उत्थान में संलग्न अनेक सस्थाओं जैसे 'खादी बोर्ड' सर्व सेवा संघ, हिंदुस्तानी तालीम संघ, समाज कल्याण बोर्ड आदि सभी को समन्वय से कार्य करना चाहिए तथा बुनियादी शिक्षा प्रसार में योग देना चाहिए क्योंकि ग्राम सुधार तथा बुनियादी शिक्षा का कार्य प्रायः एक सा ही है।

बुनियादी शिक्षकों को प्रशिक्षण दिया जाए तथा बुनियादी विद्यालयों की इमारतों को सादा बनाया जाए। इसके लिए बुनियादी शिक्षा के संगठन कर्त्ताओं तथा मंत्रियों की समिति बनाई जाए जो सस्ते और जल्दी बनने वाले भवनों के निर्माण के सुझाव दे। देश में स्नातकोत्तर बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालयों की संख्या बढ़ाई जाए तथा उन्हें विश्वविद्यालयों से संबंधित किया जाए।

बुनियादी शिक्षा को बहूद्देशीय तथा उच्चतर माध्यमिक शिक्षा से समन्वित किया जाए।

केंद्र द्वारा राज्य की प्राथमिक शिक्षा के प्रसार के लिए जो रकम दी जाए उसे बुनियादी विद्यालयों तथा प्रशिक्षण-संस्थाओं के खोलने में ही व्यय किया जाए।

वुनियादी शिक्षा के कुछ अधिक प्रसार होने पर पुनः एक मूल्यांकन समिति की नियुक्ति की जाए।

(ख) राज्य के लिए सुझाव : राज्य सरकार शीघ्र ही सभी प्राथमिक विद्यालयों तथा प्रशिक्षण केंद्रों को वुनियादी में परिणित करने के उद्देश्य की घोषणा करे।

राज्य स्तरीय वुनियादी शिक्षा समिति का गठन किया जाए जिससे जनता का सहयोग तथा शिक्षा विभाग को उचित मार्ग दर्शन मिल सके।

वुनियादी शिक्षा के उचित प्रसार के लिए आवश्यक है कि सभी शिक्षा विभागीय अधिकारियों के लिए अत्यल्पकालीन वुनियादी प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाए।

वुनियादी शिक्षा के सहायक या संयुक्त शिक्षा संचालक नियुक्त किए जाएं।

राज्य के संभागीय, जिला तथा तहसील स्तर पर वुनियादी शिक्षा संगोष्ठियों का आयोजन किया जाए।

वुनियादी विद्यालयों में उत्पादन में मितव्ययिता पर वल दिया जाए तथा उन्हें समय-समय पर कच्चा माल, उद्योग का सामान आदि भेजा जाए।

राज्य स्तर के वुनियादी साहित्य-रचना तथा प्रकाशन का कार्य किया जाए।

उत्पादन से प्राप्त आमदनी का एक निश्चित भाग वालकों के लाभार्थ व्यय किया जाए।

स्नातकोत्तर वुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालयों में भी राज्य स्तर पर कार्य किया जाए तथा उत्तर वुनियादी शिक्षा का माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन की योजनाओं से समन्वय किया जाए।

वुनियादी शिक्षा में मितव्ययिता का पूर्ण ध्यान रखा जाए तथा वालक से उद्योग के सामान की कीमत ली जाए। जो एकदम से दे सकें उनसे एक साथ और जो गरीव हों उनसे धीरे-धीरे ली जाए। यह उद्योग का सामान वालक की संपत्ति होनी चाहिए। उत्पादन का उपभोग शिक्षक तथा बालक दोनों करें तथा वचा हुआ माल राज्य के वाजार में वेचा जाए।

वुनियादी शिक्षा विद्यालयों के लिए जमीन-दान के लिए राज्य प्रयत्नशील रहे। परंपरागत पद्धति से प्रशिक्षित शिक्षकों को वुनियादी प्रशिक्षण केंद्रों में कम से कम पांच माह का प्रशिक्षण दिया जाए।

राज्य के प्रशिक्षण विद्यालय शीघ्र ही वुनियादी प्रशिक्षण केंद्रों में परिणत किए जाएं। राज्य के सीनियर वेसिक विद्यालयों में स्नातक वुनियादी प्रशिक्षण प्राप्त अधिपाठक रखे जाएं।

(2) बुनियादी शिक्षा को गांवों की शिक्षा के रूप में देखने की समस्या : देश के अनेक विद्वान् बुनियादी शिक्षा को केवल गांवों की ही शिक्षा मानते हैं। ये बहुधा कहा करते हैं कि बुनियादी शिक्षा तो हमारे गांवों के लिए ही उपयुक्त है। पर गांव तथा शहर दोनों की शिक्षा भिन्न-भिन्न नहीं हो सकती है। इसी भेद को मानने के कारण अनेक विद्वान् अपने बच्चों को शहरों के बुनियादी विद्यालयों में न भेजकर अन्य विदेशी पद्धतियों से चलने वाले विद्यालयों में भेजना पसंद करते हैं। गांवों के लोग प्रतिक्रिया के रूप में कहते हैं कि शहर वालों ने तकली-चरखा की शिक्षा तो हमें दे दी और अपने बच्चों को मोटर और हवाई जहाज का ज्ञान देने वाली शिक्षा दिलाते हैं। इस तरह गांव और शहरों की शिक्षा में भेदभाव बढ़ता जाता है।

गांव तथा शहरों की शिक्षा के भेद को कम करने के लिए आवश्यक है कि प्राथमिक तथा पूर्व प्राथमिक शिक्षा में विभिन्न श्रेणियों के बालकों के लिए कोई अंतर न हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि बुनियादी शिक्षा समान रूप से सभी जगह, गांवों तथा शहरों में फैलाई जाए।

'मूल्यांकन समिति' ने इसके लिए यह सुझाव दिया है कि बुनियादी शिक्षा गांव और शहर दोनों के लिए हो तथा संधिकाल में एक ऐसा समन्वित पाठ्यक्रम बनाया जाए कि जो दोनों प्रकार के विद्यालयों में चले।

(3) बुनियादी विद्यालयों के पाठ्यक्रम तथा माध्यमिक और बहु-उद्देशीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम में समन्वय करना : कई बड़े-बड़े शिक्षाशास्त्रियों का कहना है कि देश ने माध्यमिक शिक्षा स्तर निश्चित कर लिये हैं। अब शिक्षा के लिए अन्य स्तरों के पाठ्यक्रम इस प्रकार निश्चित किए गए पाठ्यक्रमों के अनुरूप बना लिए जाएं। इस तरह की विचारधारा देश की प्राथमिक शिक्षा के विकास में बड़ी रुकावट है। वास्तव में बुनियादी शिक्षा की कल्पना ऐसी कल्पना नहीं है। बुनियादी शिक्षा तो बालक के जन्म से प्रारंभ होकर उसके अंत तक चलने वाली शिक्षा है। उसका पाठ्यक्रम तो प्रारंभ से ही आवश्यकतानुसार बनना चाहिए। यह कैसे हो सकता है कि बुनियादी माध्यमिक शिक्षा के लिए एक पाठ्यक्रम निश्चित करके अन्य स्तरों की शिक्षा का पाठ्यक्रम टुकड़ों के समान अलग से जोड़ दिया जाए।

अतः आवश्यकता यह है कि बुनियादी विद्यालय तथा माध्यमिक विद्यालय के पाठ्यक्रम में समन्वय स्थापित किया जाए। समन्वय स्थापित किए बिना काम नहीं चल सकता है।

बुनियादी शिक्षा का मुख्य उद्देश्य समाज के विभिन्न स्तर के लोगों की शिक्षा के अंतर को दूर करना है। हमारे देश में अभी तीन प्रकार के विद्यालय

हैं: (1) बुनियादी (2) उच्च तथा (3) पब्लिक स्कूल। ये तीनों प्रकार के विद्यालय समाज के तीन प्रकार के लोगों की शिक्षा की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। अभी इन तीनों की शिक्षा पारस्परिक संबंध-विहीन है। जनतंत्रात्मक राज्य में ऐसी विभिन्न प्रकार की शिक्षा नहीं चल सकती है। यह दूसरी बात है कि गांव तथा शहर या शहर तथा नगर आदि के विद्यालयों के पाठ्यक्रमों में आवश्यकताओं के अनुसार अंतर हों, परंतु सामाजिक ऐक्य तथा समाज के उचित विकास के लिए यह आवश्यक है कि गांव तथा शहर की शिक्षा में निकट का संबंध स्थापित हो जिससे समाज के समुचित विकास में गांव तथा शहर दोनों सहायक हो सकें।

'मूल्यांकन समिति' ने भी केंद्र तथा राज्य सरकारों के लिए यह सुझाव दिया है कि पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत माध्यमिक शिक्षा पुनर्गठित की जाए तथा उत्तर बुनियादी शिक्षा का समुचित ध्यान रखा जाए।

(4) राष्ट्र की नई आर्थिक व्यवस्था में तकली-चरखा आदि का मेल स्थापित करना : हमारे देश में पंचवर्षीय योजनाओं को कार्यान्वित करके बड़े-बड़े उद्योग खोले जा रहे हैं, गांव-गांव में बिजली भेजने की व्यवस्था हो रही है। अगले 10 या 15 वर्षों में हम अनेक क्षेत्रों में पूर्ण स्वावलंबी हो जाएंगे।

इसके लिए यह आवश्यक है कि हम बुनियादी शिक्षा का मेल इस बढ़ते हुए औद्योगीकरण से करें। यदि ऐसा न किया गया तो हमारी बुनियादी शिक्षा उपयोगी न होगी तथा बदलते हुए समय से मेल न खाएगी। इससे हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि हमारे इस बढ़ते हुए औद्योगीकरण वाले राष्ट्र में छोटे-छोटे उद्योगों का कोई स्थान नहीं है। इन छोटे-छोटे उद्योगों का उपयोगी स्थान तो हमारे देश में है ही परंतु आवश्यकता इस बात की है कि आज की बुनियादी शिक्षा का मेल राष्ट्र की बदलती आर्थिक व्यवस्था से किया जाए।

इसके लिए यह आवश्यकता है कि देश के विभिन्न क्षेत्रों के लिए उपयोगी, शैक्षणिक संभावनाओं सहित नये उत्पादक उद्योगों के संबंध में शोध कार्य किया जाए तथा उन्हें शिक्षा का आधार बनाया जाए। केवल तकली-चरखे को प्रत्येक स्थान में उद्योग के रूप में चलाना उचित नहीं है। हमारे गांवों में अब शीघ्र ही बिजली और मशीनों का उपलब्ध होना संभव है अतः इस दृष्टि से भी उद्योगों का चुनाव करना आवश्यक होगा।

(5) प्रशिक्षित शिक्षकों की समस्या : बुनियादी शिक्षा के प्रसार के लिए केवल यही आवश्यक नहीं है कि वर्तमान प्राथमिक विद्यालय बुनियादी विद्यालयों में परिवर्तित किए जाएं वरन् इस बात की भी आवश्यकता है कि बहुत

बड़ी संख्या में नये बुनियादी विद्यालय खोले जाएं। जब तक ये दोनों प्रकार के कार्यक्रम एक साथ नहीं चलते तब तक हमारी वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती है।

आज हमारे पुराने प्राथमिक तथा बुनियादी विद्यालयों में योग्य, बुनियादी शिक्षा में प्रशिक्षित शिक्षक बहुत कम हैं। प्राथमिक विद्यालयों में ही किसी भी प्रकार के प्रशिक्षण-प्राप्त शिक्षक बहुत कम हैं, फिर बुनियादी शिक्षा के प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों की तो बात ही नहीं उठती।

इस समस्या के हल करने के लिए हमारी मध्यप्रदेश सरकार ने राज्य के प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षकों को प्रशिक्षण देने वाले सभी विद्यालयों को बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालयों में परिवर्तित कर दिया है। परंतु फिर भी प्रशिक्षित शिक्षकों की कमी पड़ेगी। इन बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालयों में बुनियादी विद्यालयों के शिक्षकों को प्रशिक्षण देने वाले स्नातक शिक्षकों के प्रशिक्षण की सुविधाओं को बढ़ाना अत्यंत आवश्यक है। इसके लिए राज्य में अनेक स्थानों पर स्नातकोत्तर बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालयों को खोला गया। अन्य राज्यों में भी ऐसी ही योजनाओं को चलाया गया। 3-3 माह के आंशिक कोर्स भी प्राथमिक विद्यालयों में प्रारंभ किए जाएं तथा प्रत्येक कोर्स में 50 शिक्षक प्रशिक्षण लेने आएं तो प्रत्येक बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालय से साल में 200 शिक्षक बुनियादी शिक्षा के सिद्धांतों तथा कार्य-प्रणाली से अवगत हो सकेंगे। इन शिक्षकों को प्रशिक्षण देने के लिए बुनियादी प्रशिक्षण के शिक्षक का ही उपयोग किया जा सकता है तथा अलग से अतिरिक्त स्नातक शिक्षकों की नियुक्ति की भी आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

'मूल्यांकन समिति' ने शिक्षक प्रशिक्षण के संबध में निम्नलिखित सुझाव दिए हैं:

(1) बुनियादी प्रशिक्षण संस्थाओं में मूलोद्योग तथा शिक्षा मनोविज्ञान के अध्ययन की ओर अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए। प्रशिक्षणार्थियों को एक प्रमुख उद्योग तथा एक या दो गौण उद्योगों का अभ्यास कराया जाना चाहिए।

(2) शिक्षण प्रशिक्षण की अवधि दो वर्ष की रखी जानी चाहिए।

(3) समाज से कुशल कलाकारों तथा कारीगरों को आवश्यक शैक्षणिक योग्यता न होने पर भी बुनियादी प्रशिक्षण संस्थाओं में नियुक्त किया जाना चाहिए। ऐसे कारीगर के साथ एक बुनियादी शिक्षण प्राप्त शिक्षक रखा जाना ठीक होगा।

(4) प्रशिक्षण संस्थाओं में सिखाए जाने वाले उद्योग ऐसे होने चाहिए

कि वे विद्यालयों में शिक्षा के माध्यम के रूप में उपयोग में लाए जा सकें।

(5) प्रशिक्षण विद्यालयों का उनसे संलग्न अभ्यास विद्यालयों से और अधिक घनिष्ठ संबंध होना चाहिए जिससे अभ्यास विद्यालयों में वास्तविक उद्योग और प्रयोगशालाओं का निर्माण किया जा सके।

(6) अनेक प्रशिक्षण विद्यालयों में बहुत सा बुनियादी साहित्य है। इसके प्रकाशन की व्यवस्था राज्य स्तरीय समिति द्वारा की जानी चाहिए।

(7) प्रशिक्षण विद्यालयों को बुनियादी विद्यालयों के योग्य पुस्तकें तैयार करनी चाहिए।

(8) प्रशिक्षण संस्थाओं को विस्तार कार्य प्रारंभ करना चाहिए जिससे प्रशिक्षणार्थी समाज के संपर्क में आ सके। इस विस्तार कार्य के अंतर्गत बुनियादी शिक्षा का स्वरूप जनता को बतलाया जा सकता है तथा जनता के सहयोग से उन्नति के कार्य किए जा सकते हैं।

(9) विद्यालयों को आवासिक होना चाहिए। इनमें सफाई, सामूहिक भोजन व्यवस्था, सांस्कृतिक तथा मनोरंजनात्मक गतिविधियां स्वायत्त शासन के आधार पर आयोजित कराई जानी चाहिए।

(10) विद्यालयों में कार्य करने वाले शिक्षकों के अल्पकालीन प्रशिक्षण की व्यवस्था प्रशिक्षण संस्थाओं में होनी चाहिए।

(11) प्रशिक्षण संस्थाओं का कार्य बुनियादी सिद्धांतों के आधार पर चलना चाहिए।

इस प्रकार 'मूल्यांकन समिति' के सुझावों के आधार पर शिक्षक प्रशिक्षण को सुधारा जा सकता है।

(6) **बुनियादी विद्यालयों के लिए आवास तथा उद्योग कक्षों की व्यवस्था :** हमारे देश में प्रायः सभी राज्यों में प्राथमिक विद्यालयों की इमारतों की दशा अच्छी नहीं है। प्रत्येक गांव में विद्यालय या तो पटेल के घर में या किसी विद्याप्रेमी व्यक्ति की परछी में लगते हैं। फिर बुनियादी विद्यालयों को तो उद्योग कक्ष आदि की भी आवश्यकता पड़ती है। बुनियादी शिक्षा में सामाजिक तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों के लिए कल्पना तो आवासिक विद्यालयों की की गई है परंतु यह हमारे देश में संभव नहीं है। आवासिक विद्यालयों के न होते हुए भी सामाजिक तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों को आयोजित कर विद्यालय को एक सुसंगठित सामाजिक रूप दिया जा सकता है।

विद्यालयों की इमारतों की व्यवस्था के लिए भविष्य में प्राथमिक विद्यालयों की इमारत इसी हिसाब से बनाया जाना आवश्यक कर दिया जाए कि भविष्य में प्राथमिक विद्यालयों में बुनियादी जूनियर या सीनियर विद्यालयों को प्रारंभ

किया जा सके। सरकार वुनियादी विद्यालय की आवश्यकताओं को देखते हुए एक आदर्श विद्यालय की इमारत का नक्शा माप तथा निश्चित करे। इसी नक्शे तथा माप के आधार पर भविष्य में वुनियादी विद्यालयों की इमारतों का निर्माण किया जाए, साथ-साथ सरकार यह निश्चित करे कि प्रतिवर्ष राज्य में कम से कम 500 वुनियादी विद्यालयों की इमारतों का निर्माण किया जाए। इसका आधा खर्च राज्य सरकार तथा आधा जनता या सार्वजनिक संस्थाएं वहन करें। इस प्रकार यदि इमारतें वनाने का कार्यक्रम चले तो 10 या 15 वर्ष में हमारे सभी वुनियादी विद्यालयों के लिए अच्छी इमारतें वन जाएंगी।

(7) **बुनियादी शिक्षा का निश्चित पाठ्यक्रम न होना :** अभी वुनियादी विद्यालयों के लिए सुझाव के तौर पर दो पाठ्यक्रम ही मौजूद हैं :

(अ) जाकिर हुसैन समिति द्वारा तैयार किया हुआ पाठ्यक्रम तथा

(व) हिंदुस्तानी तालीमी संघ द्वारा तैयार किया गया पाठ्यक्रम।

परंतु यह पाठ्यक्रम भी अपने आप में पूर्ण नहीं हैं। इन पर अभी और परीक्षण करने की आवश्यकता है। राज्य में अनेक वर्षों से बुनियादी शिक्षा के संवंध में परीक्षण चल रहे हैं परंतु अभी तक एक भी निश्चित पाठ्यक्रम न होने से कार्य में वड़ी गड़वड़ी चल रही है। राज्य के स्नातकोत्तर बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालय तथा वुनियादी प्रशिक्षण विद्यालयों की सहायता से सरकार को संपूर्ण राज्य के लिए एक निश्चित बुनियादी पाठ्यक्रम तैयार करना चाहिए। द्विविधा की इस स्थिति में वुनियादी विद्यालयों की प्रगति समुचित रूप से नहीं हुई।

इसके साथ-साथ समवाय के संवध में भी भ्रम है। वहुत से लोगों की धारणा है कि हर विषय समवायित होना चाहिए। पर अव सरकार ने यह निश्चित कर लिया है कि जो विषय मूलोद्योग से समवाय करके पढ़ाए जा सकें उन्हें समवाय करके पढ़ाया जाए, वाकी प्रवृत्ति, समाज आदि केंद्रों से समवायित करके पढ़ाए जाएं। इन तीनों केंद्रों से प्रायः सभी विषय पढ़ाए जा सकते हैं।

(8) **सामग्री तथा शिक्षकों के वेतन संवंधी समस्याएं :** मध्यप्रदेश में ही क्या, देश के अन्य सभी राज्यों में भी वुनियादी विद्यालयों की संख्या अभी तक वहुत अधिक नहीं है फिर भी इन विद्यालयों में आवश्यक सामग्री नहीं है। इनमें किसी न किसी सामान की कमी रहती ही है। जव सरकार ने यह निश्चित किया है कि कालांतर में सभी प्राथमिक विद्यालय वुनियादी विद्यालयों में परिवर्तित हो जाएंगे तो उद्योग आदि के सामान की पूर्ति की समुचित व्यवस्था आवश्यक है।

उद्योग के सामान की पूर्ति के लिए अन्य संस्थाओं के साथ-साथ पोलीटेक-निक या व्यावसायिक विद्यालयों में बुनियादी विद्यालयों के सामान तैयार कराने की योजना बनानी चाहिए। इससे आवश्यक सामान का उत्पादन बढ़ेगा तथा आवश्यकतानुसार विद्यालय उनसे खरीद सकेंगे। सामान को खरीदने के लिए अर्थव्यवस्था की आवश्यकता है।

बुनियादी शिक्षकों को अभी उपयुक्त वेतन नहीं मिलता है और इस महं-गाई के समय में इस वेतन में उनकी गुजर नहीं हो पाती है। वैसे तो सरकार ने सभी प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षकों का वेतन बढ़ा दिया है फिर भी पुन-र्विचार किया जाना चाहिए।

(9) **शासन व्यवस्था संबंधी समस्याएं :** अभी कुछ राज्यों को छोड़कर अधिकांश में बुनियादी विद्यालयों का प्रबंध शासन के अधीन है। पर सरकारी बुनियादी विद्यालयों तथा अन्य गैर बुनियादी सरकारी विद्यालयों में उत्पादन किया हुआ सामान बेचने, रखने, खपत आदि के लिए निश्चित आदेश नहीं हैं। इससे बहुत सा उत्पादित माल इकट्ठा होता रहता है तथा यों ही पड़ा रहता है। कई बुनियादी विद्यालयों में तो बहुत सा माल उपयुक्त आदेशों के अभाव में पड़ा-पड़ा सड़ जाता है। इस प्रकार की स्थिति को निश्चित आदेश देकर समाप्त करना अत्यावश्यक है।

संगठन तथा व्यवस्था को ठीक करने के लिए 'मूल्यांकन समिति' ने निम्न सुझाव दिए हैं :

(1) शिक्षा विभागीय अधिकारी बुनियादी शिक्षा को महत्त्व दें। वे लगन, तत्परता और श्रद्धा से कार्य करें। बुनियादी विद्यालयों तथा प्रशिक्षण संस्थाओं के विकास के लिए जो भी सामग्री आवश्यक हो यथोचित मात्रा में शीघ्र उपलब्ध करानी चाहिए।

(2) बुनियादी विद्यालयों से संबंधित निरीक्षक बुनियादी सिद्धांत तथा विधियों में प्रशिक्षित होने चाहिए। निरीक्षण दोष-निरीक्षण के रूप में न होकर निर्देशन, सहायता, उत्साह देने के रूप में होना चाहिए।

(3) बुनियादी शिक्षक के विकास के लिए शासन का विकेंद्रीकरण आव-श्यक है। इससे स्थानीय सहयोग अधिक प्राप्त होगा।

(4) बुनियादी संस्थाओं में मूल्यांकन या परीक्षण बालक के वर्ष भर के कार्य के आधार पर होना चाहिए। मूल्यांकन स्तर निर्धारित करने के लिए मूल्यांकन समिति बनाई जाए।

(5) बुनियादी शिक्षा के प्रसार के लिए इमारत बनाने तथा आर्थिक अनु-दान देने के लिए नियमों में संशोधन होना आवश्यक है।

(6) जब तक समुचित स्थान, भवन आदि की व्यवस्था नहीं हो जाती तब तक दो पाली की व्यवस्था बुनियादी संस्थाओं में भी चल सकती है। पर यह प्रारंभिक कक्षाओं तक ही सीमित रखी जानी चाहिए।

(7) उत्पादन के लक्ष्य निर्धारित किए जाने चाहिए। उत्पादक कार्य को वास्तविक शिक्षा का साधन तथा आधार बनाया जाना चाहिए।

(8) अंगरेजी एक वैकल्पिक विषय के रूप में, जहां आवश्यक हो, पढ़ाई जाए। जहां क्षेत्रीय भाषा हिंदी नहीं हो वहां हिंदी सीनियर बुनियादी कक्षाओं में अनिवार्य रूप से पढ़ाई जाए परंतु जहां हिंदी क्षेत्रीय भाषा हो वहां अन्य कोई भारतीय भाषा छठी कक्षा से अनिवार्य रूप से पढ़ाई जाए।

(9) बुनियादी शिक्षा को माध्यमिक शिक्षा से समन्वित किया जाए जिससे बुनियादी संस्थाओं के बालक माध्यमिक विद्यालयों में सरलता से प्रवेश पा सकें।

(10) **मूल्यांकन संबंधी समस्याएं :** वैसे तो जीवन में प्रत्येक कार्य का मूल्यांकन आवश्यक है। हमारे किए गए कार्यों के मूल्यांकन के बिना हमारी प्रगति का ठीक-ठीक पता नहीं लग सकता है। अपनी प्रगति के बोध तथा संतोष दोनों के लिए मूल्यांकन अत्यंत आवश्यक है। अतः हमारे बुनियादी तथा अन्य सभी प्राथमिक विद्यालयों में ऐसी मूल्यांकन विधि की आवश्यकता है जिसमें वर्तमान परीक्षा प्रणाली के दोष न हों।

बुनियादी शिक्षा में जीवन के निम्न आधारों को बहुत महत्त्व दिया गया है :

(1) स्वस्थ और शुद्ध जीवन, (2) मूलोद्योग, (3) स्वावलंबन, (4) सामाजिक जीवन, तथा (5) सांस्कृतिक तथा मनोरंजनात्मक कार्यक्रम।

अतः यह आवश्यक है कि मूल्यांकन के समय इन बातों पर विशेष ध्यान दिया जाए। साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि हमारी मूल्यांकन की विधि हमारे उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक हो। इसके लिए बालक द्वारा किए जाने वाले प्रतिदिन के कार्य, उसकी रुचि प्रवृत्ति तथा प्रगति आदि का मूल्यांकन, किया जाना चाहिए। बालकों की प्रगति तथा कार्यों का मूल्यांकन करते समय शिक्षकों को निष्पक्ष होकर परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए कार्य करना चाहिए। यह कार्य उदारतापूर्वक भी किया जाना चाहिए।

बालकों के व्यावहारिक कार्य का मूल्यांकन बालकों की डायरी के आलेख पर किया जाए। यह मूल्यांकन मौखिक तथा लिखित दोनों प्रकार से किया जाए। बालक की दैनिक प्रगति के आधार पर मासिक प्रगति का मूल्यांकन किया जा सकता है। आवश्यकतानुसार विशेष मौखिक या लिखित जांच भी की जा सकती है। उचित मूल्यांकन के लिए शिविरों आदि का आयोजन किया जा सकता है।

10

अनुसूचित, पिछड़ी जातियों एवं आदिवासियों की शिक्षा

भारत में अनुसूचित एवं पिछड़ी जातियों के लोगों की संख्या काफी है। सन् 1971 की जनगणना के अनुसार भारत में अनुसूचित एवं पिछड़ी जातियों की जनसंख्या 7,99,95,896 है। अनुसूचित आदिम जातियों या आदिवासियों की जनसंख्या 3,80,15,162 है। अनुसूचित एवं पिछड़ी जातियों के अंतर्गत कुछ घुमक्कड़ जातियां, हरिजन, शासन द्वारा विज्ञापित पिछड़ी जातियां आदि ही सम्मिलित हैं। वर्तमान अस्पृश्यता के प्रभाव के कारण इन पिछड़ी एवं हरिजन जातियों की शिक्षा की समस्या उतनी कठिन नहीं रही है जितनी कुछ समय पूर्व थी। अंगरेजी शासन काल में तो इनकी शिक्षा की व्यवस्था अलग से स्थापित विद्यालयों में की जाती थी। परंतु इन अलग से स्थापित विद्यालयों की अनेक समस्याएं थीं तथा इन समस्यायुक्त विद्यालयों में जाने वाले बच्चों में हीनता की भावना का विकास होता था। इन विद्यालयों का शिक्षण भी निम्न स्तर का था। अतः यह उचित ही हुआ कि इन पृथक् विद्यालयों का अस्तित्व समाप्त हो गया तथा छात्रवृत्तियों एवं अन्य सुविधाओं को देकर सामान्य बच्चों के विद्यालयों में ही इनकी शिक्षा की व्यवस्था की जाने लगी।

घुमक्कड़ जाति के जीवन जीने वाली अनेक जातियों के बच्चों की शिक्षा की समस्या अवश्य ही अत्यंत जटिल है क्योंकि ये जातियां स्थिर जीवन नहीं बिताती हैं जिससे इनके बच्चों की शिक्षा की सुविधाएं जुटाना कठिन ही है। इन जातियों के जीवनस्तर को उन्नत करके इन्हें और अधिक व्यवस्थित जीवन जीने के लिए प्रेरित करना आवश्यक है। इसके लिए यह आवश्यक है कि इनकी आर्थिक स्थिति को उन्नत किया जाए। परंतु इसमें काफी समय लग सकता है। अतः शिक्षा की ऐसी व्यवस्था करना आवश्यक है जो स्थिर न हो तथा इनके बहु जीवन से मेल खाती हो।

शासन द्वारा विज्ञापित जनजातियों की शिक्षा की समस्या इतनी अधिक कठिन नहीं है जितनी कि वद्दू जीवन व्यतीत करने वाली जातियों के बच्चों की शिक्षा की है, क्योंकि ये जातियां अपेक्षाकृत अधिक स्थायी जीवन व्यतीत करती हैं। इन पिछड़ी जातियों के बच्चों के लिए छात्रावासों की व्यवस्था एवं वित्तीय सहायता हेतु समुचित छात्रवृत्तियों की व्यवस्था आवश्यक है।

आदिवासियों की शिक्षा

आदिवासी जातियां सामान्यत: पहाड़ी एवं जंगली क्षेत्रों में ऐसे स्थानों में

आदिवासियों में शिक्षा—1961[1]

राज्य	राज्य की कुल आवादी में आदिवासियों का प्रतिशत	आदिवासियों की प्रतिशत दर्ज संख्या					
		निम्न प्राथमिक	उच्च प्राथमिक	माध्यमिक	उच्च	व्यावसायिक तथा उद्योग शिक्षा	योग
आंध्र	3·7	2·3	0·7	0·6	0·4	1·8	1·9
आसाम	17·4	24·0	16·2	9·3	9·8	32·9	20·9
विहार	9·1	8·7	7·4	3·7	2·4	7·1	7·6
गुजरात	13·3	12·4	7·5	1·9	0·2	12·0	8·1
जम्मू काश्मीर	—	—	—	—	—	—	—
केरल	1·2	0·5	0·4	0·2	—	0.1	0
मध्यप्रदेश	20·6	12·3	6.5	2·2	2·2	5·0	0·9
मद्रास	0·7	0·5	0·1	0·2	0·8	0·3	0 4
महाराष्ट्र	6·1	6·6	0·1	1·0	0·6	2·6	3·4
मैसूर	0·1	0·7	0·2	—	—	0·4	0·6
उड़ीसा	—	—	—	—	—	—	—
पंजाव	0·1	0·1	0·1	0·1	0·2	0·3	0·1
राजस्थान	11·5	2·3	0·9	0·6	0·5	4·5	1·9
उत्तरप्रदेश	—	—	—	—	—	—	—
पश्चिमी वंगाल	5·9	3·5	3·2	1·4	0·3	8·5	3·4

1. Ministry of Education, Form A.

उड़ीसा के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं तथा जम्मू काश्मीर और उत्तरप्रदेश में आदिवासी नगण्य हैं।

वास करती हैं जहां सरलता से पहुंचना कठिन है तथा जहां जटिल जीवन व्यतीत करती हैं और सरल जीवन जीना वहां एक चुनौती है। कुछ आदिवासी जातियां अन्य लोगों के बीच छोटे-छोटे समूह भी बनाकर रहती हैं। परंतु अधिकांश आदिवासी ऐसे क्षेत्रों में रहते हैं जहां आदिवासी ही वसते हैं तथा इनका ही वोलवाला रहता है। भारत में आदिवासी मध्यप्रदेश, विहार, उड़ीसा, आसाम, नेफा आदि प्रदेशों में तथा महाराष्ट्र, नीलगिरि, पहाड़ आदि में रहते हैं।

भारत में आदिवासियों की शिक्षा की स्थिति एवं समस्याएं

भारत में विभिन्न क्षेत्रों में वास करने वाले आदिवासियों की संख्या एवं शिक्षा का ज्ञान हमें पीछे दी हुई तालिका से हो जाता है।

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट होता है कि असम को छोड़कर सभी राज्यों में आदिवासियों की शिक्षा वहुत पिछड़ी हुई है। असम, गुजरात तथा महाराष्ट्र में आदिवासियों की निम्न प्राथमिक स्तर की शिक्षा अपेक्षाकृत उन्नत है। मध्य-प्रदेश और राजस्थान में आदिवासियों की स्थिति असंतोषजनक ही है। आदि-वासियों की शिक्षा की सबसे बड़ी समस्या स्थिरता और अपव्यय की है। माध्य-मिक एवं उच्चतर माध्यमिक स्तरों पर भी आदिवासियों की आर्थिक स्थिति कमजोर होने के कारण दर्ज संख्या कम ही रहती है। आदिवासियों की शिक्षा के विकास में निम्न वातें प्रमुख रूप से वाधक हैं : :

(1) आवागमन के साधनों की कमी।

(2) शिफ्टिंग जोत द्वारा खेती तथा कृषि के पुराने औजार एवं विधियों का उपयोग।

(3) आर्थिक स्थिति कमजोर होना तथा आर्थिक विकास से शिक्षा का सीधा संवंध न होना।

(4) माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक स्तरों पर आदिवासी योग्यताओं का समुचित रूप से विकास न हो पाना या पूर्ण रूप से उपेक्षित रहना।

(5) आदिवासी क्षेत्रों में कार्य करने हेतु योग्य व्यक्तियों का न मिलना। जो व्यक्ति इन क्षेत्रों में शिक्षकीय कार्य करने जाते हैं उन्हें आदिवासी संस्कृति, परंपरा आदि से कोई लगाव नहीं रहता है। ये शहरी क्षेत्रों में रहने के आदी होते हैं तथा आदिवासियों को ये हीन भाव से देखते हैं। ये शिक्षक आदिवासियों में जो अच्छा एवं उपयोगी है, उसकी ओर ध्यान कम देते हैं तथा उनकी आलो-चना अधिक करते हैं। फलस्वरूप आदिवासी भी इन्हें पराया समझने लगते हैं तथा इनकी ओर आकर्षित नहीं होते हैं।

(6) आदिवासियों का निवास पहाड़ी एवं जंगली क्षेत्रों में है। इन क्षेत्रों में ये आदिवासी छोटे-छोटे समूहों में रहते हैं। अतः इन विभिन्न समूहों के लिए विद्यालय की स्थापना करने में कठिनाई आती है।

(7) आदिवासी शिक्षा की एक समस्या छुट्टियों के दिनों तथा शिक्षण के माध्यम की है। सामान्यतः विद्यालयों में शासन द्वारा मान्य हिंदू, ईसाई, मुसलमानों या अन्य धर्म वालों के त्यौहारों की छुट्टियां रहती हैं। इन आदिवासियों का इन छुट्टियों से कोई संवंध नहीं रहता है। विद्यालय में क्षेत्रीय भाषा में शिक्षण होता है तथा पाठ्यपुस्तकों में ऐसे वीर पुरुषों, कहानियों, नेताओं आदि के वर्णन रहते हैं जिनसे आदिवासी वालक अपरिचित होते हैं। अतः विद्यालयीय शिक्षा आदिवासियों को अपने ही गांव में अपरिचित सा वना देती है।

(8) शिक्षकों एवं अन्य अधिकारियों के माध्यम से आदिवासी क्षेत्रों में ऐसी प्रथाएं तथा रीतिरिवाजों का प्रसार हो रहा है जिनसे आदिवासी अपरिचित हैं, जैसे परदा, छुआछूत आदि। आदिवासी विधवा विवाह स्वतंत्रता से करते हैं। परंतु हिंदुओं के प्रभाव के कारण इस प्रकार के विवाह करने में उन्हें अनेक स्थानों में हिचक विकसित हुई है। इस प्रकार अपरिचित वातों का प्रभाव आदिवासियों पर अच्छा नहीं पड़ रहा है। आदिवासी स्वतंत्रता से नाचते गाते थे। नाचना गाना उनकी प्रसन्नता का द्योतक था परंतु आधुनिक शिक्षा उनकी इस प्रसन्नता के प्रदर्शन में अत्यंत वाधक हो रही है। इतना ही नहीं, वाह्य व्यक्तियों के संपर्क ने इन्हें जुआ तथा अन्य बुरी वातें सिखा दी हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि संपूर्ण आदिवासी जीवन का तानावाना ही छिन्न-भिन्न होने लगा है। अतः यह आवश्यक है कि उचित शिक्षा व्यवस्था के माध्यम से आदिवासी जीवन को अक्षुण्ण वनाया जाए।

(9) वर्त्तमान शिक्षा जिसमें परीक्षा तथा वौद्धिकता पर अधिक वल दिया जाता है, आदिवासी वालक अथवा वालिकाओं के जीवन को गहन रूप से विपरीत ढंग से प्रभावित कर रही है। वास्तव में आधुनिक शिक्षा का आदिवासी जीवन से कोई संवंध नहीं है। मुर्गी पालन, सूअर पालन, शिकार आदि को वाह्य संपर्क के कारण आदिवासी हेय समझने लगे हैं। यह उचित नहीं है। इन कार्यों और गतिविधियों को आदिवासी शिक्षा का अंग वनाना आवश्यक है।

आदिवासी शिक्षा विकास हेतु सुझाव

आदिवासी शिक्षा की इन उपरोक्त दर्शाई गई समस्याओं के हल हेतु आदिवासी शिक्षा के विकास के लिए शिक्षा आयोग (1964–66) ने सुझाव दिए हैं :

(1) सन् 1975–76 : आदिवासियों को 5 वर्ष की उत्तम प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराने हेतु सघन प्रयास किए जाएं।

(2) आदिवासियों की बालिकाओं की शिक्षा को विशेष रूप से प्रोत्साहित किया जाए। यह कठिन इसलिए नहीं है क्योंकि आदिवासियों में महिलाओं की स्थिति अच्छी हैं।

(3) आदिवासी क्षेत्रों के विद्यालयों में ऐसे शिक्षक और शिक्षिकाओं को भेजना चाहिए जो आदिवासी भाषा, संस्कृति आदि से परिचित हों।

(4) प्रथम दो वर्षों तक शिक्षा का माध्यम आदिवासी भाषा हो तथा आदिवासी भाषा में पाठ्य पुस्तकों के निर्माण का कार्य सम्पन्न कराया जाए। इन वर्षों में क्षेत्रीय भाषा का उपयोग मौखिक कार्य हेतु किया जाए। इससे बालक क्षेत्रीय भाषा से परिचित हो जाएंगे। तीसरे वर्ष से क्षेत्रीय भाषा शिक्षा का माध्यम हो। जिन क्षेत्रों में आदिवासी भाषा हेतु रोमन लिपि का उपयोग हो रहा है, उसे चालू रखा जाएं।

(5) आदिवासी त्योहारों, खेती के कार्य तथा जंगल के कार्यों को दृष्टिगत रखते हुए आदिवासी विद्यालयों में अवकाश, छुट्टियां तथा कार्यक्रम व्यवस्थित किए जाएं। विद्यालय-समय भी आदिवासी कुटुंबों की आवश्यकतानुसार सुविधाजनक रखा जाए।

(6) आदिवासी कला, संगीत आदि को प्रोत्साहित किया जाए तथा कार्यानुभव को व्यवस्थित करके आदिवासी कला के विकास के प्रयास किए जाएं। तीर चलाना तथा आदिवासियों के खेलों आदि को सहपाठ्यगामी क्रियाओं के रूप में व्यवस्थित किया जाएं।

(7) आदिवासियों में माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के विकास के विशेष प्रयास किए जाने आवश्यक हैं। इनके लिए छात्रावासों की व्यवस्था उपयोगी होगी। अच्छी बुद्धि वाले छात्रों को उच्च प्राथमिक स्तर पर ही चुनकर उन्हें विशेष सहायता दी जाए और उन्नत बनाया जाए। आश्रम विद्यालयों की व्यवस्था करके छात्रों को विशेष रूप से शिक्षा देने की व्यवस्था की जाए। अतिरिक्त ट्यूशन देने में थोड़ा व्यय अधिक अवश्य होगा परंतु यह बहुत प्रभावी तथा लाभप्रद होगा।

(8) आदिवासी बालक औद्योगिक कोर्स पढ़ने में रुचि लेते हैं। अतः औद्योगिक विद्यालयों की व्यवस्था इनके लाभार्थ करना उपयोगी होगा। पोलीटेकनिक, जूनियर टेकनिकल तथा औद्योगिक विद्यालय खोले जाएं तथा प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करके विद्यालय छोड़ने वाले अधिक आयु के बच्चों को भी इनमें औद्योगिक कार्य पढ़ने की सुविधाएं दी जाएं।

(9) महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा के लिए आदिवासी बच्चों के लिए विशेष रूप से छात्रवृत्तियों को प्रदान करने की सुविधा का अधिकार संस्था के प्रधान को रहे जिससे भरती के साथ-साथ छात्रवृत्ति की सुविधाएं मिल सकें।

(10) महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय स्तरों पर आदिवासी बालक और बालिकाओं के विशेष शिक्षण या कोचिंग हेतु संस्था के प्रधान को खर्च करने का अधिकार होना चाहिए। वास्तव में इस स्तर पर आदिवासी बालकों का व्यक्तिगत फालोअप होना आवश्यक है। इससे उनकी प्रगति का ज्ञान होता रहेगा तथा आवश्यकतानुसार उन्हें विकास हेतु सहायता प्रदान की जा सकेगी।

(11) उच्च शिक्षा हेतु टेकनिकल एवं औद्योगिक कोर्स के अध्ययन के लिए छात्रवृत्ति की सुविधाएं तो रहें ही, अन्य सामान्य कोर्स पढ़ने के लिए भी आदिवासियों को छात्रवृत्तियां प्रदान करने की व्यवस्था हो।

(12) वैसे तो आदिवासियों का विकास गैर आदिवासी नेतृत्व के माध्यम से ही हो रहा है, परंतु अच्छा तो यह है कि आदिवासी ही अपना विकास करके अपने नेतृत्व को उपयुक्त एवं प्रभावी बनाएं। गैर आदिवासी ऐसे बहुत कम व्यक्ति हैं जो आदिवासियों के मध्य रहकर उनके विकास के प्रयास करना चाहते हैं या कर रहे हैं। सरकारी नौकरी में रहने वाले कर्मचारीगण तो आदिवासी क्षेत्रों में बहुत कम समय रहते हैं। अनेक बार तो आदिवासी भाषा या संस्कृति न समझने के कारण अधिकारियों और आदिवासियों में उचित संबंधों का विकास नहीं हो पाता है। अतः आदिवासी क्षेत्रों में काम करने हेतु विशेष रूप से ऐसे कर्मचारियों का चुनाव किया जाए जिन्हें आदिवासियों में कार्य करने और रहने का शौक हो। इसके लिए विशेष श्रेणी का भी निर्माण किया जा सकता है। इस श्रेणी में नए कर्मचारियों को कम से कम 15 वर्ष तक आदिवासी क्षेत्र में रखा जाए तथा इस निमित्त इन्हें विशेष भत्ता, सुविधाएं आदि भी दी जाएं। इस प्रकार की विशेष सुविधाएं शिक्षकों को प्रदान करना विशेष रूप से आवश्यक है।

(13) सेकेण्डरी पास आदिवासियों को नौकरी आदि देने तथा आदिवासी क्षेत्रों में नियुक्त करने हेतु नौकरी देने के सामान्य नियमों को शिथिल करना ठीक होगा। क्योंकि कम पढ़े-लिखे होने पर भी आदिवासी अपने समाज, संस्कृति, भाषा आदि से परिचित रहेंगे जिससे ये इन क्षेत्रों में उचित नेतृत्व प्रदान कर सकें।

(14) विभिन्न आदिवासी क्षेत्रों का विकास विभिन्न होता है तथा इनकी आवश्यकताओं में भी विभिन्नता होती है। अतः सभी क्षेत्रों में विकास हेतु एक

समान कार्यक्रम व्यवस्थित नहीं करना चाहिए। स्थान विशेष की स्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुरूप योजनावद्ध अलग-अलग कार्यक्रम अपनाए जाने चाहिए।

(15) केंद्र तथा उन राज्यों में जहां आदिवासी जातियां काफी हैं, आदिवासी शिक्षा के लिए विशेष यूनिट विकसित किए जाने चाहिए। ये यूनिट अन्य विभागों के सहयोग से आदिवासी शिक्षा विकास के कार्यक्रम व्यवस्थित करें।

(16) आदिवासी शिक्षा तथा समाज संबंधी प्रामाणिक सांख्यकीय आंकड़ों का अभाव-सा है। अतः इस दिशा में ठोस कार्य किया जाए।

(17) आदिवासियों में शिक्षा प्रसार एवं विकास हेतु आदिवासी शिक्षा पर शोध और खोज करना भी आवश्यक है। अतः आदिवासी शिक्षा पर शोध एवं इसके मूल्यांकन के कार्यक्रम व्यवस्थित रूप से चलाए जाएं। हालांकि आदिवासी शोध हेतु केंद्र इस दिशा में कार्यरत है परंतु विश्वविद्यालय अनुदान आयोग भी इस हेतु विशेष वित्त व्यवस्थित रखे जिससे चुने हुए विश्वविद्यालयों एवं संस्थाओं में आदिवासी शिक्षा संबंधी शोध कार्य कराया जा सके।

(18) पिछड़ी तथा आदिवासी जातियों की शिक्षा राष्ट्र के एकीकरण के लिए आवश्यक है। अतः इस पर कितना भी व्यय किया जाए, यथोचित होगा।

11

विकलांगों की शिक्षा

विकलांगों की परिभाषा कानूनी, डाक्टरी तथा शैक्षिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न है। शारीरिक दृष्टि से विकलांग या अभावग्रस्त वालक अपंग या विकृत होता है। भावनात्मक दृष्टि से भी अनेक बालक दुखी या संतप्त रहते हैं। इन सभी प्रकार के वच्चों को विकलांगों, अभावग्रस्त या अपंगों के अंतर्गत रखा जाता है। अनेक वच्चे दैवी प्रकोप, चेचक, विषम ज्वर या अन्य घातक वीमारियों के परिणामस्वरूप तथा युद्ध या दुर्घटना के कारण विकलांग या अपंग वन जाते हैं। कभी-कभी धीमी गति से सीखने वालों को भी विकलांगों या अभावग्रस्तों या अपंगों के अंतर्गत रख दिया जाता है परंतु यह उचित नहीं है।

विभिन्न समयों एवं समाजों में विभिन्न दृष्टिकोण

अपंगों या विकलांगों के प्रति विभिन्न समयों तथा विभिन्न समाजों में विभिन्न दृष्टिकोण रहे हैं। ऐसे समाजों में जहां भोजन सामग्री तथा जीवन की अन्य अनिवार्य आवश्यकताओं का अभाव रहा है, अपंग बच्चों को मार डाला जाता था। एस्किमो, उत्तरी अमरीका की डेने जातियां, आस्ट्रेलिया की मसाई, केरिव आदि जातियां, अफ्रिका की नीग्रो जातियां आदि अविकसित वच्चों को मार डालती हैं। मध्य यूरोप में यूनानी तथा रोमन राज्यों में आपसी युद्ध वहुत होते थे। इसी कारणवश स्पार्टा तथा रोम आदि देशों के समाजों में शारीरिक दृष्टि से सवल व्यक्तियों की आवश्यकता राज्य की सुरक्षा के लिए बहुत अधिक थी। इन देशों में नवजात शिशु को बाहर डाल दिया जाता था। यदि वह दूसरे दिन जीवित बचता था तो उसे समाज ग्रहण करता और विकसित करता था। इस प्रकार संसार के अनेक देशों में केवल शारीरिक दृष्टि से अत्यंत स्वस्थ वच्चों के लालन-पालन की व्यवस्था रही है। परंतु भारत जैसे अहिंसावादी राष्ट्र में तो बुद्ध, महावीर, महात्मा गांधी आदि ने तो समाज के न केवल

अभावग्रस्त या अपंगों वरन वनस्पतिज एवं प्राणिज सभी प्रकार के छोटे-वड़े जीवों की सुरक्षा की आवश्यकता को जीवन का महान धर्म माना है। भारत में प्राचीनकाल से ही समाज के अपंगों, अपाहिजों, विकलांगों आदि की उचित व्यवस्था का उत्तरदायित्व राज्य का उत्तरदायित्व ही माना जाता रहा है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र के ग्रंथ में राजा को इन सभी प्रकार के लोगों की उचित व्यवस्था करने का दायित्व सौंपा है। यही कारण है कि भारत में अनाथालय, अस्पताल, विशेष गृह विभिन्न प्रकार के अपंगों एवं विकलांगों की उचित व्यवस्था एवं देख-रेख के लिए वनाए जा रहे हैं। विकलांगों, अपंगों या रोगियों के प्रति दया, सहानुभूति, सहायता, उदारता आदि के भावों को प्रदर्शित करने के निमित्त ही धनी व्यक्ति तथा राजा-महाराजा या वर्तमान लोकतंत्रीय या अन्य सरकारों के द्वारा अस्पताल, विद्यालयों, छात्रावास, निवास गृह, आशा निकेतनों आदि की व्यवस्था हेतु समुचित योगदान देते हैं। परंतु प्राचीनकाल या वर्तमानकाल में कुछ अविकसित समाजों में शारीरिक दक्षता एवं पूर्णता पर अधिकाधिक महत्त्व देने के फलस्वरूप ही अपंगों का विकलांगों को उपेक्षा तथा हीन दृष्टि से देखा जाता था या देखा जा रहा है। वास्तव में शारीरिक शक्ति के महत्त्वपूर्ण होने के कारण ही इस तरह किया जाता रहा है। परंतु वर्तमान समय में तो शारीरिक अंगों के अभाव में भी व्यक्ति समुचित एवं प्रभावी जीवन जी सकता है। लोग अव केवल एक फेफड़े, गुर्दे के एक भाग के ही रहने, अंगों के कटने या खराव होने, यकृत के वहुत अधिक क्षतिग्रस्त होने आदि स्थितयों में भी सामान्य व्यक्ति के समान जीवन जीते हैं। विकलांग या अपंग होने का तात्पर्य यह नहीं है कि व्यक्ति या वालक काम के योग्य नहीं है। शरीर के किसी अवयव की अयोग्यता के होने का अर्थ संपूर्ण शरीर की अयोग्यता का अभाव नहीं है। हम यह देखते हैं कि संसार में अनेक व्यक्ति शरीर के किसी या किन्हीं अवयवों के खराव होने के वाद भी वड़ी कुशलता से कार्य करते हैं। वास्तव में विकलांग या अपंग व्यक्ति काम के लिए अयोग्य नहीं होते हैं। उनमें उनके उपयुक्त कार्य करने की क्षमताएं रहती हैं, केवल आवश्यकता उन्हें समुचित अवसर प्रदान करने की है। विकलांग या अपंग भी मितव्ययी, समय पर कार्य करने वाले, सावधान, नियमित, विश्वसनीय, उत्पादक, योग्य हो सकते हैं। पंगु व्यक्ति अच्छा टाइप करते हैं या वैठे-वैठे हाथ का काम करने वाले वन सकते हैं। इन्हें टेलीफोन आपरेटर भी वनाया जा सकता है। विदेशों में तो व्यक्ति को मशीन के योग्य न वनाकर मशीनों को व्यक्ति के योग्य वनाया जाता है।

विकलांगों की शिक्षा की समस्याएं

(1) संख्या का निर्धारण

विकलांगों की शिक्षा व्यवस्थित करने वाले संगठनों, व्यवस्थाओं तथा प्रशासकों के समक्ष हमेशा यह समस्या रही है कि देश में या क्षेत्र विशेष में विकलांगों की संख्या कितनी है, इसका ठीक से कभी अनुमान नहीं लग पाया है। ऐसा नहीं है कि भारत में ही यह समस्या है। अमरीका जैसे विकसित एवं संपन्न राष्ट्र में विकलांग बच्चों की संख्या की निश्चित रूप से गणना नहीं की जा सकी है। सामान्य रूप से यह अवश्य अनुमान लगाया जा सकता है कि भारत में यह संख्या लगभग 25 लाख है। इसमें से अंधे, बहरे, लूले, लंगड़े तथा मानसिक दृष्टि से पिछड़े बालक-बालिकाओं की संख्या भारतीय शिक्षा-आयोग (सन् 1964-66) के अनुसार निम्नलिखित है।[1]

	अनुमानित संख्या (लाखों में)
अंधे—	4
बहरे—	3
लूले तथा लंगड़े—	4
मानसिक दृष्टि से पिछड़े—	14
	25

(2) सीमित साधन और पुराने उपकरण

भारत में विकलांगों की शिक्षा के लिए उपलब्ध साधन सीमित हैं तथा इनकी शिक्षा के लिए जो उपकरण एवं विधियां अपनाई जाती हैं वे पिछड़ी हुई हैं। अंधे बच्चों के लिए देश में लगभग 115 विद्यालय हैं जिनमें लगभग 5000 विकलांग छात्र-छात्राएं पढ़ते हैं। कुल मिलाकर देश में कुल अंधे बच्चों के लगभग 1 प्रतिशत के लिए ही ये सुविधाएं उपलब्ध हैं या उपलब्ध करवाई जा सकी हैं। बहरों के लिए 70 विद्यालय हैं जिनमें लगभग 4000 बच्चों को शिक्षित किया जाता है। भारत के कुल बहरों के 1 प्रतिशत से कुछ अधिक के लिए ही इस प्रकार शिक्षा की व्यवस्था उपलब्ध है। लूले-लंगड़ों की शिक्षा के लिए 25 विद्यालय हैं जिनमें लगभग 1000 बच्चे पढ़ते हैं। मानसिक दृष्टि से कमजोर बच्चों और बालिकाओं के पढ़ने के लिए लगभग 27 विद्यालय हैं जहां

1. The Report of the Education Commission (1964-66), Ministry of Education, Government of India, 1966, Page 123.

लगभग 2000 बच्चे पढ़ते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि देश में केवल 4 या 5 प्रतिशत विकलांग बच्चों के लिए ही शिक्षा की सुविधाएं उपलब्ध हैं। साथ ही साथ इन्हें केवल प्राथमिक स्तर की ही शिक्षा उपलब्ध कराई जा रही है। अंधे, लूले-लंगड़े एवं मानसिक दृष्टि से कमजोर बच्चों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के विकलांगों के लिए शिक्षा की कोई सुविधाएं भारत में उपलब्ध नहीं हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि भारत में विकलांग बच्चों की शिक्षा की सुविधाएं अत्यंत कम हैं।

(3) विकलांगों के शिक्षकों को विशेष प्रशिक्षण की सुविधाएं

भारत में अंधें बच्चों के शिक्षकों के प्रशिक्षण केंद्र केवल तीन हैं जिनमें लगभग 30-40 शिक्षक प्रति वर्ष प्रशिक्षित होते हैं। बहरे बच्चों के शिक्षकों के प्रशिक्षण की सुविधा हेतु केवल 6 केंद्र हैं जिनमें 50 से 60 शिक्षक प्रति वर्ष प्रशिक्षित किए जाते हैं। लूले-लंगड़ों की शिक्षा के लिए तो विशेष रूप से प्रशिक्षित शिक्षक विकसित ही नहीं किए जाते हैं। मानसिक दृष्टि से पिछड़े बच्चों के शिक्षकों के केवल दो केंद्र भारत में हैं जहां प्रति वर्ष 20 शिक्षक प्रशिक्षित किए जाते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि भारत में विकलांगों को शिक्षा देने वाले शिक्षकों के प्रशिक्षण की भी पर्याप्त सुविधाएं उपलब्ध नहीं हैं।

(4) उपयुक्त साहित्य एवं उपकरणों का अभाव

भारत में विकलांग बच्चों की शिक्षा के लिए आवश्यक उपयुक्त साहित्य एवं आधुनिक उपकरणों का भी अभाव रहता है। विदेशों के उपकरण महंगे पड़ते हैं तथा विदेशी साहित्य से काम भी नहीं चलता है।

विकलांग बच्चों की शिक्षा समस्याओं के हल हेतु उपाय

भारत में विकलांग बच्चों की शिक्षा सुविधाएं काफी कम और पिछड़ी हुई हैं। भारतीय शिक्षा आयोग ने सन् 1964-66 में विकलांगों की शिक्षा के संबंध में निम्नलिखित सुझाव दिए हैं जो अत्यंत उपयोगी हैं :

(1) भारत में विकलांग बच्चों की शिक्षा को सीमित करने वाले दो तत्त्व हैं—शिक्षक एवं वित्तीय साधन। अतः यह आवश्यक है कि इनके संबंध में मापदण्ड एवं लक्ष्य निश्चित किए जाएं। शिक्षा आयोग ने इस दृष्टि से सुझाव दिया है कि सन् 1986 तक 15 प्रतिशत अंधे, बहरे तथा लूले-लंगड़े बच्चों तथा 5 प्रतिशत मानसिक रूप से पिछड़े बच्चों की शिक्षा अर्थात् कुल विकलांग बच्चों के 10 प्रतिशत के लिए शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए। विकलांग

बच्चों की शिक्षा के लिए देश के प्रत्येक जिले में कम से कम एक अच्छा विद्यालय विकसित किया जाए।

(2) भारत में विकलांग बच्चों की शिक्षा के लिए केवल विशेष विद्यालयों की स्थापना का कार्यक्रम ही अभी तक अपनाया गया है। अनेक विकसित देशों में सामान्य बच्चों के विद्यालयों में ही समन्वित कार्यक्रम विकसित करके सभी के साथ-साथ उनके समुचित विकास के प्रयास किए जाते हैं। इस प्रकार से समन्वित कार्यक्रम व्यवस्थित करने से एक तो इस प्रकार की शिक्षा पर व्यय कम होता है तथा विकलांग बच्चों तथा सामान्य बच्चों में सद्भाव एवं आपसी सहानुभूति बनी रहती है। इस प्रकार के समन्वित कार्यक्रम के कुछ दोष भी हैं जिनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है विकलांग बच्चों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचलित होना तथा उनमें हीनता की भावना का विकास होना। परंतु फिर भी शिक्षा आयोग का विचार है कि सामान्य विद्यालयों में विकलांग बच्चों की शिक्षा के लिए समन्वित कार्यक्रम एवं पाठ्यक्रम विकसित करना लाभप्रद होगा। अतः इस दिशा में कार्य किया जाना चाहिए।

(3) कुछ विशिष्ट प्रकार के विकलांग बच्चों की शिक्षा के लिए जैसे, भावनात्मक दृष्टि से विकलांग बच्चों की शिक्षा, बोलने में कठिनाई अनुभव करने वाले बच्चों की शिक्षा, चोट खाए मस्तिष्क वाले बच्चों की शिक्षा आदि की व्यवस्था भी भारत में आवश्यक है। मैंने इंग्लैंड, अमरीका तथा यूरोप के कुछ अन्य देशों में इस प्रकार के बच्चों के लिए विकसित विशिष्ट विद्यालय देखे हैं। इनमें बच्चों की समुचित देख-रेख होती है तथा वे सही ढंग से विकसित होते हैं। परंतु इनके लिए विशिष्ट रूप से प्रशिक्षित शिक्षक-शिक्षिकाएं तथा आधुनिक उपकरण आवश्यक हैं। अतः इन शिक्षकों के प्रशिक्षण की सुविधाएं भी विकसित की जानी चाहिएं। बंगलौर में, बोलने में कठिनाई अनुभव करने वाले बच्चों के शिक्षकों को प्रशिक्षण देने के लिए एक केंद्र विकसित किया गया है। परंतु भावनात्मक रूप से विचलित तथा आंशिक रूप से अंधे बच्चों के शिक्षकों को प्रशिक्षण के लिए सुविधाएं अभी भी भारत में उपलब्ध नहीं हैं। अतः इनका विकास पांचवीं तथा छठी योजनाओं में अवश्य किया जाना चाहिए।

(4) विकलांग बच्चों तथा शिक्षकों का अनुपात यदि 10 : 1 माना जाए तो भारत में विकलांग बच्चों की शिक्षा के लिए लगभग 25 हजार शिक्षक आवश्यक होंगे। अतः शिक्षकों की इतनी बड़ी संख्या को प्रशिक्षण देने की व्यवस्था आवश्यक है।

(5) विकलांग बच्चों की शिक्षा में संलग्न विभिन्न संगठनों एवं एजेंसियों

के कार्यों एवं गतिविधियों में समन्वय आवश्यक है। यह समन्वय केंद्र-राज्य दोनों स्तरों पर किया जाना चाहिए।

(6) विकलांग बच्चों की शिक्षा संबंधी शोध को प्रोत्साहन देना आवश्यक है। इस हेतु एन० सी० ई० आर० टी० एवं शिक्षा विभाग को विशेष रूप में वित्तीय प्रावधान करना चाहिए। इस हेतु एक सेल भी इन संगठनों में विकसित किया जाए तो उत्तम होगा।

12

पिछड़े बालकों की शिक्षा

कुछ बालक ऐसे होते हैं जो व्यवहार संबंधी कठिनाइयों को तो उपस्थित नहीं करते किंतु उन्हें सामान्य शिक्षा से कोई लाभ नहीं होता। अगर ऐसे बालकों पर ध्यान न दिया जाए तो वे शिक्षक के लिए समस्या बन जाते हैं। इनकी संख्या सीमित होती है और इन्हें कई श्रेणियों में बांटा जा सकता है। इन्हें मनोवैज्ञानिक भाषा में मंद बुद्धि भी कहते हैं। इनकी बुद्धि औसत से कुछ कम होती है इसीलिए उनका पता लगाना कठिन होता है। इन्हें सीमांत बालक (Border line children) भी कहते हैं। जिन बालकों में इससे अधिक बुद्धि की कमी होती है उन्हें मानसिक दुर्बल बालक कहते हैं। ऐसे बालक सामान्य शिक्षा के अयोग्य होते हैं।

पिछड़े बालकों की कक्षा में उपस्थिति, साधारण तथा प्रतिभावान दोनों प्रकार के बालकों के लिए हानिकर होती है। स्वयं पिछड़े बालकों में भी आत्म-हीनता का भाव आ जाता है और उनकी उन्नति रुक जाती है। उन्हें विषय समझाने की अधिक चेष्टा में शिक्षक अपना अध्यापन ही अरुचिकर बना बैठता है। वास्तव में वैयक्तिक बुद्धि परीक्षा द्वारा ऐसे बालकों का पता लगाना चाहिए और उनका वर्गीकरण करना चाहिए।

पिछड़ेपन के कारण

किसी बालक के कक्षा में पिछड़े होने के दो कारण हो सकते हैं : आंतरिक एवं बाह्य। आंतरिक कारणों में बुद्धि की हीनता तथा कुछ ज्ञानेंद्रियों की निर्बलता हो सकता है। बाह्य कारणों में बालक की पारिवारिक परिस्थिति तथा उसकी मित्र मंडली आ सकती है। आवश्यक सुविधाओं के अभाव में कभी-कभी साधारण बुद्धि वाला बालक भी कक्षा में पिछड़ जाता है। कभी-कभी सारी सुविधाएं प्राप्त होने पर भी बुरे साथियों के कारण उसकी अवनति हो जाती

है। अतः बालक के आंतरिक एवं बाह्य दोनों कारणों का पता लगाना चाहिए। उसके कुटुंब का अध्ययन करना चाहिए। इन कारणों का ठीक-ठीक पता लगाने पर ही ऐसे बालकों की शिक्षा के उपकरणों का आयोजन सरल हो सकता है।

पिछड़ेपन के प्रकार

(1) पारिवारिक परिस्थिति या वातावरण के कारण पिछड़ापन, जैसे दुर्व्यवहार, अधिक लाड़-प्यार, अशिक्षित मां-बाप, निर्धनता आदि।

(2) मंद बुद्धि।

(3) ज्ञानेंद्रियों की निर्बलता के कारण पिछड़ापन।

(4) शारीरिक दोष के कारण पिछड़ापन, जैसे आंख से कम दिखना, कान से कम सुनना, या हाथ-पैर आदि या अन्य अवयव के दोष।

(5) हकलाना।

(6) व्यक्तित्व का अत्यधिक अन्तर्मुखी होना जैसे दिवास्वप्न देखना तथा पढ़ना नहीं या बहिर्मुखी होना जैसे इधर-उधर के कामों और झगड़ों से ही फुरसत न पाना।

(7) विद्यालय के दूषित वातावरण के कारण पिछड़ापन—विद्यालय में दंड का आधिक्य, आपसी लड़ाई-झगड़े अधिक होना, द्वेष की भावना आदि।

(8) शिक्षक के अनियंत्रित संवेगात्मक व्यवहार के कारण पिछड़ापन जिसके कारण भय, चिन्ता, अनिश्चितता आदि बढ़ती है।

इन पिछड़ेपन से युक्त बालकों की शारीरिक एवं मानसिक विशेषताएं सामान्य और प्रखर बुद्धि के बालकों से भिन्न होती हैं। अध्ययन से पता चलता है कि इनमें मौलिकता नहीं होती। इनके खेल साधारण कोटि के होते हैं तथा इनमें उन शील गुणों का अभाव होता है जो सामाजिक दृष्टि से वांछनीय कहे जाते हैं। उनकी बौद्धिक योग्यता तथा अभिरुचियां सीमित होती हैं। उनमें अमूर्त चिन्तन की क्षमता एवं तर्क शक्ति का अभाव होता है। वे शारीरिक कार्यों में अधिक रुचि दिखलाते हैं। सामान्य बालकों की अपेक्षा उनकी शारीरिक क्रियाओं एवं भाषा का विकास देर से होता है। उनमें प्रतिक्रिया विलंब से होती है इसीलिए उन्हें किसी विषय को समझने में समय अधिक लगता है। सूझ की कमी होने के कारण ही वे एक परिस्थिति के नियम या सिद्धांत को दूसरी समान परिस्थिति में काम में नहीं ला पाते। उनमें शिक्षण को स्थानान्तर करने की योग्यता नहीं होती या इसकी कमी होती है। तात्पर्य यह कि उनमें सामान्यीकरण और समन्वय की योग्यता का विकास नहीं हो पाता। उनका

ध्यान-विस्तार सीमित होता है। इसलिए वे एक साथ कई चीजों पर ध्यान नहीं दे पाते और न किसी एक चीज पर अधिक समय तक ध्यान केंद्रित कर पाते हैं। वे किसी काम को स्वयं करने में पहल नहीं करते क्योंकि उनमें आत्म-विश्वास का अभाव होता है। वे स्वयं किसी कार्य का निर्देशन नहीं कर पाते। उनका चिंतन ठोस आधारों पर न होने के कारण ही उनके निष्कर्ष गलत होते हैं। इसीलिए उन्हें पग-पग पर निर्देशन की आवश्यकता पड़ती है। वे अपनी योग्यताओं का उचित मूल्यांकन नहीं कर पाते और अपने प्रति की गई आलोचना से घवड़ा जाते हैं। कभी-कभी इस प्रकार के वालकों में शारीरिक दोष भी पाए जाते हैं।

पिछड़े वालक और शिक्षा

इस प्रकार एक अथवा अनेक कारणों से वालक पढ़ाई में पिछड़ सकता है। ऐसे वालकों की शिक्षा व्यवस्था कैसी हो, इस संबंध में विद्वानों ने कुछ सुझाव प्रस्तुत किए हैं :

(1) ऐसे वालकों को अलग विशेष वर्ग में रखकर उनका अध्ययन-अध्यापन किया जाए। भारत जैसे निर्धन देश में अभी ऐसा कर सकना संभव नहीं है। विकसित देशों में मैंने इसकी अलग से कक्षाओं की व्यवस्था देखी है। यह अत्यंत उपयोगी है।

(2) ऐसे वालक को एक कक्षा में तव तक रखा जाए जब तक उसमें उस कक्षा की अपेक्षित योग्यता न आ जाए। यह सुझाव भी दोषपूर्ण है। फेल होने पर वालक में उत्साह नहीं रहेगा। हो सकता है, कई साल फेल होने पर वह विद्यालय ही छोड़ दे। यदि वह पढ़ता है तो हीन भाव से पीड़ित होने के कारण सबसे अलग रहेगा। पढ़ाई भी उसे भारस्वरूप लगेगी। वह पढ़ाई में उन्नति नहीं कर सकता। अतः यह सुझाव भी उचित नहीं जान पड़ता।

(3) एक सुझाव यह भी है कि ऐसे वालक को पास तो कर दिया जाए पर अगली कक्षा में उस पर विशेष ध्यान दिया जाए। ऐसा करने से उसे अपनी कमी पूरी करने का अवसर एवं साहस प्राप्त होगा। किंतु विना कारण जाने यदि ऐसा किया जाएगा तो यह पक्षपात कहलाएगा और शिक्षक एवं छात्रों में आलोचना का विषय होगा। दूसरे छात्र उससे ईर्ष्या करेंगे और उस छात्र को तरह-तरह से तंग करेंगे। शिक्षक भी उस छात्र को तरह-तरह से तंग करेंगे। शिक्षक भी अपनी प्रतिष्ठा खो देगा और उसका संवेदात्मक संतुलन गड़वड़ हो जाएगा। विद्यालय में अनुशासनहीनता की समस्या दिन प्रति दिन उग्रतर होती

जाएगी। पढ़ाने में उसकी रुचि नहीं रहेगी और इसका दण्ड अन्य निर्दोष छात्रों को भी भुगतना पड़ेगा।

(4) इस प्रकार हम देखते हैं कि उपरोक्त सुझाव व्यावहारिक होते हुए भी हमारे देश के लिए व्यावहारिक नहीं हैं। वास्तव में जब कोई शिक्षक किसी वालक को पिछड़ा हुआ पाए तो उसके कारणों का पता लगाने की चेष्टा करे। यदि पिछड़ापन बुद्धि की कमी के कारण है तो उसे चाहिए कि शिक्षण पद्धति में संशोधन कर ले। उसे अमूर्त विषय न पढ़ा कर कार्यों के द्वारा शिक्षा देने का प्रयत्न करे। इसके लिए चटाई बुनना, बढ़ई का काम, खेती आदि अधिक उपयुक्त है। बहुधंधी विषयों का बेसिक विधि से अध्यापन अधिक उपयुक्त होगा। बहुधंधी विषयों का सहारा लेकर उसे विभिन्न कार्यों को करने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकेगा। उसकी रुचि एवं योग्यतानुसार कार्य का चुनाव करके उसे अधिक समय देना चाहिए।

अन्य कारणों से पिछड़े वालकों के लिए शिक्षक को विशेष सावधान होने की जरूरत है। यदि वालक व्यक्तित्व दोष के कारण पढ़ाई में पिछड़ा है तो उस दोष का ठीक-ठीक पता लगाया जाना चाहिए। यदि वालक अंतर्मुखी है तो उसे उसकी रुचि एवं योग्यतानुसार कार्य में व्यस्त रखना चाहिए। पर कार्य में परिवर्तनशीलता भी होनी चाहिए जिससे कार्य में अरोचकता न आने पाए। ऐसे वालक को सामाजिक खेलों में भाग लेने को प्रोत्साहित करते रहना चाहिए। यह लाभप्रद होगा।

यदि वालक बहिर्मुखी है तो उसके इच्छानुसार विभिन्न कार्यों के लिए उसका समय निश्चित कर लेना चाहिए। प्रोत्साहन केवल नियमित होने के लिए करना चाहिए। इस दशा में वह पढ़ाई में भी पूरा ध्यान लगा सकेगा और पिछड़ापन दूर हो जाएगा।

यदि बालक किसी शारीरिक दोष के कारण पढ़ाई में पिछड़ा है तो माता-पिता के सहयोग से बालक के स्वास्थ्य की उचित व्यवस्था करने की पहल करनी चाहिए। खानपान में सुधार की व्यवस्था हो जाने से भी स्वास्थ्य में सुधार हो सकता है। कमजोर आंख और कम सुनने वाले वालक को पास अथवा सामने की सीटों पर बैठाया जाना ठीक होगा। कमजोर आंख वाले बालकों को बोल कर समझाया जाए, श्याम पट्ट पर लिखकर नहीं। कम सुनने वाले वालक को लिखकर समझाना चाहिए पर उसे भी ऐसे स्थान पर पास बैठाना चाहिए जिससे अन्य छात्र उसे तंग न करें।

पारिवारिक वातावरण

जब पिछड़ेपन का कारण अत्यधिक लाड़प्यार, उपेक्षा, तिरस्कार अथवा माता-पिता का कलहपूर्ण जीवन हो तब शिक्षकों को अपने बाल-मनोविज्ञान के ज्ञान के आधार पर माता-पिता को उनके कार्यों के लाभ-हानि समझाकर वातावरण में वांछित सुधार करवाने का प्रयत्न करना चाहिए।

गरीबी और साधनों के अभाव में जो बालक पढ़ाई में पिछड़े हों उनके लिए शिक्षक को सरकार या उदार धनी व्यक्तियों से अपील करके पुस्तकें, विद्यालय शुल्क आदि पूर्ण या आंशिक रूप में दिलवाना चाहिए। ऐसे बालक को घर के कामों में हाथ बटाने के लिए भी प्रोत्साहित करना चाहिए और यदि संभव हो तो अल्पकालीन कार्य दिलवा कर उसे धनोपार्जन एवं व्यय की व्यवस्था का समुचित साधन भी बनवा देना चाहिए। शिक्षक का उचित प्रोत्साहन और मार्ग-दर्शन ऐसे बालक का जीवन बना सकता है, उसे उन्नति के शिखर पर बैठा सकता है।

इसी प्रकार पाठशाला का वातावरण यदि बालक के पिछड़ेपन का कारण है तो उसे नियंत्रित करना चाहिए तथा सुधारना चाहिए। इसके लिए ऐसे शिक्षक रखे जाएं जो अपने विषय के ज्ञाता हों तथा निर्भीक शिक्षा पद्धतियों का ज्ञान रखते हों। उनका व्यवहार सहानुभूतिपूर्ण हो, पुलिस के दरोगा जैसा नहीं। यदि बालक गलती करे तो उसे कार्य का अनौचित्य समझा कर भविष्य में न करने का सुझाव दिया जाए तो सफलता निश्चित ही मिलेगी। दंड व्यवस्था का औचित्य केवल अंतिम स्थिति में किया जाए। वह भी सुधार भावों से कुछ विशेष प्रतिबंधों सहित मान्य किया गया है। किसी भी दशा में अनियंत्रित संवेगों को भड़का कर दंड प्रतीकात्मक रूप में देना वर्जित है। इससे सुधार नहीं हो सकता। गुरु की गुरुता क्षमाशीलता में है—गंदगी से गंदगी को साफ नहीं किया जा सकता। आदर्श कार्यों से विद्यालय का वातावरण सरस हो, मनोरम हो; यही कर के पिछड़े बालकों को आगे बढ़ाया जा सकता है। इस प्रकार शिक्षक की सावधानी से बालक के पिछड़ेपन को दूर किया जा सकता है और उसके व्यक्तित्व का समुचित विकास किया जा सकता है।

13

शिक्षा के समान अवसर

लोकतंत्र में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुसार राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति में सहयोग देना तथा अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करना होता है। लोकतंत्र केवल राजनैतिक संगठन ही नहीं है वरन् जीवन जीने का एक विशेष ढंग भी है। यहां प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्यों, विचारों, भावनाओं आदि का अपने अन्य साथियों पर पड़ने वाले प्रभावों का ध्यान रखता है तथा अन्य सदस्यों के कार्यों, भावों और विचारों के आधार पर अपने भावों, कार्यों और विचारों को गति देता है। इसका फल यह होता है कि प्रजातंत्र में व्यक्ति अनेक प्रकार की प्रेरणाओं तथा उत्प्रेरकों से प्रभावित होता रहता है। फलस्वरूप उसके जीवन कार्यों में विभिन्नता होती है। यही कारण है कि लोकतंत्र में व्यक्ति की विभिन्न क्षमताओं का विकास करना आवश्यक होता है। भारत एक समाजवादी लोकतंत्रीय गणतंत्र है तथा इसके समाजवाद का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य शिक्षा के समान अवसरों की उपलब्धि है। 'शिक्षा के समान अवसरों' से तात्पर्य है शिक्षा की ऐसी पद्धति का विकास करना जिसमें समाज के पिछड़े, कम विकसित तथा उपेक्षित जातियों तथा गरीव व्यक्तियों को शिक्षा की वे सभी सुविधाएं उपलब्ध हो सकें जो समाज के संपन्न व्यक्तियों को प्राप्त हैं। इस प्रकार की सुविधाओं की उपलब्धियों से समाज के अविकसित पिछड़े वर्ग भी अपना विकास करने में समर्थ होंगे। भारत जैसे सजग लोकतंत्रीय राष्ट्र में इस प्रकार की चेतना स्वाभाविक ही है कि समाज के सभी व्यक्ति विशेषतः साधारण व्यक्ति उन्नत हो तथा उसके कौशलों, खूबियों आदि का समुचित विकास हो। इससे साधारण, अविकसित और पिछड़े हुए व्यक्तियों का शोषण बंद होगा तथा वे समाज के प्रभावी, उत्पादक और सक्रिय सदस्य वन सकेंगे।

शिक्षा के समान अवसर उपलब्ध न हो सकने के कारण

कई कारणवश शिक्षा के समान अवसर उपलब्ध नहीं हो पाते हैं जिनमें से निम्न प्रमुख हैं :

(1) **शिक्षा की सुविधाओं का विद्यमान न होना** : जिन स्थानों पर प्राथमिक विद्यालय या उच्च शिक्षा के साधन नहीं हैं, वहां के बच्चों को वे सभी सुविधाएं उपलब्ध नहीं होती हैं जो आसपास के इन संस्थाओं वाले स्थानों के बच्चों को उपलब्ध रहती हैं। भारत में अनेक स्थानों पर शिक्षण संस्थाएं विकसित नहीं की जा सकतीं। इसमें आर्थिक कठिनाइयों के साथ-साथ प्राकृतिक कठिनाइयां भी हैं। न केवल देश के विभिन्न क्षेत्रों में शैक्षिक सुविधाओं में असमानता है वरन् राज्य के तथा जिले के विभिन्न क्षेत्रों में भी शिक्षा की सुविधाओं की उपलब्धियों में असमानता है।

(2) **समाज में गरीब तथा साधारण लोगों की अधिकता** : भारत में संपन्न व्यक्ति गिने चुने ही हैं। सामान्य तथा गरीब व्यक्तियों का आधिक्य है। अतः शिक्षा सुविधाओं के उपलब्ध होते हुए भी गरीब परिवारों के बालक उससे वंचित रह जाते हैं तथा संपन्न परिवार के बालकों को यह सुविधा सुलभ हो जाती है। इसके साथ-साथ गरीबी के कारण बच्चों को पौष्टिक आहार भी नहीं मिल पाता है। पैदा होने के बाद से 6 वर्ष तक का जीवन बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। इस आयु में पौष्टिक आहार, उत्तम वातावरण, सहानुभूति आदि के न मिलने से गरीब बच्चों के मस्तिष्क का विकास हमेशा के लिए रुक जाता है। फलस्वरूप गरीब, उपेक्षित तथा कुपोषण वाले घरों में बच्चों को जीवन में वह प्रारंभ नहीं मिल पाता है जो संपन्न तथा धनी घरों के बच्चों को मिलता है।

शिक्षण संस्थाओं की स्थापना से ही शिक्षा की समानता नहीं आ जाती है। विद्यालय स्थापित होने के बाद विद्यालय-पोशाक, पुस्तकें, मध्याह्न भोजन आदि की व्यवस्था भी आवश्यक है। अतः यदि प्राथमिक विद्यालय की कहीं स्थापना की जाए तथा इन अन्य आवश्यक सामग्री की व्यवस्था न हो तो विद्यालय की स्थापना का लाभ संपन्न परिवार के बच्चों को ही मिलता है। घरों में काम करने के कारण भी अनेक गरीब बच्चे विद्यालय छोड़ देते हैं। जो निर्धन बच्चे विद्यालयों में पढ़ते भी हैं वे विद्यालय अथवा विश्वविद्यालयीय शिक्षा से उतने लाभान्वित नहीं होते हैं जितने कि संपन्न बालक। शिक्षण संस्थाओं का पाठ्यक्रम, शिक्षण विधि, परीक्षा सभी संपन्न बालकों के अनुकूल होते हैं।

(3) **शिक्षण संस्थाओं के स्तरों में विभिन्नता** : विद्यालयों, महाविद्यालयों

तथा विश्वविद्यालयों के शिक्षण स्तरों की विभिन्नता के कारण भी शिक्षा के अवसरों की असमानता बढ़ती है। उत्तम स्तर पर शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश नीचे की परीक्षा में प्राप्त अंकों के आधार पर होता है। परीक्षाओं में गरीब एवं साधारण बच्चे को उसकी सीमाओं के कारण धनी बालक की तुलना में कम अंक प्राप्त होते हैं। अतः ये प्राप्तांक गरीब एवं अमीर बालक की योग्यता की जांच का एक समान आधार नहीं है। इसी प्रकार ग्रामीण क्षेत्र का बालक साधारण तथा कम संपन्न विद्यालय में पढ़ा हुआ होता है। शहरों के विद्यालय अपेक्षाकृत अधिक संपन्न तथा उत्तम शिक्षक वाले होते हैं। फलस्वरूप यह स्वाभाविक ही है कि शहरी बालक को ग्रामीण बालक की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक शैक्षिक सुविधाएं मिलती हैं।

(4) **उन्नत नामधन्य संस्थाओं में प्रवेश की शर्तें :** देश की उन्नत, नामवर संस्थाओं में चाहे वे विद्यालय हों, महाविद्यालय हों या विश्वविद्यालय हों प्रवेश के लिए विशेष योग्यता या आर्थिक साधनों का होना आवश्यक रहता है। फलस्वरूप गरीब बालक या पिछड़ी जातियों के बालक इन अच्छी चुनी हुई संस्थाओं में प्रवेश से वंचित रहते हैं।

(5) **घर के वातावरण में भिन्नता :** ग्रामीण क्षेत्र या शहरी क्षेत्र के गरीब अशिक्षित पालकों से छात्रों को वे अवसर उपलब्ध नहीं होते जो इन क्षेत्रों के संपन्न शिक्षित पालकों के छात्रों को उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार की असमानता को दूर करना अत्यंत कठिन है। देश के जीवन स्तर के उन्नत हुए बिना इसकी समानता लाना कठिन ही है।

(6) **छात्र तथा छात्राओं की उपलब्ध शिक्षा की सुविधा :** भारत में शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर छात्राओं को छात्रों के समान शिक्षा सुविधाएं उपलब्ध नहीं हैं। फलस्वरूप छात्राएं जिस प्रकार की शिक्षा के योग्य हैं, वह उन्हें नहीं मिल पाती हैं।

(7) **अनुसूचित तथा आदिम जातियों में शिक्षा का कम विकास :** भारत में शिक्षा संबंधी असमानता विद्यमान होने का एक प्रमुख कारण देश में अनुसूचित तथा आदिम जातियों का आधिक्य तथा इनमें शिक्षा का प्रसार एवं विकास बहुत कम होना भी है। पहाड़ी तथा जंगली क्षेत्रों में शिक्षण संस्थाओं के विकास में बहुत बाधाएं हैं तथा इन क्षेत्रों को सामान्य बौद्धिक शिक्षा से कोई तात्कालिक लाभ दिखाई नहीं देता है। अतः यदि किसी प्रकार इन क्षेत्रों में विद्यालय खोल भी दिए जाते हैं तो भी ये लोग इनसे कम लाभ ही उठा पाते हैं।

(8) **शिक्षा का महंगा होना :** विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में फीस

ली जाती है। इसके सिवाय विद्यालय आने-जाने के लिए वाहन, महंगी पुस्तकें आदि आवश्यक होती हैं। इससे शिक्षा वहुत महंगी हो जाती है। यदि शिक्षा के किसी प्रकार के स्तर पर फीस न ली जाए तव भी इसका लाभ गरीव वालकों को न मिल कर शहर के मध्यम वर्गीय तथा संपन्न वर्गीय वालकों को ही अधिक मिलता है क्योंकि फीस तो शिक्षा व्यय का एक भाग ही है। अन्य अनेक खर्चों के कारण गरीव वालक शिक्षा प्राप्त करने से वंचित रह जाता है। उच्च शिक्षा स्तर पर तो यह और अधिक स्पष्ट रूप में परिलक्षित होता है। उच्च शिक्षा तो शहरों में ही उपलब्ध रहती है। ग्रामीण वच्चों को शहरों में रहने की सुविधाएं नहीं रहती हैं। छात्रवृत्ति की सुविधाएं भी वहुत अल्प हैं। इसमें उच्च शिक्षा का लाभ संपन्न वालकों को ही अधिक मिलता है। यदि किसी प्रकार वालक उच्च शिक्षा लेने की सुविधाएं जुटा भी लें तो अच्छे अंक आदि के वंधन के कारण उत्तम प्रकार के पाठ्यक्रमों को वह चुन ही नहीं पाता है। अतः उसे उच्च शिक्षा में भी सामान्य या निम्नस्तरीय पाठ्यक्रम ही चुनने होते हैं।

(9) **अंशकालिक एवं अविधिक शिक्षा की कमी :** भारत में प्राथमिक स्तर से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक शिक्षा पूर्णकालिक ही है। फलस्वरूप गरीव एवं साधारण परिवार के वे वच्चे शिक्षा प्राप्त करने से वंचित रह जाते हैं जिन्हें घर पर या समाज में काम करने जाना पड़ता है। माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा स्तरों पर तो पूर्णकालिक पाठ्यक्रमों की ही व्यवस्था होने के कारण केवल संपन्न बालक ही इनका पूर्ण लाभ उठा पाता है। जिन वच्चों को गरीवी के कारण कम आयु में ही काम पर जाना पड़ता है या जो निजी अध्ययन करके अपनी योग्यता बढ़ाना चाहते हैं उन वच्चों को अंशकालीन सस्ते पत्राचार पाठ्यक्रमों के अभाव में शिक्षा की सुविधाएं उपलब्ध नहीं हो पाती हैं। इस दृष्टि से भी संपन्न एवं गरीब वालकों में शिक्षा सुविधाओं में पर्याप्त असमानता पाई जाती है।

(10) **निजी संस्थाएं तथा ट्यूशन व्यवस्था :** समाज में निजी संस्थाओं के होने तथा निजी ट्यूशन व्यवस्था के कारण शिक्षा का लाभ संपन्न बालक ही अधिक ले पाते हैं। अनेक निजी शिक्षण संस्थाएं वहुत उत्तम होती हैं तथा उनमें वहुत अधिक फीस ली जाती है। इनमें शिक्षा प्राप्त करने के लिए वहुत धन की आवश्यकता होती है। अतः इन संस्थाओं में संपन्न बालक ही भरती होते हैं। इनमें कान्वेन्ट, पब्लिक स्कूल आदि हैं। इन स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करके संपन्न बालक ऊंची नौकरियों को प्राप्त करने का अपना अधिकार बनाए रखते

हैं। निजी ट्यूशन की व्यवस्था भी संपन्न बालक ही प्राप्त कर सकते हैं। गरीब तथा पिछड़ी जातियों के बालक इन सुविधाओं से वंचित रहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि योग्यता के आधार पर प्रवेश, पूर्णकालिक शिक्षा की ही व्यवस्था, छात्रवृत्तियों की व्यवस्था का समुचित एवं सुदृढ़ न होना, महिला एवं पुरुष वर्ग की शिक्षा सुविधाओं में अंतर, पिछड़ी एवं अनुसूचित जातियों की शिक्षा हेतु पर्याप्त शिक्षा सुविधाओं की कमी, गरीब और संपन्न घरों के वातावरण की भिन्नता, शिक्षण संस्थाओं के स्तरों की भिन्नता आदि के कारण शिक्षा की सुविधाओं का लाभ सामान्यत: संपन्न परिवार ही अधिक पाते हैं। अत: इस स्थिति में सुधार आवश्यक है।

शिक्षा की असमानता दूर करने के उपाय

भारत में शिक्षा की असमानता दूर करने के लिए निम्न उपाय अपनाए जा सकते हैं :

(1) समाज के गरीब एवं कमजोर वर्ग की शिक्षा व्यवस्था संबंधी कार्यक्रमों का आयोजन : भारत में अभी तक इन वर्गों में शिक्षा प्रसार हेतु तीन प्रकार के कार्यक्रम व्यवस्थित किए गए हैं—शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर शिक्षा सुविधाओं का विस्तार, प्राथमिक एवं माध्यमिक स्तरों पर निःशुल्क शिक्षा तथा उच्च शिक्षास्तर पर कम शुल्क लेना। इन उपायों के साथ-साथ अनुसूचित तथा आदिम जातियों के लिए शिक्षण संस्थाओं में स्थान सुरक्षित रखने तथा छात्रवृत्तियों आदि की व्यवस्था भी की गई है। परन्तु भारत में कमजोर और गरीब वर्ग के बच्चों की शिक्षा की स्थिति इतनी दयनीय है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से इन सुविधाओं के बावजूद इस दिशा में प्रगति अत्यंत धीमी है। अत: अब इन वर्गों में शिक्षा के संख्यात्मक विकास या निःशुल्क अथवा कम खर्च वाली शिक्षा की उपलब्धियों मात्र से स्थिति नहीं सुधर सकती। अत: आवश्यकता तो यह है कि गरीब एवं पिछड़े वर्गों में शिक्षा के विकास हेतु सबल कार्यक्रम आयोजित किए जाएं। इस हेतु इन पिछड़े एवं गरीब वर्गों के बच्चों को मध्याह्न भोजन देना, मुफ्त पुस्तकें एवं अन्य शिक्षण सामग्री उपलब्ध कराना, छात्रवृत्तियों में वृद्धि करना, छात्रावास की सुविधाओं में वृद्धि करना, शिक्षण में व्यक्तिगत ध्यान देना तथा निःशुल्क ट्यूशन की व्यवस्था करना आदि उपायों को अपनाकर इन वर्गों में शिक्षा के प्रसार तथा विकास के सबल प्रयास किए जाने चाहिएं।

(2) अंशकालीन एवं पत्राचार पाठ्यक्रमों की सुविधाओं का विकास : गरीब एवं पिछड़े वर्गों के बच्चों के लिए पूर्णकालिक, प्राथमिक या माध्यमिक

शिक्षा की व्यवस्था की अपेक्षा यदि अंशकालीन एवं पत्राचार पाठ्यक्रमों की व्यवस्था की जाए तो अधिक लाभ होगा। क्योंकि इन वर्गों के बच्चों को घर और समाज में काम करना पड़ता है, अतः इनसे पूर्ण अवधि या दिन में पूरे समय विद्यालय में रहने की अपेक्षा नहीं की जा सकती। वर्तमान में विकसित कक्षा प्रवेश एवं पूर्णकालीन कक्षा में बैठकर बौद्धिक पाठ्यक्रमों को पूर्ण करना इनके लिए उपयुक्त नहीं ठहरता।

(3) **उच्चस्तरीय शिक्षण संस्थाओं की व्यवस्था तथा व्यक्तिगत ट्यूशन व्यवस्था :** शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर उच्चस्तरीय शिक्षण संस्थाओं का विकास करके इन पिछड़े एवं गरीब वर्गों के बच्चों की शिक्षा के लिए इनमें लगभग आधे स्थान सुरक्षित किए जाने चाहिए। परन्तु केवल स्थान सुरक्षित रखने से कार्य नहीं चलेगा। चूंकि इन वर्गों के बच्चों के घर का वातावरण उत्प्रेरक नहीं होता है, अतः विद्यालयों में ही इनकी व्यक्तिगत शिक्षा एवं घर की कमजोरियों को दूर करने की दृष्टि से निजी ट्यूशन की व्यवस्था भी आवश्यक है। तभी ये उच्चस्तरीय पाठ्यक्रमों से लाभान्वित हो सकेंगे।

(4) **छात्रवृत्ति तथा छात्रावास सुविधाओं का विस्तार :** इन गरीब एवं पिछड़े वर्गों के बच्चों की शिक्षा वृद्धि हेतु समुचित संख्या में छात्रवृत्तियों की व्यवस्था तथा उच्चस्तरीय शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश की सुरक्षा आवश्यक है। इसके साथ ही छात्रावास सुविधाओं का विस्तार भी उपयोगी होगा। क्योंकि न तो इनके घरों का वातावरण उत्प्रेरक होता है और न इनके निवास के आस-पास के स्थानों में शिक्षा की संस्थाएं ही व्यवस्थित रहती हैं। जहां इनके निवास की कुछ दूरी पर ऐसी सुविधाएं हों वहां इन्हें लाने ले जाने के लिए यातायात की सुविधाएं विकसित करनी आवश्यक हैं।

(5) **महिलाओं एवं आदिवासियों में शिक्षा का प्रसार :** भारत में महिलाओं एवं आदिवासियों में शिक्षा का प्रसार जितना होना चाहिए उतना नहीं हो पाया है। देश के इन दो वर्गों में शिक्षा की असमानता विशेष रूप से विद्यमान है। इन दोनों वर्गों की शिक्षा के विकास के लिए इस ग्रंथ में अन्यत्र चर्चा की गई है। परन्तु यहां यह कहना उपयुक्त होगा कि भारत में इन दोनों की शिक्षा के समुचित एवं त्वरित विकास और प्रसार के सबल कार्यक्रम विकसित करने की विशेष आवश्यकता है।

(6) **शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर अविधिक शिक्षा सुविधाओं का विकास :** गरीब एवं पिछड़े वर्गों में शिक्षा प्रसार के लिए केवल पूर्णकालिक विद्यालयों या महाविद्यालयों की स्थापना से कार्य नहीं चल सकता है। इन वर्गों के बच्चों को घर या अन्यत्र काम करना पड़ता है तथा गरीबी के कारण ये

अधिक अवधि तक शिक्षण संस्थाओं में बंधकर पढ़ भी नहीं सकते हैं। अतः इन्हें अधिकाधिक एवं अविधिक शिक्षण साधनों द्वारा शिक्षित करने के प्रयास किए जाने चाहिए।

(7) **गरीब एवं पिछड़े वर्गों के शिक्षित बच्चों के लिए नौकरी या काम की समुचित सुविधाओं का विकास :** इन वर्गों में केवल शिक्षा प्रसार से काम नहीं चलेगा। इन वर्गों के शिक्षित बच्चों और महिलाओं को नौकरी तथा काम मिलने की समुचित व्यवस्था भी आवश्यक है। इससे इनकी आर्थिक स्थिति सुधरेगी तथा शिक्षा के प्रति विश्वास जागृत होगा।

वैसे तो देश के सभी वर्गों की समान शिक्षा व्यवस्था एक ऐसा आदर्श है जो शायद कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है। परंतु निश्चित विश्वास तथा सफल प्रयास आवश्यक है। किसी भी उत्तम शिक्षा पद्धति में शिक्षा में असमानता विकसित करने वाले तत्त्वों को जानने के लिए सतत प्रयास किए जाने चाहिए तथा इस असमानता को विकसित करने वाले तत्त्वों को दूर करने के प्रयास किए जाने चाहिए।

14

राष्ट्रीय एकीकरण हेतु शिक्षा

भारतीय समाज श्रेणीवद्ध विभिन्न दृष्टिकोण वाला रहा है। यहां विचार, कर्म, जाति, धर्म का वैभिन्य रहा है। यहां विभिन्न जातियों के मध्य सामाजिक अंतर वहुत अधिक है। यह ग्रंतर धनी और निर्धन तथा शिक्षित और अशिक्षित के मध्य वहुत अधिक है तथा इसमें वृद्धि होती जा रही है। भारत वहुधर्मी और बहुजातीय देश है। पिछले कुछ समय से देश में विभिन्न क्षेत्रों के व्यक्ति अपने लिए पूर्ण स्वायत्तता की मांग कर रहे हैं। कभी पूर्व वंगाल वाले कहते हैं कि हम वंगाली सूबा वनाएंगे। वहां नक्सलवादी आंदोलन से स्थिति विस्फोटक रहती है। सामान्य जनजीवन त्रस्त एवं भय से आक्रांत है। मद्रास और केरल में भी स्थिति वहुत आशाजनक नहीं है। पंजावी सूबे की मांग के परिणामस्वरूप ही हरियाणा और पंजाब, दो राज्यों का गठन हुआ। फिर भी उनके वीच झगड़े अभी वने हुए हैं। ये सभी घटनाएं राष्ट्रीय तथा सामाजिक एकीकरण के लिए घातक हैं। शिक्षित व्यक्तियों को भारतीय सभ्यता और संस्कृति अच्छी नहीं लगती है। शिक्षा का प्रवेश समाज की परंपराओं के आधार के रूप में नहीं हो सका है। इन सभी कारणों से हम स्थानीय, क्षेत्रीय, भाषाई और राज्यों के आधार पर समूह तथा आस्था का निर्माण देख रहे हैं। लोग अपने छोटे-छोटे स्वार्थों के लिए वृहद भारत की समस्याओं पर विचार नहीं कर रहे हैं। हमारी प्राचीन परंपराओं का तो लोप ही हो रहा है। नवीन मूल्यों की स्थापना उचित ढंग से नहीं हो पा रही है। अतः जहां-तहां मारकाट, अनैतिकता, लूट, तालावन्दी एवं हड़ताल आदि दृष्टि-गोचर हो रही है। छात्रों की अशांति जव चाहे विश्वविद्यालयों तथा अन्य शिक्षण संस्थाओं को वंद करने के लिए वाध्य करती है।

इन सभी विपरीत तथा विघटनकारी प्रवृत्तियों को सही दिशा देना तथा देश में सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकीकरण स्थापित करना अति आवश्यक है।

इसीलिए भारतीय शिक्षा आयोग (सन् 1964-66) ने कहा है कि 'सामाजिक तथा राष्ट्रीय एकीकरण हेतु शिक्षा की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।'

राष्ट्रीय एकता का अर्थ

राष्ट्रीय एकता में अनावश्यक विभिन्नताओं का अंत होता है। जाति, धर्म, संप्रदाय, प्रांतीयता के छोटे-छोटे हितों को त्याग कर जब हम संपूर्ण राष्ट्र के हितों की पृष्ठभूमि में सोचते-विचारते और कार्य करते हैं, तब किसी देश में राष्ट्रीय एकता की स्थिति का निर्माण तथा विकास होता है। कहने का अर्थ यह है कि जाति, धर्म, संप्रदाय, प्रांतीयता आदि के आधार पर कार्य न करके एक भाषा, एक संस्कृति, सामान्य भौगोलिक एवं राजनैतिक स्थिति, जीवन की सामान्य शैली आदि अपनाकर सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन जीते हैं। तब राष्ट्रीय एकीकरण का विकास होता है। राष्ट्रीय एकता में अनेक विघटनकारी तत्त्व बाधक होते हैं। इसके संबंध में के० जी० सैयदैन ने कहा है कि 'वास्तविक या छिपे हुए संकट या उत्तेजना के फलस्वरूप धर्म, जाति, वर्ग, समुदाय, भाषा आदि विघटनकारी रूप ग्रहण करते हैं। राजनैतिक या आर्थिक लाभ के लिए निहित स्वार्थ वाले लोग इन सबका उपयोग करते रहते हैं। हम प्रादेशिक हितों को राष्ट्रीय हितों से अधिक महत्त्व देते हैं। समुदाय के हितों से कहीं बढ़कर व्यक्तिगत हितों को स्थान देते हैं।' ये सभी राष्ट्रीय एकता के विघटन में सहायक होते हैं। अतः उचित शिक्षा व्यवस्था के माध्यम से इन तत्त्वों के प्रभावों को कम करके सांप्रदायिकता, जातीयता, प्रांतीयता और भाषा संबंधी उन्माद से मुक्त होकर राष्ट्रीय दृष्टिकोण से कार्य करने को प्रोत्साहन देना अति आवश्यक है। जो शिक्षा राष्ट्रीय एकता की इस गति को तीव्र करे तथा एकता के तत्त्वों को संगठित करे, वही शिक्षा राष्ट्रीय एकीकरण हेतु शिक्षा होगी। लोकतंत्र में विचार-वैभिन्य तो होता है, परंतु यह विचार-वैभिन्य राष्ट्रीय हितों तथा कार्यों की पृष्ठभूमि में होता है। इस विभिन्नता में भी एकता का सूत्र रहता है जो इसे बांधे रहता है।

राष्ट्रीय एकता के विकास में बाधक तत्त्व

राष्ट्रीय एकता के विकास में निम्न तत्त्व बाधक होते हैं :

1. प्रांतीयता
2. विभिन्न छोटे समूहों का अस्तित्व
3. विभिन्न राजनैतिक दल
4. जातिवाद

5. भाषा संबंधी विरोध
6. सांप्रदायिकता
7. आर्थिक एवं सामाजिक विषमताएं ।

अत: इन सभी के संबंध में उचित दृष्टिकोण विकसित करने तथा इनके प्रभावों को दूर करने हेतु राष्ट्रीय एकीकरण के लिए शिक्षा का गठन अति आवश्यक है। राष्ट्रीय एकीकरण हेतु भारत में एक 'राष्ट्रीय एकता समिति' का गठन किया गया है। इस समिति की ओर से भावनगर अधिवेशन में 'राष्ट्रीय एकता सम्मेलन' बुलाया गया था। इसमें अनेक अध्ययन समितियों का निर्माण किया गया जिन्होंने राष्ट्रीय एकता के विकास हेतु अनेक सुझाव दिए थे। इन पर संक्षेप में विचार करना उपयोगी होगा। 'राष्ट्रीय एकता समिति' तथा 'राष्ट्रीय एकता सम्मेलन' ने शिक्षा को देश में उचित दृष्टिकोण, विचार संवेग तथा रुचियों के विकास का प्रवल, प्रभावी साधन माना है।

राष्ट्रीय एकता के लिए राष्ट्रीय एकता समिति के सुझाव

राष्ट्रीय एकता समिति के अध्यक्ष डा० सम्पूर्णानन्द थे। उनका विचार था कि राष्ट्रीय एकता शिक्षा के माध्यम से ही विकसित की जा सकती है। राष्ट्रीय एकता समिति ने राष्ट्रीय एकता के विकास हेतु निम्न प्रकार की शिक्षा के स्वरूप को विकसित करने का सुझाव दिया :

1. शिक्षा के द्वारा उचित दृष्टिकोणों, रुचियों, संवेगों आदि का विकास करके जनता को अपनी सांस्कृतिक विरासत को अच्छी तरह समझने की प्रेरणा दी जाए।

2. इतिहास की शिक्षा अति आवश्यक है। इसके शिक्षण के माध्यम से राष्ट्रीय एकता का पाठ पढ़ाया जाए।

3. इतिहास शिक्षण हेतु योग्य शिक्षकों की नियुक्तियां की जाएं। क्योंकि इस विषम का शिक्षण बहुत सोच-विचार कर किया जाना चाहिए।

4. इतिहास के शिक्षण के समय शिक्षक समान सांस्कृतिक तत्त्वों पर बल देकर छात्रों को उन सभी गतिविधियों तथा कार्यों से परिचित कराएं जो देश में एक कला, एक संस्कृति के विकास में सहायक रहे हैं।

राष्ट्रीय एकता सम्मेलन के सुझाव

राष्ट्रीय एकता सम्मेलन ने राष्ट्रीय एकता के लिए दी जाने वाली शिक्षा के उद्देश्यों का उल्लेख किया तथा इनके आधार पर शिक्षा विकास के माध्यम से राष्ट्रीय एकता की स्थापना में विश्वास प्रकट किया। इस सम्मेलन ने शैक्षणिक

कार्यक्रम की रूपरेखा भी सुझाई। इस सम्मेलन के अनुसार राष्ट्रीय एकता विकास हेतु संगठित शिक्षा के निम्न उद्देश्य होने चाहिए :

1. छात्रों को देश के सभी पक्षों का ज्ञान कराया जाए।

2. छात्रों को स्वतंत्रता प्राप्ति से संबंधित बातों को बताया जाए।

3. छात्रों को ऐसी शिक्षा दी जाए जो विभिन्न जातियों, संप्रदायों तथा राज्यों में मेल कराए।

इस सम्मेलन ने राष्ट्रीय एकता विकास हेतु शैक्षणिक कार्यक्रम की निम्न रूपरेखा सुझाई है :

1. शिक्षण संस्थाओं में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकों की इस दृष्टि से अच्छी तरह जांच की जाए कि इनमें राष्ट्रीय एकता स्थापित करने वाले तत्त्वों का उचित ढंग से समावेश किया गया है अथवा नहीं।

2. पाठ्य पुस्तकें ऐसी हों जो राष्ट्रीय एकता का विकास करें।

3. राष्ट्र के लोकप्रिय मेलों तथा उत्सवों में सभी धर्मों के मानने वालों को आने के लिए प्रोत्साहित किया जाए। ये राष्ट्रीय मेले आनंद और उमंग के साथ मनाए तथा देखे जाएं।

4. रेडियो, समाचार-पत्र एवं पत्रिकाओं के माध्यम से राष्ट्रीय एकता संबंधी बातों का प्रचार किया जाए।

5. सांप्रदायिक एकता विकास हेतु विभिन्न आयोजन किए जाएं।

6. सरकारी नौकरियां जाति, धर्म, संप्रदाय आदि के आधार पर न दी जाएं। इस दिशा में प्रांतीयता को भी ध्यान में न रखा जाए।

7. जन-संपर्क आंदोलन की गति तीव्र की जाए तथा जन-संपर्क के माध्यम से सांप्रदायिकता के खतरे को दूर किया जाए।

8. राजकीय पदों पर नियुक्तियों के लिए अखिल भारतीय दृष्टिकोण अपनाया जाए।

9. विघटन तथा विभक्त करने वाली प्रवृत्तियों का विरोध किया जाए।

राष्ट्रीय एकता विकास हेतु शैक्षिक कार्यक्रम

राष्ट्रीय एकता विकास हेतु शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर निम्न कार्यक्रम अपनाया जाना उपयोगी होगा :

प्राथमिक स्तर : 1. छात्रों को राष्ट्रीय झंडे, राष्ट्रीय गीत तथा अन्य राष्ट्रीय चिह्नों का परिचय कराया जाए।

2. छात्रों को मानव भूगोल के माध्यम से देश के प्रत्येक क्षेत्र के सामाजिक जीवन से परिचित कराया जाए।

3. छात्रों को राष्ट्रीय त्यौहार मनाने के लिए प्रेरित किया जाए। इससे उन्हें सामाजिक जीवन का सरलतम ज्ञान प्राप्त होगा।

4. छात्रों को देश के सभी महान पुरुषों से परिचित कराया जाए।

5 छात्रों के इस स्तर के पाठ्यक्रम में लोकगीतों तथा कहानियों का समावेश किया जाए। अच्छा हो यदि अन्य राज्यों तथा क्षेत्रों के लोकगीतों में भी छात्रों की रुचि बढ़ाई जाए। इसमें अन्य भाषाओं के सीखने की भी प्रेरणा मिलेगी।

माध्यमिक स्तर : 1. छात्रों को देश का सामाजिक तथा सांस्कृतिक इतिहास पढ़ाया जाए।

2. पाठ्यक्रम में सामाजिक विज्ञान के विषयों को महत्त्व दिया जाए। जिससे छात्र देश के औद्योगिक एवं आर्थिक विकास से परिचित हों।

3. छात्रों को देश के विभिन्न क्षेत्रों की संस्कृतियों तथा सामाजिक स्थितियों से परिचित कराया जाए।

4. छात्रों को राष्ट्रीय त्यौहार मानने की प्रेरणा देनी चाहिए।

5. छात्रों को राष्ट्रीय गीत, ध्वज, तथा त्यौहारों से परिचित कराया जाए।

विश्वविद्यालय स्तर : 1. राष्ट्रीय एकता पर अध्ययन एवं विचार-गोष्ठियों का आयोजन किया जाए।

2. राष्ट्रीय एकता पर आयोजित गोष्ठियों तथा अध्ययन बैठकों में भाग लेने के लिए देश के विभिन्न क्षेत्रों के विद्वानों, छात्रों तथा शिक्षकों को आमंत्रित किया जाए। विश्वविद्यालय के छात्र और शिक्षक भी इसमें भाग लें।

3. विश्वविद्यालय में विभिन्न उत्सवों को मनाया जाए तथा देश के विभिन्न क्षेत्रों से व्यक्तियों को सुविधानुसार आमंत्रित किया जाए।

4. विश्वविद्यालयीय छात्रों को विभिन्न क्षेत्रों की भाषा, संस्कृति तथा साहित्यों का अध्ययन करने की प्रेरणा दी जाए। इनमें तुलना करने की शक्ति का भी विकास किया जाए।

राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से शिक्षण संस्थाओं के विकास हेतु सुझाव

1. राष्ट्रीय एकता के विकास हेतु शिक्षण संस्थाओं में आवश्यक प्रेरक वातावरण का विकास किया जाए। वातावरण ऐसा हो कि छात्र जाति, धर्म, संप्रदाय, भाषा आदि के संकीर्ण रूप को भुला सकें।

2. शिक्षण संस्थाओं का संचालन जाति, धर्म, संप्रदाय आदि के आधार पर न किया जाए।

3. शिक्षकों, संस्था-संचालकों तथा निरक्षकों, सभी को राष्ट्रीय एकता में विश्वास करने वाला होना चाहिए।

4. छात्र अनुशासन के विकास के प्रयास किए जाने चाहिए। इस हेतु छात्रों को हमेशा कार्यरत रखना, उत्तम शिक्षण व्यवस्थित करना आदि अति आवश्यक है।

5. शिक्षकों को राष्ट्रीय एकता में विश्वास और आस्था होने के साथ-साथ राष्ट्रीय एकता विकास की विविध विधाओं का ज्ञान भी होना चाहिए। उन्हें देश के ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक, आर्थिक वातों का अच्छा ज्ञान होना चाहिए।

6. जवाहरलाल नेहरू ने व्यक्त किया है, 'हम अपनी राष्ट्रीय एकता के उद्देश्य केवल अहिंसात्मक दृष्टिकोण की योजना पर आधारित प्रेम, करुणा और भ्रातृ-भावना का सतत नियोजन करके ही प्राप्त कर सकते हैं।' इस दृष्टि से राष्ट्रीय एकता विकास को अहिंसात्मक दृष्टिकोण से प्रेम, करुणा, भ्रातृ-भावना के विकास का प्रयास शिक्षण संस्थाओं को करना चाहिए।

7. छात्रों के शिक्षण हेतु राष्ट्रीय एकता विकास में सहायक विधियों के उपयोग को प्रोत्साहित करना चाहिए। इस हेतु समस्या विधि, इकाई विधि आदि नवीन गतिशील शिक्षण विधियों का उपयोग करना चाहिए।

8. संस्थाओं में राष्ट्रीय एकता दिवस मनाया जाए तथा देश की एकता को अक्षुण्ण वनाए रखने की सभी शपथ लें।

9. देश की राज्य तथा केंद्र सरकारें प्रसार के साधनों के माध्यम से राष्ट्रीय एकता संवंधी अपनी नीति का परिचय देश के नागरिकों को दें तथा समय-समय पर अखिल भारतीय विचार-गोष्ठियां आयोजित करें।

15

धार्मिक शिक्षा

हम विज्ञान पर आधारित तकनीकी विश्व में रह रहे हैं तथा ऐसे जगत में सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन समुचित रूप में जटिल होता है। यह ज्ञान के विस्फोट, शीघ्र (द्रुत) सामाजिक परिवर्तन तथा विभिन्न क्षेत्रों में की जा रही प्रगति आदि के कारण होता है। आधुनिक समाज में केवल ज्ञान का भंडार ही द्रुत गति से नहीं बढ़ रहा है, वरन् पारिवारिक एवं सामाजिक संरचना भी अत्यंत द्रुत गति से बदल रही है। इस ज्ञान के विस्फोट और समाज के शीघ्र परिवर्तन तथा विकास का यह अभिप्राय नहीं है कि हमें आध्यात्मिक तथा नैतिक मूल्यों की उपेक्षा करनी चाहिए। विज्ञान पर आधारित तकनीकी प्रगति वाले समाज के आध्यात्मिक तथा नैतिक मूल्यों को बनाना चाहिए। आध्यात्मिक घटक आवश्यक रूप से भौतिक पृष्ठभूमि के विरोधी नहीं होते हैं। प्रायः वे इसके पूरक होते हैं और जब दोनों एक हो कर कार्य कर रहे हों तो वे राष्ट्रीय संस्कृति का उन्नत काल प्रस्तुत करते हैं। आध्यात्मिक प्रभावों में धर्म सबसे अधिक शक्तिशाली प्रभाव है। क्योंकि यह संपूर्ण मानव को आकर्षित करता है और यह मानव स्वभाव की भावनात्मक गहराई में प्रविष्ट होता है, यह दैनिक जीवन में व्यावहारिक प्रतिक्रियाओं को व्यवस्थित करता है तथा यह रचनात्मक मस्तिष्क की वैचारिक योग्यता को रंजित करता है।

भारतवर्ष में धर्म शिक्षा

भारतीय इतिहास के हिंदू तथा मुस्लिम काल में धर्म की शिक्षा, शिक्षा का एक मुख्य अंग थी। वैदिक काल के प्रारंभ में तो संपूर्ण शिक्षा ही धार्मिक थी। बालक के भावात्मक तथा आचार संबंधी विकास के लिए शिक्षा का धार्मिक अंग प्राचीन और मध्यकालीन भारत में महत्त्वपूर्ण समझा गया। धार्मिक विषय सामग्री द्वारा उसकी व्यक्तिगत ईमानदारी, भावनात्मक स्थिरता, जीवन

के तनाव तथा झगड़े आदि सहन करने की योग्यता विकसित होती थी। परंतु अंग्रेजों ने धार्मिक निरपेक्षता की नीति को अपनाया। यद्यपि ईसाई मिशन इस धार्मिक निरपेक्षता से अप्रसन्न थे, क्योंकि ईसाई विश्वासों के प्रचार में उनकी रुचि थी। सन् 1828 से 1835 तक के भारत के गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैंटिंग को उद्धत करना अधिक उपयोगी होगा। ब्रिटिश शासन के आधारभूत सिद्धांत, जिसके लिए सरकार गंभीर रूप से प्रतिज्ञाबद्ध है, दृढ़ता से तटस्थिता का है। सरकार द्वारा स्थापित समस्त विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में यह सिद्धांत दृढ़ता से प्रयुक्त नहीं किया जा सका। छात्रों में धार्मिक विश्वास के साथ अविवेकपूर्ण हस्तक्षेप, समस्त मिलावट, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ईसाइगत की शिक्षा, निश्चित रूप से रोकनी आवश्यक है। सन् 1854 के वुड डिस्पेच में भी विद्यालयों में धर्म निरपेक्ष शिक्षा की नीति अपनाने की सिफारिश की और उसी समय इच्छा की कि निरीक्षकों को विद्यालयों में पढ़ाए जाने वाले धार्मिक सिद्धांतों का कोई निरीक्षण नहीं करना चाहिए। इस प्रकार की नीति धार्मिक शिक्षा हेतु मिशनरी प्रयासों के प्रति सरकारी सहानुभूति प्रदर्शित करती है। सन् 1882 के भारतीय शिक्षा आयोग ने भी तटस्थता के इस सिद्धांत का समर्थन किया है, तथा स्वाभाविक धर्म के आधारभूत सिद्धांतों पर आधारित नैतिक पाठ्य पुस्तकें तैयार करने का सुझाव दिया। तत्कालीन भारतीय सरकार इन सिफारिशों से सहमत नहीं हुई तथा इस प्रकार की नैतिक तटस्थ पाठ्यपुस्तकों के निर्माण के संबंध में संदेह व्यक्त किया। सन् 1902 के भारतीय विश्वविद्यालय आयोग ने पूर्ण-रूपेण धर्म निरपेक्ष शिक्षा का प्रश्न अपर्याप्त समझा, परंतु कोई निश्चित हल का सुझाव नहीं दिया। केंद्रीय सलाहकार मंडल (सन् 1944-46) ने विचार व्यक्त किया कि 'धर्म को व्यापक दृष्टि से समस्त शिक्षा को प्रेरित करना चाहिए तथा एक पाठ्यक्रम में जो समस्त आचार संबंधी जानकारी से रहित होगा अन्त में व्यर्थ सिद्ध होगा।' जनवरी सन् 1944 में हुई अपनी बैठक में आचार संबंधी तथा धार्मिक शिक्षा का महत्त्व स्वीकार करते हुए केंद्रीय सलाह-कार समिति ने (लाहौर के बिशप आर० जी० डी० वार्ने को अध्यक्ष बनाते हुए) विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा दी जाने की व्यावहारिकता की जांच करने के लिए एक विशेष समिति की नियुक्ति की। इस समिति के प्रतिवेदनों पर विचार करने के पश्चात् केंद्रीय सलाहकार मंडल ने निश्चित किया कि इस प्रकार की शिक्षा देना घर तथा समुदाय का उत्तरदायित्व होना चाहिए।

भारतवर्ष में धार्मिक शिक्षा की वर्तमान स्थिति

भारतवर्ष की संविधान सभा ने विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा के संबंध में निश्चित सिद्धांत स्वीकार किए हैं, और ये सिद्धांत भारतीय संविधान की धारा क्रमांक 19, 21, 22, (1) और (2), में स्पष्ट हैं। धारा 19 आत्मा की स्वतंत्रता, व्यवसाय, धर्म, व्यवहार तथा प्रचार की स्वतंत्रता देता है। नागरिक शांति, नैतिकता और स्वास्थ तथा इस खण्ड के अन्य प्रावधानों के संबंध में 19(1) कहता है कि समस्त व्यक्ति सदविचारों के संबंध में समान अधिकार रखते हैं और धर्म का स्वतंत्र प्रचार, व्यवहार तथा प्रगति करने की स्वतंत्रता का अधिकार रखते हैं। उसी प्रकार धारा 21 किसी धर्म विशेष के लाभ के लिए करों के माध्यम से चंदा लेना निषिद्ध करता है। धारा 22/1 स्पष्ट रूप से कहती है कि किसी प्रकार के धार्मिक निर्देश किसी भी शैक्षणिक संस्था में पूर्णतया (राज्य-स्तरीय फंड्स) राज्य निधि से नहीं दिए जाएंगे। यद्यपि धनदान या किसी ट्रस्ट द्वारा संस्थापित शिक्षण संस्थाओं में नाबालिक बालकों के पालकों की स्वीकृति प्राप्त कर धार्मिक शिक्षा दी जा सकती है।

भारत के संविधान में इस प्रकार का प्रावधान आवश्यक है, क्योंकि भारत एक बहुधर्मी समाज वाला धर्म निरपेक्ष राज्य है। भारतीय संविधान के प्रावधान धर्म तथा धार्मिक शिक्षा के प्रति राज्य की स्थिति (दृष्टिकोण) को स्पष्ट करते हैं। भारत में प्रत्येक व्यक्ति राजनैतिक, आर्थिक तथा अपने धार्मिक विश्वासों के अनुसार पृथक् सामाजिक जीवन जीने हेतु स्वतंत्र है। यहां धार्मिक विश्वासों के आधार पर किसी समुदाय का पक्ष नहीं लिया जाता है और न विभेद किया जाता है, और धार्मिक सिद्धांतों की शिक्षा शासकीय विद्यालयों में नहीं दी जाती है। यह नीति विभिन्न धर्मों के व्यक्तियों में सहयोग, सुंदर विचार और संबंधों को धार्मिक सहनशीलता विकसित करती हुई समस्त धर्मों के प्रति भक्ति को निश्चित करती है। अमेरिका गणतंत्र द्वारा भी इसी प्रकार का दृष्टिकोण प्रकट किया गया है। अमेरिकन संविधान कहता है कि 'धर्म की स्थापना के संबंध में कांग्रेस कोई नियम (कानून या विधि) नहीं बनाएगी, और न धार्मिक स्वतंत्रता का निषेध करेगी।' इस प्रकार अमेरिकन संविधान अपने विश्वासों के अनुसार ईश्वर की उपासना (की जमानत) के बन्धकत्व को राज्य की दखलन्दाजी के बिना निश्चित करता है। धार्मिक स्वतंत्रता की नीति को ग्रहण करने या अपनाने के कारण भारतीय सरकार ने और अमेरिकन सरकार ने भी विद्यालयों में धार्मिक सिद्धांतों की शिक्षा प्रतिबंधित कर दी है। परंतु इसका

अभिप्राय यह नहीं है कि भारतीय या अमेरिकन सरकारें धार्मिक शिक्षा के विचार के प्रतिकूल हैं।

सन् 1948-49 में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने भारत में धार्मिक शिक्षा की समस्या पर गहराई से विस्तृत रूप से विचार किया था। सन् 1948-49 के विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (जिसका नेतृत्व डा० राधाकृष्णन ने किया था) ने व्यक्त किया है कि 'हमें मानव हृदय को सभ्य बनाना चाहिए—धर्म एक प्रवेश करने का प्रभाव है, जीवन का एक गुण है, मंतव्यों का उन्नयन है। हमारी संस्थाएं, यदि धार्मिक चेतना देना चाहती हैं तो उसमें सादगी होनी चाहिए, और उन्हें जीवन को स्थायी रूप से प्रभावित करने वाले संस्कारों से युक्त वातावरण वाला होना चाहिए।' इसको प्राप्त करने के लिए विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने निम्न सिफारिशें कीं :

(1) समस्त शिक्षण संस्थाएं कुछ मिनट तक मौन साधकर कार्यक्रम प्रारम्भ करें।

(2) स्नातक पाठ्यक्रम के प्रथम वर्ग में, गौतम बुद्ध, कनफुसियस, जोरास्टर, सुकरात, ईसा, शंकर, रामानुज, माधव, मोहम्मद, कबीर, नानक, गांधी आदि की जीवनी पढ़ाई जानी चाहिए।

(3) स्नातक पाठ्यक्रम के द्वितीय विश्वव्यापी धर्म पुस्तकों के कुछ चयन किए हुए चरित्र पढ़ाए जाएं।

(4) तृतीय वर्ष में धर्म के दर्शन की समस्याओं पर विचार किया जाना चाहिए।

सन् 1952-53 के माध्यमिक शिक्षा आयोग ने भी इस समस्या का अध्ययन किया और सिफारिश की कि धर्म निरपेक्ष राज्य की रचना के प्रावधान की दृष्टि से विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा, सिवाय ऐच्छिक रूप में, नियमित विद्यालय समय के बाहर नहीं दी जा सकती। इस प्रकार की शिक्षा विशेष विश्वास वाले बालकों को उनके पालकों की तथा संबंधित प्रबंधकारिणी की स्वीकृति से दी जा सकती है। इस सिफारिश के करने में हम जोर देने की इच्छा करते हैं कि प्रतिष्ठा, समस्त अस्वस्थ मोड़, धार्मिक द्वेष, घृणा और हठधर्मी विद्यालयों में हतोत्साहित की जानी चाहिए।

भारतीय शिक्षा आयोग ने उचित दिशा में बल दिया है कि इस प्रकार के समाज में, कैसा भी हो, प्रत्येक को धार्मिक शिक्षा और धर्मों के संबंध में शिक्षा में भेद स्थापित करना है। भारत विभिन्न धर्मों वाला धर्म निरपेक्ष राज्य होने से किसी विशेष धर्म की शिक्षा देने की नीति को स्वीकार नहीं कर सका है। इसे समस्त धर्मों की सहनशीलता की भावना विकसित करनी चाहिए जिससे

कि व्यक्ति एक दूसरे को अधिक अच्छी तरह समझ सकें, और एकता रखी जा सके। आयोग ने दृढ़ता से व्यक्त किया है कि विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा के प्रतिबंधित होने के कारण तथा घरेलू प्रभाव दुर्बल करने से, यद्यपि प्राचीन तथा मध्यकालीन भारतीय परिवारों में इस प्रकार का प्रभाव पाया गया कि आजकल बालक अपने स्वयं के धर्म के संबंध में स्पष्ट विचार न रखते हुए विकसित हो रहे हैं तथा अन्यों के प्रति होने का कोई अवसर ही नहीं है। इस प्रकार की स्थिति भारतीय प्रजातंत्र के लिए खतरनाक है क्योंकि धार्मिक सहनशीलता इसके विकास हेतु आवश्यक है। इस दृष्टिकोण से भारतीय शिक्षा आयोग ने निम्नलिखित सिफारिशें की हैं :

विभिन्न धर्मों वाले प्रजातांत्रिक राज्य के हित के लिए समस्त धर्मों का सहनशील अध्ययन आवश्यक है जिससे कि नागरिक एक दूसरे को अधिक अच्छी प्रकार से समझ सकें तथा मित्र भाव से साथ-साथ रह सकें। प्रत्येक बड़े धर्म की सुंदर चुनी हुई सूचनाओं (बातों) से युक्त एक पाठ्यक्रम नागरिकता के पाठ्यक्रम में जोड़ना चाहिए या प्रथम उपाधि तक के लिए विद्यालयों तथा महाविद्यालयों की सामान्य शिक्षा के भाग के रूप में प्रारंभ किया जाना चाहिए। इसे संसार के बड़े धर्मों में मौलिक समानताओं पर प्रकाश डालना चाहिए और विस्तृत तुलनात्मक और नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों पर विचार हेतु बल देना चाहिए। देश के प्रत्येक भाग के लिए इस विषय में सामान्य पाठ्यक्रम अधिक लाभदायक होगा। सामान्य पाठ्य पुस्तकें, प्रत्येक धर्म के निपुण एवं विशेषज्ञों द्वारा तैयार होनी चाहिएं।

इस संदर्भ में यह कहना लाभदायक होगा कि मध्यप्रदेश राज्य के शिक्षा विभाग ने प्रारंभिक विद्यालयों के बालकों के लिए नैतिक शिक्षा के संबंधों में एक उपयोगी योजना बनाने का प्रयास किया है। नैतिक शिक्षा में एक नियमानुसार पाठ्यक्रम द्वारा बालकों में वांछति दृष्टिकोण और अभिवृत्ति विकसित करने के लिए और विद्यालयों में विभिन्न विषयों के अध्यापन तथा अन्य गतिविधियों द्वारा शेषपूर्ति हेतु यह योजना बनाई गई थी। विद्यार्थियों के लिए इस नियमित पाठ्यक्रम के अध्ययन हेतु एक पाठ्य पुस्तक विशेष रूप से निर्मित की गई। पाठ्य पुस्तक में बड़े धर्म के उपदेशों पर आधारित पाठ, इतिहास की कहानियां तथा महान आध्यात्मिक (प्रेरणास्पद) नेताओं की आत्मकथाएं रखी गईं, जिसका उद्देश्य आधारभूत कुशलता, मूल्यों और गुणों का विकास था। इस पर व्यक्ति और समाज की शांति तथा स्थिरता मुख्य रूप से आधारित थी। इस हेतु चरित्र, नैतिकता और व्यवहार को सुंदर (उच्च) बनाने वाले गुणों को ही चुना गया। ये गुण निम्न प्रकार से गिनाए जा सकते हैं—

सत्य, अहिंसा, प्रतिरोध, आत्म-नियंत्रण, दया, क्षमाशीलता, निर्भयता. देश-भक्ति और आंतरिक एवं बाह्य स्वच्छता आदि। वालक को समझाने के लिए यह गुण व्यवहार और कुशलता के आकार में और कम किए गए। सत्य का अर्थ होगा : (1) जैसा तुम देखते और सुनते हो वैसा वर्णन करो। (2) भय, अहं या लालच के प्रभाव में असत्य मत कहो। (3) तथ्य को अधिक या कम मत करो। (4) कथनी और करनी में वनावटी मत वनो। (5) अपनी त्रुटियों को स्वीकार करो। (6) अनावश्यक तर्क और समर्थन मत करो। इसी प्रकार से उपर्युक्त समस्त गुण विस्तृत किए गए, शिक्षकों के लिए निर्मित निर्देशिका में विद्यालय में व्यापक वातावरण निर्मित करने तथा शिक्षकों को छोटे वालकों के लिए आदर्श वनने के लिए क्या करना है के संवंध में सुझाव दिए गए हैं। वर्तमान समय में भारत संकट के दौर से गुजर रहा है और 11 वर्ष तक के समस्त वालकों को और 14 वर्ष तक 50 प्रतिशत वालकों को शिक्षा देने का प्रयास कर रहा है। भारतवर्ष में प्रत्येक वस्तु की कमी है, परंतु वालक विद्यालयों में हैं और इसलिए शिक्षाशास्त्रियों के समक्ष समस्या है कि क्या किसी प्रकार की नियमित धार्मिक या नैतिकशि क्षा विद्यालयों में दी जाए या वालकों को विद्यालय में पढ़ाए जाने वाले विषयों के माध्यम से और अप्रत्यक्ष वातावरण से नैतिकता के विकास की अनुमति दी जाए या दोनों नियमित और वड़े धर्मों की शिक्षाओं, महान विभूतियों के उपदेशों, अनियमित रूप से वातावरण और विद्यालयीन विषयों के द्वारा भारतीय शिक्षा आयोग के सुझाव के अनुरूप शिक्षा दी जाए। परंतु इस सव का अभिप्राय होगा कि विद्यालयों को अधिक धन दिया जाए और वर्तमान में देश केवल 11 वर्ष तक या 14 वर्ष तक के वालकों को शिक्षा के प्रावधान के अतिरिक्त अन्य किसी स्तर पर पर्याप्त सुविधा देने की स्थिति में नहीं है। हमें देखना है कि भविष्य में वस्तुएं कैसा रूप (आकृति) ग्रहण करती हैं।

16

शिक्षा, वित्त एवं अनुदान

भारत में शिक्षा वित्त की प्रमुख समस्याओं में शिक्षा व्यय तथा शिक्षा साधनों की वृद्धि, शिक्षा वित्त की उचित व्यवस्था, शिक्षा स्तर उन्नत करने हेतु किए जाने वाले व्यय, शिक्षा के विभिन्न स्तरों के लिए निर्धारित व्यय आदि समस्याओं की ही प्रमुखता है।

कुल शिक्षा व्यय

सन् 1946-47 में भारत में शिक्षा पर कुल व्यय लगभग 5770 लाख रुपया था अर्थात् 8 रुपया प्रति व्यक्ति। परंतु तृतीय पंचवर्षीय योजना के उपरांत देश में शिक्षा पर लगभग 60,000 लाख रुपया व्यय होने लगा अर्थात् लगभग 12 रुपया प्रति व्यक्ति। पृष्ठ 210 पर दी हुई तालिका के विवरण से और भी स्पष्ट हो जाता है:

उपरोक्त तालिका में दिए गए आंकड़ों से यह स्पष्ट होता है कि कुल शिक्षा व्यय में लगभग 424 प्रतिशत की वृद्धि लगभग 15 वर्षों में हुई है अर्थात् 11.7 प्रतिशत प्रति वर्ष की वृद्धि। प्रति व्यक्ति व्यय में लगभग तिगुने से अधिक वृद्धि हुई है। सन् 1950-51 में 3.2 से बढ़कर सन् 1965-66 में 12.1 राष्ट्रीय शिक्षा पर व्यय हो गया। राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप में कुल शिक्षा व्यय सन् 1950-51 में 1.2 प्रतिशत से बढ़कर सन् 1965-66 में 2.9 प्रतिशत हो गया।

यह शिक्षा व्यय तत्कालीन कीमतों के आधार पर है। वर्तमान कीमतों के अनुसार तो यह और भी अधिक बढ़ेगा। भारत में राष्ट्रीय आय का बहुत कम प्रतिशत शिक्षा पर व्यय होता है (1950-51 में 1.2 प्रतिशत, 1965-66 में 2.9 प्रतिशत)। जापान, अमेरिका, रूस आदि विकसित राष्ट्र शिक्षा पर अपनी राष्ट्रीय आय का 6 प्रतिशत से अधिक व्यय करते हैं। परंतु हमें यह नहीं

भारत में कुल शिक्षा व्यय (लाख रुपयों में)

	1950-51	1955-56	1960-61	1965-66 (अनुमानित)
1. सभी साधनों से कुल शिक्षा व्यय	14440	18970	344400	60000
2. कुल राष्ट्रीय आय	953000	998000	1414000	2100000
3. कुल शिक्षा व्यय राष्ट्रीय आय का प्रतिशत	1.2	1.9	2.4	2.9
4. प्रति व्यक्ति व्यय प्रतिशत	3.2	4.8	7.8	12.1
	प्रथम पंचवर्षीय योजना	द्वितीय योजना	तृतीय योजना	तीनों योजनाओं को मिलाकर
	10.6	12.7	11.8	11.7

शिक्षा आयोग 1964-66 की रिपोर्ट के आधार पर, पृष्ठ 465

भूलना चाहिए कि अधिक राष्ट्रीय आय वाले देश कम राष्ट्रीय आय वाले देशों की तुलना में शिक्षा पर व्यय करने हेतु रकम सरलता से बचा सकते हैं। कम राष्ट्रीय आय वाले देशों को अपने अन्य विकास कार्यों पर अपेक्षाकृत अधिक व्यय करना पड़ता है। भारत की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय लगभग 400 रु० है। अतः इसका शिक्षा पर 3 प्रतिशत व्यय करने का प्रयास विकसित राष्ट्रों की राष्ट्रीय आय के प्रतिशत से अधिक ही मानना चाहिए। भारत में शिक्षा व्यय, राष्ट्रीय आय के विकास की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ा है। शिक्षा पर व्यय हेतु साधनों की उपलब्धि दो बातों पर निर्भर करती है : (1) प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय तथा (2) शिक्षा पर व्यय राष्ट्रीय आय का प्रतिशत। हमारे देश में राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय दोनों की वृद्धि दर बहुत कम रहती है। सन् 1965-66 में तो फसलों की खराबी के कारण राष्ट्रीय आय में और अधिक कमी रही है। अतः देश में शिक्षा व्यय की वृद्धि दर राष्ट्रीय आय की वृद्धि दर से अधिक रही।

शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर शिक्षा व्यय

भारत में शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर शिक्षा व्यय

	(कुल व्यय हजारों में)		कुल व्यय का प्र० श०		प्रति वर्ष वृद्धि
	1950-51	1965-66	1950-51	1965-66	का प्र० श०
1. प्रत्यक्ष व्यय					
प्राथमिक विद्यालयों (पूर्व प्राथमिक सहित)	443031	1949000	38.7	32.5	10.4
मा० शिक्षा विशेष (विद्यालयों सहित)	296067	1515920	25.9	25.9	11.5
उच्च शिक्षा	171440	1030300	15.0	17.2	11.2
2. अप्रत्यक्ष व्यय	233282	1505080	20.4	25.1	13.3
कुल व्यय	1143822	6000000	100	100	11.7

भारतीय शिक्षा आयोग 1964-66 से आधारित, पृष्ठ 467

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि स्कूल की शिक्षा पर ही अधिक व्यय हुआ है। परंतु जैसे-जैसे देश में औद्योगीकरण वढ़ता है तथा वैज्ञानिक तकनीकी शिक्षा का विकास होता है उच्च एवं विज्ञान शिक्षा पर अधिक व्यय होता है। हमारे देश में विद्यालय शिक्षा पर व्यय का प्रतिशत स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कम हुआ है। परंतु जैसे-जैसे देश में औद्योगीकरण बढ़ता है तथा वैज्ञानिक एवं तकनीकी शिक्षा का विकास होता है उच्च एवं विज्ञान की शिक्षा पर अधिक व्यय होता है। हमारे देश में कुल शिक्षा व्यय का विद्यालय शिक्षा पर सन् 1861 से 1882 तक 71.1 प्रतिशत, 1946-47 में 68.8 प्रतिशत, 1960-61 में 58.8 प्रतिशत व्यय हुआ है, परंतु उच्च तथा विज्ञान और तकनीकी शिक्षा पर व्यय का प्रतिशत बहुत बढ़ा है। 1881-82 में 9.3 प्रतिशत, 1946-47 में 14.8 प्रतिशत तथा 1960-61 में 15.9 प्रतिशत व्यय हुआ है। अब तो उच्च तथा विज्ञान और तकनीकी शिक्षा पर व्यय और अधिक तेजी से बढ़ रहा है।

शिक्षा के साधन

भारत में शिक्षा व्यय हेतु विभिन्न साधनों का उपयोग किया जाता है, जैसे

केंद्र सरकार, राज्य सरकार तथा स्थानीय स्वशासन के आर्थिक संसाधन इसके साथ ही फीस, एवं अन्य स्रोतों से भी शिक्षा व्यय होता है। इन विभिन्न प्रकार के मिश्रित साधनों के उपयोग का सबसे बड़ा लाभ यह है कि जब कभी किसी एक साधन से आय नहीं हो पाती है तब शिक्षा व्यय में एकदम कमी नहीं होती है तथा काम चलता रहता है। साधनों के अनुसार भारत में शिक्षा व्यय निम्न तालिका में दिया गया है :

भारत में शिक्षा व्यय साधनों के अनुसार (हजार रुपयों में)

	1950-51	1955-56	1960-61	1965-66 (अनुमानित)
1. सरकार—				
कुल व्यय	652678	1172049	2340914	4271856
कुल शिक्षा व्यय	57.1	61.8	68.0	71.2
का प्र०श० तथा वृद्धि				
दर	(100)	(179)	(359)	(655)
2. स्थानीय स्वशासित का	124987	163548	224914	378031
कुल व्यय	10.9	8.6	6.5	6.3
	(100)	(131)	(180)	(302)
3. फीस : कुल व्यय	233272	379033	590258	918077
कुल शिक्षा व्यय	20.4	20	17.1	15.3
प्र०श० तथा वृद्धि	(100)	(162)	(253)	(394)
4. अन्य साधन—कुल व्यय	132885	181980	287715	432036
कुल शिक्षक व्यय	11.6	9.6	8.4	7.2
का प्र० श० एवं वृद्धि दर	(100)	(137)	(217)	(325)

उपरोक्त आंकड़ों से यह स्पष्ट होता है कि सबसे अधिक वृद्धि सरकारी साधनों में हुई है। साथ ही अन्य साधनों का क्रमशः ह्रास हुआ है। फीस दूसरा महत्त्वपूर्ण साधन है। अन्य साधन इसके बाद आते हैं तथा स्थानीय स्वशासन का स्थान अंतिम है। भविष्य में जब माध्यमिक स्तर पर फीस नहीं ली जाएगी तथा निःशुल्क शिक्षा दी जाएगी तब इस साधन से आय और भी कम हो जाएगी। अन्य साधनों से आय बढ़ने की आशा भी कम है। स्थानीय स्वशासन के साधन सीमित रहते हैं अतः इनसे और अधिक व्यय करने की आशा करना व्यर्थ है। अतः यह स्पष्ट है कि भविष्य में केंद्र एवं राज्य सरकारों

को और भी अधिक व्यय करना होगा। यह व्यय 90 प्रतिशत होगा जैसा कि भारतीय शिक्षा आयोग का अनुमान है। परंतु यह स्थिति ठीक नहीं है। स्थानीय जनता की शिक्षा में रुचि बढ़ानी आवश्यक है। इससे शिक्षा का स्तर उच्च होगा। साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि केंद्र एवं राज्य सरकारों के द्वारा व्यय किया जाने वाला प्रतिशत भी निश्चित किया जाए।

प्रति बालक व्यय

प्रति बालक शिक्षा व्यय का संबंध शिक्षा के वेतन, शिक्षक-बालक अनुपात तथा अन्य व्यय पर निर्भर करता है। भारत में प्रति बालक व्यय को निम्न तालिका में दर्शाया गया है :

औसत प्रति बालक व्यय

	1950-51	1965-66
1. पूर्व प्राथमिक विद्यालय	55	55
2. निम्न प्राथमिक विद्यालय	20	30
3. उच्च प्राथमिक विद्यालय	37	45
4. माध्यमिक विद्यालय	73	107
5. व्यावसायिक शिक्षा विद्यालय	197	417
6. कला एवं विज्ञान महाविद्यालय	231	328
7. प्रोफेशनल महाविद्यालय	779	1167

स्रोत : भारतीय शिक्षा आयोग की रिपोर्ट 1964-66, पृष्ठ 478 पर आधारित

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट होता है कि 1950-51 की तुलना में 1965-66 में पूर्व प्राथमिक विद्यालयों में प्रति बालक व्यय बराबर रहा परंतु अन्य स्तरों की शिक्षा में प्रति बालक व्यय बढ़ा है। सबसे अधिक व्यय व्यावसायिक शिक्षा के विद्यालयों में बढ़ा। परंतु यदि कीमतों में वृद्धि पर विचार किया जाए तो यह वृद्धि बहुत अधिक नहीं होगी। पूर्व प्राथमिक विद्यालय में तो प्रति बालक व्यय और कम हो जाएगा। यही हाल प्राथमिक एवं माध्यमिक स्तर पर होगा। कला एवं विज्ञान महाविद्यालयों में भी लगभग 50 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई है जो बढ़ी हुई कीमतों की दृष्टि से बहुत ही कम है। प्रति बालक व्यय प्रोफेशनल महाविद्यालय एवं व्यावसायिक विद्यालयों में ही अधिक हुआ है। भविष्य में प्रति बालक व्यय काफी बढ़ने वाला है, क्योंकि शिक्षकों के वेतन बढ़ेंगे, बालकों को पुस्तकों तथा स्लेटों आदि को निःशुल्क में देना पड़ेगा। मध्याह्न भोजन, यातायात, छात्रावास, छात्रवृत्ति आदि की सुविधाएं भी बढ़ानी होंगी।

यदि शिक्षक-बालक अनुपात कम किया गया तो प्रति बालक व्यय और अधिक होगा। उच्च शिक्षास्तर पर उत्तम शिक्षा के लिए प्रति बालक व्यय बहुत अधिक बढ़ाना होगा।

शिक्षा वित्त संबंधी प्रवृत्तियां

उपरोक्त विवेचन से शिक्षा वित्त संबंधी निम्नलिखित प्रवृत्तियां ज्ञात होती हैं :

(1) भारत में कुल शिक्षा व्यय बढ़ा है तथा शिक्षा व्यय वृद्धि की दर राष्ट्रीय आय वृद्धि की दर से अधिक है।

(2) विद्यालय शिक्षा पर देश में अधिक व्यय किया जाता है। यद्यपि शिक्षा पर व्यय का प्रतिशत घट रहा है तथा उच्च शिक्षा पर व्यय का प्रतिशत बढ़ रहा है।

(3) भारत अन्य देशों की तुलना में राष्ट्रीय आय का बहुत कम प्रतिशत शिक्षा पर व्यय कर रहा है।

(4) सरकार, केंद्र एवं राज्य, शिक्षा पर सबसे अधिक व्यय करती है। शिक्षा के साधन के रूप में फीस का स्थान दूसरा है, अन्य स्रोतों का तीसरा तथा स्थानीय स्वशासन का चौथा है। सरकार को छोड़कर अन्य साधनों के व्यय के प्रतिशत में निरंतर कमी होती जा रही है। भारत में इसमें और भी कमी होने की आशा है।

(5) प्रोफेशनल महाविद्यालय एवं व्यावसायिक विद्यालयों में प्रति बालक व्यय अधिक बढ़ा है। पूर्व प्राथमिक विद्यालय में बिल्कुल नहीं बढ़ा, अन्य स्तरों पर लगभग 50 प्रतिशत की वृद्धि हुई। परंतु यदि बढ़ी हुई कीमतों का हिसाब लगाया जाए तो यह वृद्धि नगण्य हो जाती है। भविष्य में प्रति बालक व्यय बहुत बढ़ेगा।

(6) शिक्षा में अपव्यय तथा साधनों का समुचित उपयोग न करने के कारण शिक्षा व्यय और भी अधिक बढ़ता है। अतः आवश्यक यह है कि शिक्षा पर व्यय किए जा रहे प्रत्येक रुपये का समुचित और अनुकूलतम उपयोग किया जाए।

शिक्षा वित्त संबंधी समस्याएं

शिक्षा व्यय बढ़ने, साधनों के समुचित उपयोग तथा सहयोग कम होने, महंगाई बढ़ने, अपव्यय कम न होने आदि के कारण शिक्षा वित्त संबंधी अनेक समस्याएं विकसित हुई हैं। इनमें निम्न प्रमुख हैं :

(1) शिक्षा व्यय अधिक बढ़ने के कारण शिक्षा संबंधी मांग की पूर्ति नहीं हो पाती है।

(2) सरकार को छोड़कर शिक्षा के विभिन्न साधनों का सहयोग कम होने से जनता का सहयोग शिक्षा हेतु वहुत कम मिल पाता है। शिक्षा के लिए सरकारी साधनों पर निर्भर रहना उचित नहीं है।

(3) शिक्षा समाज विकास में सहायक नहीं हो पा रही है। अतः शिक्षा पर किए गए व्यय का समुचित लाभ देश को नहीं मिल पाता है।

(4) राष्ट्रीय आय का वहुत कम प्रतिशत शिक्षा पर व्यय हो रहा है। अतः शिक्षा के लिए समुचित वित्त व्यवस्था नहीं हो रही है।

(5) कीमतों की सतत वृद्धि के कारण शिक्षा व्यय वहुत वढ़ रहा है।

(6) शिक्षा व्यय के अपव्यय को रोके या कम किए विना शिक्षा वित्त की कमी हमेशा वनी रहेगी।

शिक्षा वित्त संवंधी समस्याओं के हल हेतु सुझाव

शिक्षा आयोग ने भारतीय शिक्षा वित्त संवंधी समस्याओं के हल हेतु अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए हैं। इनका उल्लेख करना उपयोगी होगा :

(1) विद्यालय की इमारतों के निर्माण में अधिकतम मितव्ययता अपनानी चाहिए तथा इन इमारतों को अधिक से अधिक समय उपयोग में लाने के उपाय अपनाने चाहिए।

(2) उत्तम नियोजन, बड़े पैमाने पर उत्पादन, कम खर्चे वाले तथा सस्ते उपकरणों का उपयोग तथा उनका उपयोग अच्छे ढंग से सावधानीपूर्वक करने से उपकरणों की कीमत कम हो सकती है।

(3) जहां उपकरण एवं सुविधाएं महंगी हैं वहां उनका अधिकांश उपयोग किया जाना चाहिए तथा अनेक शिक्षण संस्थाओं को सहयोगी ढंग से इनका उपयोग करना चाहिए।

(4) चलते-फिरते ग्रंथालयों की व्यवस्था, जिनका अनेक संस्थाएं सहयोगी रूप से साधनों का उपयोग करें, की जानी चाहिए।

(5) विकसित देशों में प्रति शिक्षक बालकों का अनुपात कम है। परंतु अभी हमारे देश में ऐसी स्थिति को लाना उचित न होगा। कठिन कार्य तथा उचित तकनीकों के उपयोग से हमें वढ़े हुए शिक्षक-बालक अनुपात में भी उत्तम शिक्षा देने के प्रयास करने चाहिए।

(6) प्रत्येक शिक्षण संस्थाओं में अपव्यय को कम करने के लक्ष्य निर्धारित करने चाहिए तभी शिक्षा अपव्यय को नियोजनावद्ध रूप में कम किया जा सकेगा।

(7) प्रतिदिन अधिक समय तथा वर्ष में अधिक दिन तक विद्यालय लगने चाहिए। छुट्टियों में भी कोई नियोजित कार्य चलना चाहिए।

(8) पूर्णकालिक शिक्षा के अतिरिक्त ग्रंशकालीन एवं सुविधानुसार शिक्षा लेने की सुविधाओं का समुचित विकास किया जाना चाहिए।

(9) उत्तम एवं योग्य वालकों की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

(10) कम समय में स्तर अधिक उन्नत करने के लिए कुछ चुनी हुई शिक्षण संस्थाओं को सघन प्रयास करके उत्तम स्तर का वनाया जाए। शिक्षा के सभी स्तरों पर इस प्रकार के कार्य किए जाएं। इस कार्यक्रम को प्राथमिकता दी जाए।

(11) पूर्णकालिक शिक्षण संस्थाओं में देश की मानवीय शक्ति एवं स्तर उन्नत करने की दृष्टि से ही प्रवेश के स्थान सीमित किए जाएं तथा इनमें प्रवेश योग्यता के आधार पर दिया जाए।

(12) शिक्षा के उन क्षेत्रों को जो राष्ट्र के विकास ॅ सहायक होते हैं जैसे शिक्षक शिक्षा, व्यावसायिक एवं तकनीकी शिक्षा, कृषि आदि को प्रोत्साहित किया जाए।

(13) प्रशासन की स्थिरता तथा कठोरता से अपव्यय अधिक होता है, अतः शिक्षा प्रशासन लोचदार तथा विकेंद्रीकृत होना चाहिए।

(14) शिक्षा में ऐसे कार्यक्रमों पर अधिक वल दिया जाना चाहिए जो मानवीय कौशल तथा कठिन कार्य को वढ़ावा दें जैसे पाठ्य पुस्तकों का निर्माण, शिक्षण सहायक साधन, शोध आदि। अधिक व्यय वाले भौतिक सुविधा कार्यक्रमों को कम महत्त्व दिया जाए।

(15) शिक्षा के सभी स्तरों पर अधिकतम आकार की शिक्षण संस्थाओं का विकास किया जाए जिससे व्यय कम होगा तथा उपयोगिता वढ़ेगी।

अन्य सुझाव

(1) केंद्र तथा राज्य दोनों को शिक्षा पर अधिक व्यय करना चाहिए। अतः केंद्र राज्य की शिक्षा व्यय की क्षमताओं का समय-समय पर मूल्यांकन करे तथा क्षमताओं के आधार पर इन्हें सहायता दे। राज्य को केंद्र द्वारा दी गई वित्तीय सहायता के उचित उपयोग की जांच अवश्य करनी चाहिए। राज्यों को अनुत्पादक तथा भौतिक सुविधाओं की वृद्धि हेतु सहायता कम दी जाए।

(2) भारत में धार्मिक संस्थाओं के पास बहुत धन रहता है। उद्योग भी शिक्षा विकास हेतु अधिक सहायता दे सकता है। अतः इन्हें शिक्षा हेतु अधिकतम सहायता एवं सहयोग देने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

(3) शिक्षा के समान अवसरों की उपलब्धि के लिए अधिक वित्त का प्रावधान किया जाना चाहिए।

(4) प्रत्येक राज्य में केवल एक ही माध्यमिक शिक्षा बोर्ड रहे। इसके पास स्वयं का प्रेस होना चाहिए जिससे छपाई आदि का व्यय कम हो। ये शिक्षा बोर्ड आत्मनिर्भर होने चाहिएं। इसी प्रकार विश्वविद्यालयों के पास भी प्रेस होने चाहिए।

(5) राज्य एवं केंद्र के स्तरों पर जो भी शिक्षा सलाहकार या अन्य संस्थाओं और समितियों का विकास किया जाए उनके कार्यों और गतिविधियों में समन्वय होना चाहिए।

(6) जनसंख्या वृद्धि तथा साक्षरों का निरक्षर होने को रोकना अति आवश्यक है। शिक्षा वित्त की समस्या इससे काफी हल होगी।

(7) उन्नत तथा विकसित देशों में शिक्षा वित्त व्यवस्था हेतु शिक्षा कर, ऋण, बांड के रूप में उधार, लाटरी आदि साधनों का उपयोग किया जाता है। भारत में भी इनके उपयोग के प्रयास किए जाने चाहिए।

परंतु भारत की वित्तीय समस्याएं विदेशों के अनुकरण से ही समाप्त नहीं हो सकेंगी। भारत की परिस्थितियां भिन्न हैं। अतः इन्हें विशेष रूप से प्रयास करके विशेष ढंग से हल किया जाना चाहिए।

(8) शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर शिक्षा व्यय के संबंध में शोध कार्य करके वहां भी अपव्यय कम किया जा सकता है।

अनुदान

अर्थ अनुदान शिक्षण संस्थाओं के लिए बहुत महत्त्व रखता है। अनुदान की परिभाषा निम्नानुसार की गई है :

अनुदान ऐसी सहायता है जो शिक्षा-संचालक द्वारा अशासकीय शिक्षण संस्थाओं को प्रदान की जाती है।

(एम० आर० परांजपे)

'अनुदान ऐसा धन है जो राज्यों के खजाने से निजी प्रयासों को शैक्षणिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक, सामाजिक तथा अन्य संबंधित कल्याणकारी गतिविधियों के विकास तथा उन्नति करने हेतु अलग रखा जाता है।'

(सौराष्ट्र अनुदान कोड)

'शिक्षा के विकास, प्रसार तथा उन्नत करने की दृष्टि से राज्य के खजानों से धन की राशि प्रतिवर्ष अलग रख ली जाती है जो अनुदान के रूप में अशास-

कीय प्रबंध में चलने वाले विद्यालयों तथा अन्य शैक्षणिक संस्थाओं को वितरित की जाती है।'

(मध्यप्रदेश अनुदान नियम 1960)

उक्त दर्शाई गई परिभाषाओं के संबंध में निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट होते हैं :

(1) अनुदान अशासकीय संस्थाओं को दी जाने वाली आर्थिक सहायता है।

(2) अनुदान शैक्षणिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक, सामाजिक तथा अन्य संबंधित कल्याणकारी गतिविधियों के विकास तथा उन्नति के लिए दिया जाता है।

(3) अनुदान शासन द्वारा निर्धारित रकम है जो शिक्षा विभाग द्वारा नियमों के अनुसार दी जाती है।

(4) अनुदान अधिकार के रूप में मांगा नहीं जाता है। यह निरपेक्ष ठोस नियमानुसार शिक्षा देने के फलस्वरूप दी गई शर्तों के अनुसार प्राप्त किया जाता है। उपरोक्त दर्शाई गई परिभाषाओं से यह तो स्पष्ट होता है कि अनुदान क्यों दिया जाता है तथा यह भी स्पष्ट होता है कि अनुदान शासन के वित्तीय साधनों तथा अनुदान मांगने वाली शिक्षण संस्थाओं की आवश्यकताओं पर विचार करके दिया जाता है।

अनुदान के प्रकार

अनुदान दो प्रकार के होते हैं :

(1) आवर्तक तथा (2) अनावर्तक।

(1) आवर्तक अनुदान

आवर्तक अनुदान बार-बार आने वाले खर्चों के संबंध में सहायता प्रदान करने हेतु दिया जाता है। जैसे वेतन, महंगाई, फर्नीचर, बिजली, पोशाक, डाक्टरी जांच, प्रयोग तथा उद्योग कक्ष, शिक्षण सहायक सामग्री, भवन की मरम्मत तथा सफाई, प्रशिक्षण हेतु भेजे जाने वाले शिक्षकों के वेतन, महंगाई आदि। आवर्तक अनुदान को मेन्टेनेन्स ग्रांट भी कहते हैं क्योंकि यह शिक्षण संस्थाओं को चलाने तथा बनाए रखने के लिए दिया जाता है। इसकी सहायता से शिक्षण संस्थाएं अपना प्रतिदिन तथा वर्ष भर का खर्च चलाती हैं। यह सामान्य तथा विशिष्ट दोनों प्रकार की शिक्षण संस्थाओं को दिया जाता है। विशिष्ट शिक्षण संस्थाओं के अंतर्गत बाल मंदिर, कला विद्यालय, संस्कृत विद्यालय, संगीत विद्यालय आदि आते हैं।

आवर्तक अनुदान मासिक, त्रैमासिक, छमाही या वार्षिक होता है। मध्य-

प्रदेश में यह छमाही है। मध्यप्रदेश में मान्य खर्च के 75 प्रतिशत या पूर्ण कमी की, जो भी रकम कम हो, पूर्ति के रूप में दिया जाता है। मान्य खर्च के अंतर्गत मिडिल कक्षाओं की फीस का 50 प्रतिशत, अंग्रेजी विद्यालयों की फीस का 60 प्रतिशत, तथा शिक्षकों का वेतन, महंगाई आदि आते हैं। मान लीजिए विद्यालय की आय, फीस तथा अन्य साधनों से 40 प्रतिशत है तो आवर्तक अनुदान 60 प्रतिशत ही मिलेगा। यदि यह आय 20 प्रतिशत है तो आवर्तक अनुदान की मात्रा 75 प्रतिशत होगी।

भारत के विभिन्न राज्यों में मान्य व्यय के प्रतिशत के रूप में आवर्तक अनुदान दिया जाता है। जैसे मैसूर में मान्य व्यय का दो-तिहाई अनुदान के रूप में दिया जाता है। राजस्थान में मान्य व्यय के 50 प्रतिशत से 75 प्रतिशत आवर्तक अनुदान के रूप में दिया जाता है। पंजाब में इसके अंतर्गत उपकरण तथा महंगाई अनुदान को भी शामिल किया जाता है। मणीपुर में संपूर्ण घाटे की रकम की पूर्ति आवर्तक अनुदान द्वारा की जाती है परंतु यह पूर्ण खर्च के 90 प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकता है। इस प्रकार भारत में विभिन्न राज्यों में मान्य खर्च का 50 से 90 प्रतिशत तक आवर्तक अनुदान के रूप में शिक्षण संस्थाओं को दिया जाता है। साथ ही साथ बालक विद्यालयों की अपेक्षा वालिका विद्यालयों को यह प्रतिशत सभी राज्यों में अधिक दिया जाता है। यह वालिका शिक्षा को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से किया जाता है। शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्रों के विद्यालयों को दिया जाने वाला प्रतिशत भी अधिक रहता है। शिक्षा को ग्रामीण क्षेत्रों में प्रोत्साहित करने हेतु यह उचित है।

(2) अनावर्तक अनुदान

अनावर्तक अनुदान ऐसे व्यय की कमी पूर्ति के लिए दिया जाता है जो बार-बार नहीं किए जाते हैं जैसे भवन, उपकरण, आदि। यह अनुदान शिक्षण संस्थान की भौतिक स्थितियों को उन्नत वनाने में सहायक होता है तथा इसमें विद्यालयों की कुशलता तथा स्तर विकास में सहायता मिलती है।

अनावर्तक अनुदान निम्न रूप में दिया जाता है :

(1) भवन अनुदान, (2) उपकरण अनुदान तथा (3) विशेष अनुदान।

(1) भवन अनुदान : मध्यप्रदेश में विद्यालय इमारत का नक्शा शिक्षा विभाग द्वारा मंजूर करने पर मान्य व्यय का एक-तिहाई भाग ही भवन अनुदान के रूप में विद्यालयों द्वारा संपूर्ण व्यय का दो-तिहाई भाग व्यय करने के उपरांत दिया जाता है। विशेष परिस्थितियों में शासन या विभाग इस अनुदान को विद्यालयों द्वारा दो-तिहाई भाग व्यय करने के पूर्व भी मंजर करता

है। उड़ीसा में यह मान्य अनुमानित व्यय का 50 प्रतिशत तथा वालिकाओं के विद्यालयों के लिए 66.6 प्रतिशत, राजस्थान में 50 प्रतिशत, महाराष्ट्र में 30 प्रतिशत है। मद्रास में अधिक से अधिक 35,000 रुपये भवन अनुदान के रूप में दिए जाते हैं।

इस प्रकार भारत में विभिन्न राज्यों में भवन अनुदान 30 से 60 प्रतिशत तक दिया जाता है। वालिकाओं के विद्यालयों तथा ग्रामीण क्षेत्रों के विद्यालयों को अपेक्षाकृत अधिक भवन अनुदान मिलता है। मद्रास, मैसूर, विहार आदि राज्यों में भवन निर्माण के लिए कुछ मामलों में ऋण भी दिया जाता है।

भवन अनुदान कुछ विशेष शर्तों पर ही मंजूर किया जाता है, जो निम्न हैं :

(1) विद्यालय भवन औद्योगिक कार्यों के लिए उपयोग में न लाया जाना चाहिए।

(2) भवन निर्माण निश्चित अवधि में पूर्ण होना चाहिए।

(3) अनुदान में जो रकम मिलनी है, उसके अलावा जो व्यय और होना है उसे पहले व्यय किया जाए।

(4) विद्यालय इमारत या भवन का नक्शा विभाग द्वारा पहले से मान्य कराया जाना चाहिए।

उपकरण अनुदान : मध्यप्रदेश में यह मान्य व्यय का 50 प्रतिशत दिया जाता है। आंध्र, राजस्थान, मद्रास आदि राज्यों में भी यह मान्य व्यय का 50 प्रतिशत दिया जाता है। महाराष्ट्र में यह मान्य व्यय का 25 प्रतिशत ही दिया जाता है। उत्तरप्रदेश में विद्यालय द्वारा व्यय की गई मान्य राशि के बरावर धन उपकरण अनुदान के रूप में प्रदान किया जाता है।

उपकरण अनुदान फर्नीचर, विज्ञान उपकरण, पुस्तकें, चार्ट, नक्शे, दृश्य श्रव्य सामग्री खरीदने हेतु ही दिया जाता है। इसकी शर्तें भी भवन अनुदान के समान ही होती हैं।

विशेष अनुदान

विशेष अनुदान भारत में कुछ राज्यों में ही दिया जाता है। यह विशिष्ट मदों में जैसे टूर्नामेंट, प्रदर्शनी, मध्याह्न भोजन आदि के लिए दिया जाता है। विहार में परीक्षा, उपस्थिति, दर्ज संख्या या कुशलता के आधार पर दिए गए अनुदान को विशेष अनुदान माना जाता है। मध्यप्रदेश में यह वालक मंदिर, संगीत विद्यालय, कन्या विद्यालय आदि को दिया जाता है। मध्यप्रदेश में 14 वर्ष तक की आयु के बालक-वालिकाओं से ली जाने वाली फीस वापस की जाती है। वह विशेष अनुदान का ही रूप है। कुछ राज्यों में जैसे राजस्थान में

पुस्तकें, उपकरण, फर्नीचर आदि खरीदने के लिए विशेष अनुदान दिया जाता है। बालिका विद्यालयों में, मूक, बधिर या पिछड़े बालकों के लिए पंजाब में विशेष अनुदान दिया जाता है।

विशेष अनुदान कभी-कभी ही दिए जाते हैं। वर्तमान में इसका प्रचलन कम ही है।

अनुदान सिद्धांत

अनुदान के निम्न सिद्धांत हैं :

(1) शिक्षा के अवसरों की समानता उपलब्ध करना।

(2) स्थानीय प्रयासों को प्रोत्साहन देना।

(3) शिक्षा स्तर तथा कुशलता विकसित करना।

(4) उपेक्षित तथा पिछड़े क्षेत्रों को प्रोत्साहन देना।

(5) विद्यालय भार समान करना।

उत्तम अनुदान प्रणाली में क्या गुण हों ?

किसी भी उत्तम अनुदान विधि में निम्नलिखित तत्त्व या गुण होने आवश्यक हैं :

(1) अनुदान प्रणाली सरल होनी चाहिए।

(2) अनुदान प्रणाली में लचीलापन होना चाहिए जिससे विद्यालय आवश्यकताओं के अनुसार अनुदान रकम कम या अधिक की जा सके।

(3) अनुदान मंजूर करने वाली सत्ता या अधिकारी पर सापेक्षता का प्रभाव कम से कम हो।

(4) अनुदान का अनुचित उपयोग रोका जाए।

(5) अनुदान की रकम पर्याप्त हो।

(6) स्थानीय उत्साह को प्रोत्साहित करने वाली हो।

(7) विद्यालयों को व्यय करने की आवश्यक स्वतंत्रता देने वाली हो।

वर्तमान अनुदान प्रणाली के दोष

वर्तमान अनुदान प्रणाली में निम्न दोष हैं :

(1) मध्यप्रदेश में अनुदान की रकम प्रति तीन सालों में निर्धारित होती है। अतः विकसित होने वाली शालाओं का विकास इसलिए स्थिर रखती हैं कि अनुदान की रकम बढ़ने की आशा नहीं रहती है।

(2) घाटे की पूर्ति की व्यवस्था होने से स्थानीय सहयोग को प्रोत्साहन

नहीं मिल पाता है। जनता यह सोचती है कि जब सरकार कमी की पूर्ति कर देती है तो आय वृद्धि के साधनों की खोज के प्रयास क्यों किए जाएं ?

(3) अनुदान कार्य-कुशलता के आधार पर दी जाने वाली राशि है जिससे अविकसित पिछड़े विद्यालयों को प्रोत्साहन नहीं मिल पाता है। इस प्रकार के विद्यालयों को विकसित विद्यालयों की अपेक्षा अधिक सहायता की आवश्यकता होती है।

(4) भविष्य के विकास के लिए अनुदान की रकम में कोई प्रावधान नहीं होने के कारण विकास रुक जाता है।

(5) वर्तमान में शोध तथा प्रयोग आदि पर अधिक बल दिया जाता है परंतु इसके लिए व्यय का प्रावधान अनुदान में न होने से इन्हें प्रोत्साहन नहीं मिल पाता है।

(6) अनुदान की अधिकांश रकम शिक्षकों के वेतन में ही व्यय हो जाती है तथा अन्य मदों के लिए रकम की कमी बनी रहती है। इससे शिक्षण के उपकरण तथा साधन उपेक्षित ही रहते हैं।

(7) अनुदान छः माह में मिलने से आर्थिक कठिनाइयां आती हैं।

(8) अनुदान प्राप्त करने तथा रकम निश्चित करने की विधि भी क्लिष्ट ही है।

(9) उपकरण, भवन आदि के लिए क्रमशः 66 या 50 प्रतिशत मान्य व्यय पहले ही लगाना पड़ता है। परंतु विद्यालयों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं रहती है, अतः वे इन अनुदानों का समुचित लाभ नहीं उठा पाते।

(10) आवर्तक अनुदान में कंटेंजेंसी की रकम निश्चित रहती है। परंतु इसके अंतर्गत विद्यालय का किराया आदि भी रहता है। भारत में अनेक विद्यालय किराए के भवनों में लगते हैं, अतः यह रकम किराए के लिए ही पूरी नहीं होती। इससे अन्य विकास कार्य रुक जाते हैं।

अनुदान प्रणाली के सुधार हेतु सुझाव

(1) जैसा कि भारतीय शिक्षा आयोग ने सुझाया है कि अनुदान शैक्षणिक तथा औद्योगिक कार्यों के लिए अलग-अलग दिया जाना चाहिए।

(2) अविकसित तथा पिछड़े विद्यालयों को अनुदान की आवश्यकता अन्य विद्यालयों की अपेक्षा अधिक रहती है। अतः इन्हें अनुदान अधिक तथा सुविधा-जनक शर्तों के अनुसार दिया जाना चाहिए।

(3) जैसा कि कोठारी कमीशन ने सुझाया है कि शिक्षकों, पर्यवेक्षकों तथा प्रशासकों के निमित्त शत-प्रतिशत अनुदान दिया जाए तथा अन्य खर्चों के

लिए प्रति बालक अलग अनुदान दिया जाए। यह रकम प्रत्येक श्रेणी के विद्यालय के लिए अलग-अलग निश्चित की जाए तथा प्रत्येक 3 से 5 वर्ष में इस पर पुनः विचार किया जाए।

(4) अनुदान की रकम वर्ष में अंत तक व्यय न होने पर उपयोग न करने योग्य न मानी जाए। इस रकम को संस्थाओं के कोष में जमा किया जाए तथा भविष्य में आवश्यकतानुसार व्यय करने की व्यवस्था की जाए।

(5) शिक्षा राज्य, केंद्र तथा स्थानीय प्रयासों की साझेदारी मानी जाए तथा तीनों अपने उत्तरदायित्वों का समुचित रूप से वहन करें।

(6) अनुदान विधि ऐसी बनायी जाए कि स्थानीय प्रयास तथा साधन अधिकतम सक्रिय बनाए जाएं।

(7) अनुदान विधि को और अधिक सरल तथा सीधी बनाया जाए।

(8) भवन तथा उपकरण अनुदान व्यवस्था में आवश्यक परिवर्तन एवं सुधार करके ऐसी व्यवस्था बनाई जाए कि संस्थाएं जैसा-जैसा विभिन्न मदों में खर्च करें वैसे-वैसे उन्हें अनुदान मिलता जाए। इससे संस्थाओं को सुविधा होगी। इनके लिए बिना ब्याज कर्ज की सुविधाएं भी विद्यालय को दी जाएंगी।

(9) अनुदान माहवार मिलने की सुविधाएं रहें।

17

शिक्षा नियोजन

शिक्षा आयोग का कथन है कि भारत में शिक्षा नियोजन की सबसे प्रमुख समस्या राष्ट्रीय शिक्षा नीति के निर्धारण की है, क्योंकि शिक्षा राज्य का उत्तर-दायित्व है तथा शिक्षा संबंधी नीति-निर्धारण केंद्र, राज्य तथा स्थानीय स्तरों पर संगठित सरकारें करती हैं। चूंकि सरकार शिक्षा पर समुचित व्यय करती है : राष्ट्रीय आय का लगभग 10 प्रतिशत। यह आवश्यक है कि शिक्षा नियोजन को अधिक महत्त्व दिया जाए। वैसे तो नियोजन वर्तमान युग की विशेषता है तथा नियोजन के आधार पर ही संसार में इतनी अधिक वैज्ञानिक एवं तक-नीकी उन्नति हो रही है। शिक्षा आयोग ने शिक्षा एवं शिक्षा नियोजन के महत्त्व को बतलाते हुए कहा है, 'भारत के भाग्य का निर्माण कक्षाओं में हो रहा है।···विज्ञान एवं टेकनालाजी के युग में शिक्षा ही व्यक्तियों की संपन्नता, कल्याण एवं सुरक्षा निश्चित करती है।' शिक्षा आयोग के इस कथन से शिक्षा का महत्त्व स्पष्ट होता है तथा जब शिक्षा ही राष्ट्र की संपन्नता, सुरक्षा तथा कल्याण निश्चित करने वाली है तब यह अति आवश्यक है कि इसका नियोजन अति उत्तम विधि से हो तथा शिक्षा नियोजन के द्वारा राष्ट्र के विकास को गति दी जाए।

शिक्षा नियोजन आर्थिक नियोजन का ही अंग है। इस दृष्टि से राष्ट्र के आर्थिक साधनों की सीमाओं में शिक्षा नियोजन का स्वरूप विकसित किया जाता है। अतः यदि राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से संपन्न है तभी वह शिक्षा पर अधिक व्यय कर सकता है। परतु वर्तमान में शिक्षा को आर्थिक विकास के पीछे-पीछे चलने वाली ही नहीं माना जाता है। सन् 1974 में तेहरान में विश्व-जनसंख्या-शिक्षा संगोष्ठी में तो शिक्षा को राष्ट्र विकास का प्रमुख चालक माना गया है। शिक्षा आयोग ने भी शिक्षा के विकास को राष्ट्र विकास का आधार माना है। शिक्षा आयोग का कथन है कि शिक्षा को राष्ट्र के सामाजिक,

आर्थिक, राजनैतिक परिवर्तन के सशक्त साधन के रूप में उपयोग में लाना चाहिए। अतः इसे राष्ट्र की दूरगामी आकांक्षाओं एवं राष्ट्रीय विकास से संबंधित किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से शिक्षा नियोजन में राष्ट्र या समाज की संस्कृति, सामाजिक, आर्थिक, व्यावसायिक तथा तकनीकी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा इन सभी क्षेत्रों में योग्य नेतृत्व के विकास में समावेश करना होगा।

भारतीय शिक्षा नियोजन के उद्देश्य

विद्वानों ने भारतीय शिक्षा नियोजन के निम्न उद्देश्य बताए हैं :

1. देश की वर्तमान शैक्षणिक आवश्यकताओं का निर्धारण करके उनकी पूर्ति के प्रयास करना।

2. शिक्षा के विकास हेतु राष्ट्र के वित्तीय साधनों का मूल्यांकन एवं निर्धारण करना।

3. राष्ट्र की शैक्षणिक आवश्यकताओं की पूर्ति क्षमता आंकना।

4. राष्ट्र के सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा अन्य विकास हेतु शिक्षा को आधार बनाने के प्रयास करना।

5. शिक्षा प्रशासन में आवश्यक परिवर्तन करके उद्देश्यों की पूर्ति-हेतु अधिकांश रूप से सक्षम एवं प्रभावी बनाना।

भारतीय शिक्षा नियोजन की विशेषताएं

भारतीय योजना आयोग भारत सरकार की ओर से राष्ट्र के विकास और कल्याण के लिए विभिन्न आर्थिक क्रियाओं का नियोजन एवं एकीकरण करता है। इसके अंतर्गत शिक्षा नियोजन भी आता है। इस दृष्टि से शिक्षा नियोजन राष्ट्रीय आर्थिक नियोजन का अंग है। भारतीय शिक्षा नियोजन समाज और संस्कृति के संरक्षण के साथ-साथ इनके पुनर्निर्माण करने का लक्ष्य भी रखता है। इस प्रकार इसकी दूसरी विशेषता समाज तथा संस्कृति का विकास है। भारत में शिक्षा राज्य का उत्तरदायित्व है परंतु शिक्षा के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए केंद्र विज्ञान, तकनीकी तथा अनुसंधान शिक्षा के पुनर्गठन आदि के लिए विशेष रूप से सक्रिय रहता है तथा वित्तीय प्रावधान करता है। साथ ही स्थानीय स्वायत्त संस्थाएं तथा निजी प्रयास भी स्थानीय समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु शिक्षा की अनेक संस्थाएं संगठित करते हैं। इस प्रकार भारत में शिक्षा का उत्तरदायित्व विभिन्न अंशों में केंद्र, राज्य तथा स्थानीय सरकारें वहन करती हैं। इस प्रकार भारत में शिक्षा नियोजन की तीसरी

विशेषता विभिन्न स्तरों पर आवश्यकतानुसार प्राथमिकता देने से संबंधित है। भारत में शिक्षा के समुचित विकास के लिए अनेक दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन योजनाएं विकसित की गई हैं। अल्पकालीन योजनाएं पंचवर्षीय योजनाओं का अंश ही होती हैं। अतः चौथी विशेषता दीर्घ एवं अल्पकालीन योजनाओं से संबंधित है। भारतीय शिक्षा नियोजन की पांचवीं विशेषता सामाजिक तथा आर्थिक विकास से संबंधित है। समाज तथा उसके आर्थिक विकास के लिए मानवीय आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा संगठित की जाती है। इसी दृष्टि से तकनीकी शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा, कृषि शिक्षा, विज्ञान शिक्षा की व्यवस्था की जाती है। इस प्रकार शिक्षा की व्यवस्था करके देश के सामाजिक एवं आर्थिक विकास करने के प्रयास किए जाते हैं।

भारतीय शिक्षा नियोजन के दोष

भारत की पंचवर्षीय योजनाओं पर दृष्टिपात करने से भारतीय शिक्षा नियोजन के दोष तथा इसमें सुधार की गुंजाइश स्पष्ट होती है। शिक्षा आयोग ने भारतीय शिक्षा नियोजन के निम्न क्षेत्रों में सुधार करने का सुधाव दिया है :

(1) दर्ज संख्या वृद्धि तथा व्यय करने पर वल

भारतीय शिक्षा नियोजन का एक महत्त्वपूर्ण दोष यह है कि भारत में दर्ज संख्या वृद्धि तथा व्यय के लक्ष्य पूर्ण करने की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। यह उचित है कि देश में शिक्षा के संख्यात्मक विकास की अत्यंत अधिक आवश्यकता है, परंतु शिक्षा की संख्यात्मक वृद्धि पर वल देने के परिणामस्वरूप ही शिक्षा स्तर की उपेक्षा हुई है। इसी प्रकार व्यय पर वल देने के कारण अनेक क्षेत्रों में अपव्यय ही अधिक हुआ है।

(2) संरचना से अधिक व्यय किए जाने वाले कार्यक्रमों को अधिक महत्त्व

व्यय पर अधिक वल देने के फलस्वरूप ऐसे कार्यक्रमों को महत्त्व दिया गया जहां शीघ्रता तथा सरलता से अधिक व्यय करके लक्ष्य पूर्ण किए जा सकें, जैसे इमारत वनवाना, दर्ज संख्या वृद्धि करना आदि। परंतु परीक्षा सुधार, शिक्षा शोध, कुशाग्र वुद्धि वाले बालकों की शिक्षा, उत्तम पाठ्य पुस्तकों का निर्माण आदि महत्त्वपूर्ण कार्यक्रमों की उपेक्षा हुई जिनका शिक्षास्तर और विकास की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है।

(3) समुचित मूल्यांकन एवं शोध का अभाव

भारत में नियोजन नया कार्य है तथा अभी इसकी तकनीक विकसित नहीं की जा सकी है। शिक्षा नियोजन के प्रत्येक कार्यक्रम के समुचित मूल्यांकन तथा आवश्यकतानुसार उसमें शोध करके इन कार्यक्रमों के विकास की तकनीक का समुचित विकास भारत में नहीं किया जा सकता है। इससे शिक्षा व्यय में कमी तथा प्रत्येक रुपए के व्यय की प्रभावोत्पादकता की वृद्धि नहीं की जा सकी है।

(4) शिक्षा नियोजन का शक्तिहीन एवं कमजोर होना

शिक्षा नियोजन का भारत में जो तंत्र विकसित किया गया है, उसमें न तो उत्तम प्रशिक्षित अधिकारी हैं और न इनकी संख्या पर्याप्त है। जिला तथा स्थानीय स्तरों पर शायद ही शिक्षा संबंधी कोई नियोजन संबंधी कार्यवाही विधिवत् एवं व्यवस्थित रूप से की जाती हो। शिक्षा संचालक के कार्यक्रम में जो शिक्षा नियोजन विभाग खोले गए हैं उनमें भी शिक्षा नियोजन में प्रशिक्षित व्यक्ति नहीं हैं। अतः वे अधिकारी केवल प्रशासनीय, वित्तीय या अन्य आंकड़ों के संकलन का कार्य ही अधिक करते हैं।

(5) शिक्षा नियोजन निश्चित एवं दीर्घकालीन नहीं है

रामानाथन महोदय ने अपनी पुस्तक एजुकेशनल प्लानिंग एण्ड नेशनल इंटिग्रेशन में व्यक्त किया है कि भारतीय शिक्षा नियोजन में प्राथमिकता का अभाव है तथा यह दीर्घकालीन नहीं है। यही कारण है कि देश में स्वतंत्रता प्राप्ति के 25 वर्षों के बाद भी शिक्षा की न तो राष्ट्रीय नीति निर्धारित हो सकी है और न संविधान में इंगित निशुल्क अनिवार्य शिक्षा संबंधी निर्देशक सिद्धांत का पालन हो पाया है। अभी भी देश में माध्यमिक शिक्षा तथा विश्वविद्यालययीय शिक्षा की अवधि, बुनियादी शिक्षा या प्राथमिक शिक्षा के स्वरूप आदि पर ही बहस होती रहती है। ये सभी बातें भारतीय शिक्षा नियोजन में प्राथमिकता के अभाव का द्योतक हैं।

(6) भारतीय शिक्षा नियोजन ऊपर से प्रारंभ होता है

भारत में शिक्षा के क्षेत्र में जो भी योजनाएं बनाई जाती हैं वे विश्वविद्यालयों से प्रारंभ होती हैं। माध्यमिक एवं प्राथमिक शिक्षा को तो इस ढांचे में बैठाने के प्रयास किए जाते हैं। यह प्रक्रिया ही दोषपूर्ण है। वास्तव में प्राथमिक शिक्षा से नियोजन प्रारंभ होना चाहिए।

(7) शिक्षा से संबंधित संगठनों एवं ऐजेंसियों के उत्तरदायित्व एवं कार्यों में आवश्यक परिवर्तन

भारत में शिक्षा का कार्य केंद्र, राज्य एवं स्थानीय संगठन करते हैं। इन तीनों के कार्य एवं उत्तरदायित्व शोध तथा नियोजन के आधार पर विकसित नहीं किए गए हैं। अतः अनेक कार्यों में जहां केंद्रीकरण होना चाहिए, वहां नहीं है तथा जहां विकेंद्रीकरण होना चाहिए वहां केंद्रीकरण है। केंद्रीकरण एवं विकेंद्रीकरण में उपयुक्त समन्वय होना आवश्यक है। इन तीनों ऐजेंसियों के कार्यों एवं उत्तरदायित्वों में परिवर्तन आवश्यक है।

(8) शिक्षा में संलग्न दोनों ऐजेंसियों में समन्वय का अभाव

भारत में प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा का उत्तरदायित्व राज्य सरकार एवं समाज का है। विश्वविद्यालयीय शिक्षा का नियंत्रण विश्वविद्यालय करते हैं। इन दोनों ऐजेंसियों में समन्वय का अभाव है। ये दोनों अलग-अलग अपनी योजनाएं बनाते हैं तथा कार्य करते हैं जिससे देश में दोनों स्तरों की शिक्षा की समस्याएं समुचित रूप से हल नहीं हो रही हैं। माध्यमिक स्तर तक शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषा है, परंतु तकनीकी शिक्षा अंग्रेजी में दी जाती है। इससे छात्रों की शिक्षा पर स्तर जैसा होना चाहिए वैसा नहीं हो पा रहा है। विश्व-विद्यालय भी ज्ञान की सीमाओं के विस्तार के उत्तरदायित्वों का समुचित निर्वाह नहीं कर पा रहे हैं।

भारतीय शिक्षा नियोजन में सुधार के उपाय

शिक्षा आयोग ने भारतीय शिक्षा नियोजन के सुधार हेतु निम्न उपाय सुझाए हैं, जो अत्यंत उपयोगी हैं :

(1) गुणात्मक विकास : शिक्षा के संख्यात्मक विकास की अपेक्षा गुणात्मक विकास की ओर अब अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। इसके लिए यह आव-श्यक है कि शिक्षा को विस्तृत एवं समग्र दृष्टि से देखा जाए तथा उद्देश्य तथा लक्ष्यों को विस्तृत पृष्ठभूमि में निर्धारित किया जाए।

(2) सघन कार्यक्रम तथा चुनाव प्रक्रिया का उपयोग : प्रथम तीन पंच-वर्षीय योजनाकाल में शिक्षा विकास हेतु सभी क्षेत्रों में कुछ न कुछ कार्यक्रम व्यवस्थित करने की नीति अपनाई गई है। चूंकि साधन कम थे अतः किसी भी क्षेत्र में जैसा विकास आवश्यक था, संभव न हुआ। इससे अपव्यय भी बहुत हुआ। अतः यह उपयोगी होगा कि कुछ महत्त्वपूर्ण क्षेत्र चुन लिए जाएं तथा

उनमें सघन कार्यक्रम व्यवस्थित करके समुचित विकास किया जाए। शिक्षक शिक्षा, कृषि विज्ञानों की शिक्षा, उत्तम प्राथमिक शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा का औद्योगीकरण, साक्षरता विकास, छात्रवृत्तियों का विकास, राष्ट्र की 90 प्रतिशत शिक्षण संस्थाओं का स्तर उत्तम बनाना आदि ऐसे कार्यक्रम हैं जिन्हें प्राथमिकता देकर सघन कार्यक्रम विकसित किए जाने चाहिए।

(3) **योग्यता तथा परिश्रम वाले कार्यक्रम व्यवस्थित करना :** अभी तक शिक्षा नियोजन वित्त के व्यय को अधिक महत्त्व देता रहा है परंतु इससे देश का पैसा तो सरलता से व्यय हो गया, परंतु शिक्षास्तर उच्च नहीं बन पाया और देश में सभी क्षेत्रों में योग्यता के विकास की ओर ध्यान नहीं दिया जा सका। वास्तव में आवश्यक यह है कि कठोर परिश्रम एवं योग्यता विकसित करने वाले कार्यक्रमों को व्यवस्थित करके शिक्षा के गुणात्मक पहलू को पुष्ट एवं सबल बनाया जाए। योग्यता-विकास एवं परिश्रम वाले कार्यक्रमों के अंतर्गत पर्यवेक्षण को उन्नत करना, उत्तम पाठ्य-सामग्री विकसित करना, शिक्षा शोध, परीक्षा सुधार, सेवारत शिक्षक शिक्षा, समाज में संबंध स्थापित करना, योग्य बालकों की ओर विशेष ध्यान देना आदि कार्यक्रम संगठित करने का सुझाव शिक्षा आयोग ने दिया है।

(4) **मूल्यांकन एवं शोध को आवश्यक महत्त्व :** मूल्यांकन एवं शोध ही विकास के आधार होते हैं। परंतु भारतीय शिक्षा नियोजन में इस ओर समुचित ध्यान नहीं दिया गया है। अतः शिक्षा पर किए जाने वाले व्यय को प्रभावी एवं उपयोगी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि विश्वविद्यालय, प्रशिक्षण संस्थाएं, व्यावसायिक संगठन, शैक्षिक कार्यक्रमों का समय-समय पर मूल्यांकन करते रहें। शिक्षा के दीर्घकालीन कार्यक्रमों के संबंध में शोध भी आवश्यक है।

(5) **शिक्षा नियोजना तंत्र को सबल बनाना :** शिक्षा नियोजन से संबंधित अधिकारियों के उचित प्रशिक्षण की आवश्यकता बहुत अधिक है। इस प्रशिक्षण के अभाव में अधिकारीगण प्रशासनिक एवं वित्तीय आंकड़े एकत्रित करने के कार्यों को अधिक महत्त्व देने लगते हैं। फलस्वरूप नियोजन का स्वरूप ही विकृत हो जाता है। अतः यह आवश्यक है कि शिक्षा नियोजन से संबंधित सभी स्तरों के कर्मचारियों के उचित प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाए।

(6) **शिक्षा नियोजन की विधियों एवं संगठन में सुधार :** भारतीय शिक्षा नियोजन के उपयोगी, प्रभावी तथा सशक्त बनाने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा नियोजन से संबंधित व्यक्तियों को नियोजना विधि, संगठन एवं प्रशासन संबंधी सिद्धांतों तथा नवीन प्रवृत्तियों से परिचित कराया जाए। केंद्र, राज्य तथा स्थानीय स्वराज्य संस्थाएं तीनों को सम्मिलित या अलग-अलग इस प्रकार

की गतिविधियों को गठित करने की दिशा में पहल करना चाहिए। विश्व-विद्यालय अनुदान आयोग तथा एशियन इंस्टीट्यूट आफ ऐजूकेशन प्लानिंग को इस दिशा में पहल करके कार्यक्रम व्यवस्थित करना चाहिए। विभिन्न राज्यों में भी शिक्षा नियोजन संबंधी अध्ययन व्यवस्थित किए जा सकते हैं।

(7) **शिक्षा व्यवस्थित करने वाले तंत्रों तथा ऐजेंसियों के उत्तरदायित्वों का पुनगठन :** शिक्षा कार्यों को व्यवस्थित करने वाली तीनों—केंद्र, राज्य तथा स्थानीय ऐजेंसियों या तंत्रों के उत्तरदायित्व अभी निश्चित नहीं हैं। शिक्षा आयोग ने सुझाव दिया है कि उच्च शिक्षा का उत्तरदायित्व केंद्र, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग एवं विश्वविद्यालयों का होना चाहिए। विद्यालय शिक्षा का उत्तरदायित्व राज्य का हो तथा राज्य स्थानीय स्वशासन को सहायक के रूप में रखे। इस प्रकार के उत्तरदायित्वों के पुनर्गठन से शिक्षा नियोजन में केंद्री-करण एवं विकेंद्रीकरण दोनों का समन्वय हो सकेगा।

(8) **शिक्षा प्रशासन कार्य विधि में आमूल परिवर्तन आवश्यक :** वर्तमान में शिक्षा प्रशासन स्थिरता एवं एकरूपता को अधिक महत्त्व दे रहा है। इससे स्वतंत्र प्रयोग, नवीन खोज की उपेक्षा होती है। शिक्षा में नवीन ज्ञान, प्रयोग, अनुसंधान के प्रति सजगता अति लाभकारी होती है। साथ ही किए गए कार्यों पर पुनर्विचार भी आवश्यक है। राज्य शिक्षा संस्थानों, शिक्षक शिक्षा संस्थाओं तथा शिक्षा विभाग को इस नवीन दृष्टिकोण से कार्य करना चाहिए। इस हेतु यह आवश्यक है कि शिक्षा प्रशासन में लोच, गतिशीलता एवं नवीन के प्रति आकर्षण हो। शिक्षा क्षेत्र में शिक्षकों की संख्या अधिक होने तथा अधिकारी कम होने के कारण जो भी कार्य किए जाते हैं या निर्णय किए जाते हैं उनमें कम पढ़े-लिखे व्यक्तियों का हाथ अधिक रहता। वास्तव में अधिकारियों को अपने स्तर पर कार्य करना चाहिए तथा शिक्षकों के सहारे नहीं रहना चाहिए।

(9) **शिक्षा कानून :** भारत में शिक्षा कानून की स्थिति संतोषजनक नहीं है। राज्यों में कुछ कानूनों का विकास किया गया है परंतु इनसे काम नहीं चलता है। केंद्र को राष्ट्रीय शिक्षा नीति घोषित करनी चाहिए तथा राज्यों को इसकी पृष्ठभूमि में शिक्षा कानून बनाना चाहिए।

(10) **शिक्षा नियोजन केंद्रीकृत होते हुए भी पर्याप्त विकेंद्रीकृत होना चाहिए :** शिक्षा आयोग ने सुझाव दिया है कि शिक्षा नियोजन का केंद्रीकरण इतना होना चाहिए कि राज्य सहयोगी के रूप में कार्य कर सके तथा प्रशासनीय विकेंद्रीकरण इतना होना चाहिए कि राज्य को समाज का समुचित सहयोग मिल सके। यदि इस प्रकार समन्वय स्थापित हो सके तो शिक्षा नियोजन राष्ट्र

के शिक्षा विकास में बहुत सहयोग दे सकता है तथा इसकी गति भी तीव्र हो सकती है।

(11) **शिक्षा विभाग को सशक्त बनाना :** राज्य शिक्षा विभाग को सशक्त बनाना आवश्यक है। इसके लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा संबंधी विभिन्न कार्यक्रमों के अनुरूप अधिकारियों और कर्मचारियों की नियुक्ति की जाए। अधिकारी योग्य और समुचित प्रशिक्षण प्राप्त हों, उनका वेतनमान अच्छा हो। प्रशासन और पर्यवेक्षण की नवीन प्रवृत्तियों एवं विधियों का उपयोग करके कर्मचारियों को उन्नत बनाया जाए।

18

वर्गहीन शिक्षा

संसार के विकसित राष्ट्रों में वर्गहीन या खुली शिक्षा का प्रसार विद्यालय एवं विश्वविद्यालय स्तरों पर बहुत हो रहा है। वर्गहीन शिक्षा का प्रसार छात्रों को अपनी गति से शिक्षा लेने तथा उनके स्तर को उच्च बनाने की दृष्टि से ही किया जा रहा है। वर्गहीन शिक्षा के समर्थक अविधिक, मानवीय तथा उत्पादक शिक्षा को महत्त्व देते हैं, परंतु वर्गहीन एवं वर्गाश्रित शिक्षा ऐसे दो भेद करना उपयुक्त नहीं होगा। यहां वर्गहीन या खुली शिक्षा के संबंध में विचार करना उपयुक्त होगा।

वर्गहीन या खुले विद्यालय

वर्गहीन या स्वच्छंद विद्यालय क्या हैं ?

वर्तमान में सभी देशों में शिक्षा के स्तर को उच्च बनाए रखने तथा छात्रों को समुचित रूप से विकसित करने की सजगता स्पष्ट परिलक्षित हुई। इस हेतु अमेरिका में काफी अधिक मात्रा में (यूरोपीय देशों में अभी प्रारंभ ही हुआ है) वर्गहीन विद्यालयों या स्वच्छंद विद्यालयों को विकसित किया गया। वर्गहीन या स्वच्छंद विद्यालय अत्यंत अधिक विकसित और स्वतंत्र विद्यालय हैं। इन विद्यालयों में परंपरागत शिक्षण विधियों तथा कक्षा व्यवस्था के स्थान में स्वतंत्र व्यक्तिगत शिक्षा, पठन, लेखन, गणित, विज्ञान, वातावरण, कला, चित्र-कला, संगीत, नाट्य, उद्योग आदि पर बल दिया जाता है। इन विद्यालयों में बालक कक्षा पहली दूसरी या तीसरी में न बैठकर विषयों के कमरे में बैठते हैं। वे इन कर्मशालाओं में स्वतंत्रता से बातचीत करते, घूमते, कार्य करते हैं। इन कमरों की दीवालें बच्चों के द्वारा निर्मित चित्रों, गीतों, नक्शों, कहानियों आदि से सजी रहती हैं। शिक्षक एक निर्देशक के रूप में रहता है। बच्चे अपना संपूर्ण विद्यालय का समय अपने व्यक्तिगत कार्य, पुस्तक पठन, चित्र बनाने, आपसी

चर्चा करके कार्य करने की योजना बनाने आदि में व्यय करते हैं। कभी-कभी शिक्षक-शिक्षिका के साथ चर्चा करने या समूह में विचार-विमर्श करने में भी समय व्यय किया जाता है। इस प्रकार वर्गहीन विद्यालयों में बच्चे अपनी-अपनी रुचियों के अनुसार कार्यरत रहते हैं तथा अपनी-अपनी व्यक्तिगत क्षमताओं के अनुसार शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति करते हैं। इस प्रकार वर्गहीन या स्वच्छंद विद्यालयों के पाठ्यक्रम को संक्षिप्त (लगभग एक माह या अधिक की) इकाइयों में विकसित किया जाता है तथा बालक अपनी रुचि तथा क्षमताओं के अनुसार विभिन्न विषयों या क्षेत्रों में प्रगति करता है। संपूर्ण विद्यालय में छात्र-छात्राएं विषय कक्षों में ही कार्य करते और पढ़ते हैं। शाला में न घंटा बजता है और न उपस्थिति लेकर परंपरागत रूप से शिक्षण ही होता है। वहां तो प्रत्येक बालक स्वतंत्रतापूर्वक संयमित होकर अपने साथियों के साथ सहयोग की भावना से कार्य करता है। इस प्रकार प्रत्येक विषय कक्ष में सभी आयु तथा विभिन्न रुचियों या योग्यताओं के विद्यार्थी रहते हैं। इस विभिन्नता में प्रत्येक की योग्यता स्वतंत्र रूप से कार्यशील रहती है तथा वह पूर्ण क्षमता के अनुसार विकसित होती है। प्रत्येक बालक-बालिका को अपने व्यक्तित्व का स्वतंत्र रूप से पूर्ण विकास करने का अवसर भी सदा मिलता रहता है। यहां स्वयं क्रिया को महत्त्व अधिक दिया जाता है। इस प्रकार रूसो, फ्रोबेल, मांटेसरी, डिवी, गांधी आदि के स्वयं क्रिया के शिक्षा सिद्धांतों को वर्गहीन विद्यालयों में समुचित रूप से कार्य रूप में विकसित देखा जा सकता है। मैंने एक 9 वर्षीय छात्रा से पूछा कि तुम्हें यह विद्यालय अच्छी क्यों लगता है? इसके उत्तर में मुझसे छात्रा ने कहा कि यह विद्यालय उसे इसलिए अच्छा लगता है कि यहां बहुत स्वतंत्रता है। बालिका के कथन से यह स्पष्ट होता है कि बालक-बालिकाओं को यदि पढ़ने, कार्य करने आदि की पूर्ण स्वतंत्रता हो तो उन्हें पढ़ने, समझने, नए काम करने आदि की प्रेरणा मिलती है। मनोवैज्ञानिक शोधों से भी यह सिद्ध हुआ है कि इस प्रकार के विद्यालयों में बालकों को अपनी उन्नति तथा कौशल वृद्धि में सापेक्ष उत्प्रेरणा मिलती है। इन वर्गहीन विद्यालयों में इस प्रकार की उत्प्रेरणा मिलने के साधन तथा स्थितियां बहुत अधिक विद्यमान रहती हैं।

शिक्षक की स्थिति : इन विद्यालयों में छात्रों की सतत प्रगति होते रहने से शिक्षकों को भी अपने कार्य से अपेक्षाकृत अधिक संतोष मिलता है। परंतु प्रारंभिक अवस्था में इस प्रकार के विद्यालयों को व्यवस्थित करने में उन्हें बहुत अधिक परिश्रम, व्यवस्था तथा नियोजन करना होता है। परंतु यदि एक बार इस प्रकार की व्यवस्था विकसित हो जाए तब शिक्षक का कार्यभार हलका हो जाता है तथा उसे अपने कार्य से बहुत अधिक संतुष्टि मिलने लगती है। उसे

हमेशा वालकों पर दवाव एवं नियंत्रण नहीं रखना होता है। जैसा कि एक विद्वान जेनी सी एंड्री ने कहा है 'उसे वालकों के साथ पूर्ण व्यक्ति के रूप में जीवन जीने के अवसर मिलते हैं।'

वर्गहीन विद्यालयों की विशेषताएं

वर्गहीन विद्यालयों की अनेक विशेषताएं हैं। जिनमें निम्न प्रमुख हैं :

(1) इनमें प्रत्येक वालक अपनी क्षमताओं के अनुसार प्रगति करता है।

(2) इनमें वालक को सर्वाधिक स्वतंत्रता रहती है।

(3) इनमें वालक रुचि एवं स्वतंत्रता से कार्य करते हैं। अतः सामान्य विद्यालयों की अपेक्षा इन विद्यालयों में कार्य अधिक होता है।

(4) इनमें क्रियात्मक एवं व्यावहारिक शिक्षण पर ही वल दिया जाता है।

(5) चूंकि वालक स्वयं क्रिया करके ज्ञान अर्जन करता है, सीखना ठोस होता है।

(6) योग्य शिक्षक वालक को उसकी आयु के लिए मान्य सामान्य स्तर से अधिक सीखने में सहायक होते हैं।

(7) इनमें अपेक्षाकृत अधिक मानवीय शिक्षण होता है।

(8) इनमें शिक्षण एवं सीखना मनोवैज्ञानिक है।

वर्गहीन विद्यालयों की सीमाएं : वर्गहीन विद्यालयों में कार्य सुनियोजित होना आवश्यक है। यदि शिक्षक वहुत योग्य नहीं हैं या कार्य पहले से सुनियोजित नहीं किया गया है तव वालकों का सीखना यथोचित नहीं होगा तथा शिक्षा से जिन परिणामों की आशा की गई है वे प्राप्त न हो सकेंगे। इस प्रकार के विद्यालयों में वालकों की संख्या कम ही होनी चाहिए। यदि वालक वहुत अधिक होंगे तव सभी के लिए कार्य व्यवस्थित करना कठिन होगा। पूर्ण स्वतंत्र विद्यालयों में पाठ्यक्रम इतना व्यवस्थित तथा पूर्व नियोजित नहीं होता है जितना कि वर्गहीन विद्यालयों में। वर्गहीन विद्यालयों में वहुत कुशलता से कार्य व्यवस्थित किए जाते हैं तथा प्रत्येक स्तर पर मूल्यांकन द्वारा सतत यह प्रयास किया जाता है कि उपलब्धियां उच्चस्तरीय हों, वालक की रुचियां उन्नत हों तथा वालक तथा शिक्षकों दोनों का सतत विकास होता रहे। वर्ग-हीन विद्यालयों में समय तथा धन की आवश्यकता अधिक रहती है। अभी इस प्रकार के विद्यालय का प्रारंभ ही है। अतः यह आवश्यक है कि इन्हें समाज, प्रशासन, शिक्षक, वालक सभी का यथोचित सहयोग प्राप्त हो।

भारत में वर्गहीन विद्यालयों की व्यवस्था

अमेरीका में विकसित वर्गहीन विद्यालय सभी को स्वतंत्रता से उपलब्ध खुली मात्र स्कूल नहीं हैं। इन विद्यालयों ने अपनी कार्यविधियों से यह सिद्ध कर दिया है कि इनके माध्यम से ठोस शैक्षणिक उपलब्धियां संभव हैं। इनमें अपनाई गई शिक्षण विधि ऐसी है जहां शिक्षक ऐसी दशाओं में शिक्षण करते एवं वालक ऐसी स्थितियों में सीखते हैं जो उत्तेजक हैं तथा स्वतंत्र अविधिक ढंग से सच्ची शिक्षा देने में सहायक हैं। भारतीय शिक्षा आयोग ने भी प्राथमिक स्तर पर पहली से पांचवीं तक की कक्षाओं का शिक्षण वर्गहीन स्थितियों में करने का सुझाव दिया था तथा यह आशा व्यक्त की थी कि यदि इन सभी कक्षाओं में इस प्रकार की शिक्षा देना अभी संभव न हो तो कम से कम पहली और दूसरी कक्षाओं का शिक्षण तो वर्गों में न होकर सम्मिलित रूप से वर्गहीन कक्षा के रूप में किया जाए। परंतु हमारे यहां शिक्षकों ने इस स्थिति को ठीक से नहीं समझा है। वे समझे कि अव तो पहली कक्षा की परीक्षा होनी ही नहीं है। अतः पहली कक्षा के शिक्षण में ढील आ गई तथा इस कक्षा की कुछ उपेक्षा भी हुई। परंतु यदि भारतीय शिक्षा आयोग के मंतव्य को सही दृष्टिकोण से देखा जाए तो पहली तथा दूसरी कक्षाओं का शिक्षण अमरीका में विकसित वर्गहीन विद्यालयों के ढंग का सुनियोजित तथा स्वतंत्र होना चाहिए। पिछले वर्ष संचालक, शिक्षा विभाग, मध्यप्रदेश की ओर से इस दिशा में पाठ्यक्रम विस्तार भी विद्यालयों को जिला शिक्षा अधिकारियों के माध्यम से भेजा गया था। इस पाठ्यक्रम विस्तार के साथ-साथ पाठ्यक्रम में दर्शाई गई इकाइयों के मूल्यांकन के संवंध में भी निर्देशन दिए गए थे। इन पाठ्यक्रम में दर्शाई गई इकाइयों के मूल्यांकन निर्देशों को विद्यालयों तथा शिक्षकों तक पहुंचाने के प्रयास किए गए हैं। साथ ही साथ शिक्षकों को इस दिशा में प्रशिक्षित करने हेतु गोष्ठियों का आयोजन भी शिक्षा महाविद्यालयों तथा प्रशिक्षण संस्थाओं में किया गया है। परंतु इस दिशा में और अधिक ठोस प्रयास आवश्यक हैं।

खुले विश्वविद्यालय

इंग्लैंड में 'खुले विश्वविद्यालय' की स्थापना कुछ ही वर्षों पूर्व हुई। 'खुले विश्वविद्यालय' का विचार बहुत पुराना नहीं है। सन् 1960 के आसपास इस विचार का विकास हुआ तथा इन्हें 'हवा में विकसित विश्वविद्यालय' भी कहते थे। खुले विश्वविद्यालय का प्रमुख उद्देश्य विश्वविद्यालयीय शिक्षा को अधिक से अधिक ब्रिटिश जनता तक पहुंचाना है। इस उच्च शिक्षा की सुवि-

धाएं अनेक कारणों से, केवल कुछ व्यक्तियों को ही अभी तक उपलब्ध हैं। इस खुले विश्वविद्यालय की प्रमुख विशेषता यह थी कि प्रवेश हेतु किसी विधिवत् बौद्धिक योग्यता की आवश्यकता नहीं थी तथा यह अपना पाठ्यक्रम पत्राचार कोर्स, रेडियो, स्थानीय अध्ययन केंद्रों आदि की सहायता से पूर्ण करता है। 16-18 दिसम्बर सन् 1970 को दिल्ली में एक संगोष्ठी 'खुले विश्वविद्यालय' पर आयोजित की गई थी। इस संगोष्ठी के द्वारा भी भारत के लिए 'खुले विश्वविद्यालय' विकसित करने की अनुशंसा की गई थी तथा आशा की गई थी कि 'खुले विश्वविद्यालय शिक्षा के अवसरों को वृहत क्षेत्र में उपलब्ध कराने तथा सामाजिक परिवर्तन लाने हेतु एक साधन के रूप में विकसित होंगे तथा इनसे शिक्षा के स्तर उच्च होंगे तथा अभी जो प्रयास शिक्षा के इस महान यज्ञ में शैक्षिक समान अवसरों की खाई को पाट नहीं पाए थे, इससे इस खाई का पाटा जाना संभव होगा।' खुले विश्वविद्यालय ऐसे प्रौढ़ों का उच्च शिक्षण का द्वार खोलेंगे जिन्हें शिक्षा प्राप्त करने की सुविधाएं उपलब्ध नहीं हैं। परंतु इसमें यह वात स्पष्ट है कि किसी कम योग्य व्यक्ति के लिए खुले विश्वविद्यालय अपना स्तर नीचा नहीं करेंगे। इसमें नीति यह होगी कि इसके द्वार ऐसे सभी नवीन व्यक्तियों को खुले रहेंगे जो इसके पाठ्यक्रम की चुनौती को स्वीकार करके अपनी योग्यता विकसित करना चाहते हैं। इसमें प्रवेश हेतु योग्यता का सर्टीफिकेट का वंधन शिथिल होगा परंतु प्रवेश के वाद कार्य की क्षमता एवं शैक्षणिक कौशल का स्तर वहुत उच्च होगा। यह उच्चस्तर इनमें प्रवेश लेने वाले व्यक्तियों के अध्ययन करने की उत्सुकता तथा स्वतंत्र अध्ययन के द्वारा कायम रखा जाएगा। इससे भारतीय संविधान में इंगित सामाजिक लाभ की प्राप्ति हेतु शिक्षा के समान अवसर सभी को उपलब्ध करा करके संभव हो सकेगी।

खुले विश्वविद्यालय की विशेषताएं

इस 'खुले विश्वविद्यालय' की प्रमुख विशेषताएं निम्न होंगी :

(1) इनमें प्रौढ़ व्यक्ति उच्च शिक्षा का लाभ ले सकेंगे।

(2) समाज के अधिकांश व्यक्ति अपना कार्य करने के साथ-साथ योग्यतानुसार उच्च शिक्षा से लाभ लेते रह सकेंगे। यदि इन्हें कोई डिग्री न भी मिल सकी तो भी इनके ज्ञान और कौशल में वृद्धि होगी।

(3) शिक्षण के लिए किसी कक्षा में वैठना आवश्यक न होगा। पत्राचार कोर्स, रेडियो, टेलीविजन, टेप, अध्ययन केंद्रों में भ्रमण आदि विभिन्न शैक्षणिक तकनीक से लाभान्वित होकर प्रौढ़ अपना ज्ञान और कौशल विकास करेंगे।

(4) इसमें पाठ्यक्रम, पत्राचार पाठ, व्याख्यान देश के बहुत ही योग्य व्यक्ति तैयार करेंगे। इससे महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में उत्तम शिक्षकों के अभाव की पूर्ति काफी सीमा तक हो सकेगी।

(5) इससे समाज के उच्च साधनों का अधिक से अधिक व्यक्तियों के लाभार्थ उपयोग होगा।

(6) इसमें प्रति व्यक्ति व्यय बहुत कम होगा।

(7) इससे वर्तमान में महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में होने वाली तोड़फोड़ की कोई गुंजाइश नहीं रहेगी। सभी अपने घरों या काम के स्थानों में सुविधाजनक व्यवस्था के अनुसार पढ़ेंगे। अतः आन्दोलन एवं तोड़फोड़ करने के लिए कोई विशेष स्थल नहीं रहेगा और न कमजोर शिक्षक सामने रहेंगे जिनसे अनुशासनहीनता का व्यवहार किया जा सके।

(8) इसकी सबसे बड़ी विशेषता विचारों का खुलापन तथा प्रयोग करने एवं नवाचारों के उपयोग की तत्परता है।

(9) ब्रिटिश खुले विश्वविद्यालय में प्रवेश हेतु कोई योग्यता आवश्यक नहीं रहती है। पाठ्यक्रम की चुनौती ही महान रोक का कार्य करती है परंतु भारत में अभी अनिवार्य शिक्षा का प्रसार नहीं हुआ है। अतः इसमें प्रवेश हेतु एक जांच परीक्षा व्यवस्थित की जा सकती है।

(10) इन खुले विश्वविद्यालयों के माध्यम से अनेक विषयों के समन्वित पाठ्यक्रम विकसित किए जा सकेंगे।

भारत में खुले विश्वविद्यालय की उपयोगिता

वर्तमान में भारत में उच्च शिक्षा की बहुत ही विषम एवं कमजोर स्थिति है। विश्वविद्यालय में वर्ष भर परीक्षाएं चलती हैं। छात्र परीक्षाओं में नकल करने तथा पास होने के लिए आंदोलन करने में लगे रहते हैं। महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय बहुत कम समय लगाते हैं तथा राजनीति का अखाड़ा बने रहते हैं। पिछले वर्ष हम लोग कनेडा में मांट्रियल के शिक्षा विभाग तथा विश्वविद्यालय को देखने गए थे। वहां के विश्वविद्यालय में एक प्रोफेसर ने हमसे पूछा कि आप लोग क्या उसी मध्यप्रदेश से आए हैं जहां के छात्र परीक्षा में नकल करने के लिए आंदोलन कर रहे हैं। हम दोनों को बड़ी शर्म लगी पर क्या करते? बाजार में काग़ज की कमी के कारण पुस्तकें ठीक समय पर उपलब्ध नहीं होतीं तथा नोट्स आदि लिखने के लिए भी कागज प्राप्त नहीं होता। अनेक शिक्षकों को विषय का न तो समुचित ज्ञान है और न वे अपने ज्ञान की सीमाओं की वृद्धि हेतु तत्पर हैं। वे तो राजनीतिक शिक्षक बनकर अपनी

स्थिति बनाए रखना चाहते हैं। ऐसी स्थितियों में उचित तो यही होगा कि देश के सभी कमजोर विश्वविद्यालयों को बंद करके 'खुले विश्वविद्यालय' विकसित किए जाएं। खुले विश्वविद्यालय खुले मस्तिष्कों को सर्वोत्तम प्रतिफल प्राप्त करने हेतु पहल हैं। यह मस्तिष्क की एक प्रवृत्ति है। इसके विकास से भारत को बहुत लाभ हो सकता है। इससे विश्वविद्यालयों में व्याप्त अशांत, आक्रमक, हिंसात्मक शोषण के वातावरण से मुक्ति तो मिल ही सकेगी।

खुले विश्वविद्यालयों की समस्याएं

भारत में खुले विश्वविद्यालय विकसित करने में अनेक कठिनाइयां हैं। इनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :

(1) 'खुले विश्वविद्यालय' का संगठन, कार्यविधि जानने वाले योग्य अधिकारी न रहने से इनकी स्थापना एकदम नहीं की जा सकती है।

(2) इनके लिए 'शैक्षिक तकनीक' के विकास की आवश्यकता है। 'शैक्षिक तकनीक' के साधन जैसे टेलीविजन, रेडियो, फिल्म, टेपरिकार्डर, पत्राचार कोर्स, अध्ययन केंद्र आदि के विकास के लिए प्रारंभ में बहुत धन तथा कुशल प्रशिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकता है। इनका भारत में अभी अभाव ही है।

(3) भारत में अनिवार्य शिक्षा का अभी प्रारंभिक कक्षाओं तक भी विस्तार नहीं हो पाया है। अतः स्वयं शिक्षा प्राप्त करने में प्रौढ़ प्रशिक्षित नहीं हैं। अतः वे खुले विश्वविद्यालय के पत्राचार के पाठ्यक्रम में समुचित रूप से लाभान्वित न हो सकेंगे तथा प्रवेश भी योग्य शिक्षित व्यक्तियों तक सीमित रहेगा।

(4) क्रियात्मक व्यावहारिक कार्यों के पाठ्यक्रम विकास में भी अनेक कठिनाइयां हैं। यह कार्यक्रम अधिक खर्चीला भी है। इतना अधिक व्यय भारत अभी नहीं कर सकेगा।

(5) खुले विश्वविद्यालयों को राजनीति से अलग रखना बहुत आवश्यक है। भारत में इस स्थिति के विकास में अनेक कठिनाइयां हैं।

(6) खुले विश्वविद्यालय में छात्र क्या पढ़ते हैं तथा क्या पढ़ना चाहते हैं, यह ज्ञात करके उन तक इस पाठ्यवस्तु को पहुंचाना बड़ा कठिन कार्य है। अतः खुले विश्वविद्यालय में शिक्षकों को न केवल इस हेतु अत्यधिक सजग रहना चाहिए वरन् प्रयत्न भी करते रहना चाहिए कि व्यक्ति छात्र तक वह पाठ्यवस्तु पहुंचे जो वह चाहता है।

खुले विश्वविद्यालय संबंधी सुझाव

भारत में खुले विश्वविद्यालयों के विकास हेतु निम्न कार्य क्रियान्वित करना उपयोगी सिद्ध होगा :

(1) खुले विश्वविद्यालय की कार्यविधि, व्यवस्था, आवश्यकताओं आदि के संबंध में विचार-विमर्श हेतु अध्ययन गोष्ठियों को आयोजित किया जाए जिससे इसके संबंध में आवश्यक ज्ञान विकसित हो सके। इन अध्ययन गोष्ठियां में वित्तीय प्रावधान, शिक्षण विधियों एवं साधनों के उपयोग, प्रवेश हेतु छात्रों की योग्यता एवं श्रेणी, लक्ष्य आदि निश्चित किए जाएं।

(2) खुले विश्वविद्यालय शिक्षकों के प्रशिक्षण, तकनीशियनों की शिक्षा आदि के लिए पहले खोले जाएं। इसके बाद धीरे-धीरे अन्य क्षेत्र भी इसके अंतर्गत सम्मिलित किए जाएं।

(3) 'शैक्षिक तकनीक' के विकास के लिए सघन कार्यक्रम विकसित किए जाएं। इसके विकास हेतु 'सिस्टम एप्रोच' विधि का अवलंबन लिया जाए जिससे विभिन्न साधनों के उपयोग में समन्वय स्थापित होगा।

(4) ब्रिटिश खुले विश्वविद्यालय ने विज्ञान के अनेक समन्वित पाठ्यक्रम एवं कोर्स विकसित किए हैं। इसी प्रकार के समन्वित कोर्स विज्ञान और अन्य क्षेत्रों में भी किए जाएं।

(5) वर्तमान में विद्यमान विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में उपलब्ध साधनों का उपयोग भी खुले विश्वविद्यालय स्थापित करने हेतु किया जाए।

(6) खुले विश्वविद्यालयों का कार्य केवल ज्ञान का प्रसार ही न हो, शोध कार्य के द्वारा उन्हें ज्ञान की सीमाओं का विस्तार भी करना चाहिए। अतः शिक्षण के साथ-साथ शोध की व्यवस्था भी इनमें होनी आवश्यक है। 'शैक्षिक तकनीक' में विकास हेतु शोध करना भी इसका प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए।

(7) ब्रिटिश खुले विश्वविद्यालय को विकसित होने में लगभग 4 वर्ष लगे। इनके अनुभवों से हमें लाभान्वित होने के प्रयास करने चाहिए तथा इसमें एवं भारत के अनेक विश्वविद्यालयों में व्यवस्थित पत्राचार पाठ्यक्रमों की सहायता से उत्तम पाठ्यक्रमों का विकास करना चाहिए।

19

शैक्षिक तकनीक

अर्थ

सामान्यतः व्यक्ति शैक्षिक तकनीक का अर्थ टेलीविजन, टेप रिकार्डर, रेडियो, फिल्म, भाषा प्रयोगशाला आदि के उपयोग से संबंधित मानते हैं। परंतु ये साधन तो दृश्य-श्रव्य शिक्षा के हैं जो शिक्षण को रोचक तथा सरल बनाने के लिए उपयोग में लाए जाते हैं। परंतु शैक्षिक तकनीक का सीखने में प्रभावी सहयोग होता है। यह दूसरी बात है कि इन दृश्य-श्रव्य साधनों की सहायता से किसी एक या विभिन्न साधनों के मेल से सीखने को पुष्ट एवं प्रभावी बनाया जाता है। भाषा प्रयोग कक्ष, फिल्म प्रदर्शन, टेलीविजन आदि पाठ्यवस्तु प्रस्तुतीकरण के साधन हैं तथा ये शैक्षिक तकनीक के महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं जिनके माध्यम से शिक्षण एवं प्रशिक्षण नियंत्रित एवं उन्नत होता है। ये शैक्षिक लक्ष्यों की प्राप्ति के साधन हैं तथा अपने आप में प्रभावी वस्तुएं नहीं हैं। इनके उपयोग का ज्ञान हमारे सीखने एवं शिक्षण की स्थितियों को बहुत सीमा तक प्रभावित करता है। परंतु क्या पढ़ाया जा रहा है तथा कैसे पढ़ाया या सिखाया जा रहा है ? कक्षा में बालकों की संख्या, शिक्षा का सामाजिक संगठन, शिक्षकों का संगठन, शैक्षिक इमारत की भौतिक व्यवस्था आदि सभी अत्यंत अधिक महत्त्व के हैं। इन सभी का संबंध शैक्षिक तकनीक से है।

तकनीक से तात्पर्य कौशल वृद्धि से है। तकनीक हमारे कौशलों का विकास करता है। शिक्षा के क्षेत्र में तकनीक के उपयोग का अर्थ है शिक्षण के उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु अपेक्षाकृत कम समय लगना, व्यक्तिगत शिक्षक की शिक्षण क्षमता का विकास करना। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि शिक्षण एवं सीखने के स्तर को कम किए बिना सीखने वालों की संख्या में वृद्धि करना शिक्षा के क्षेत्र में तकनीक के उपयोग से संभव हुआ है। शिक्षा को प्रभावी

वनाने तथा कम खर्चीली वनाने का कार्य भी शैक्षिक तकनीक के उपयोग से संभव होना चाहिए। इस दृष्टि से यदि शैक्षिक तकनीक को देखा जाए तो यह न तो पाठ्यवस्तु प्रस्तुत करने का साधन है और न इन साधनों के उपयोग की वस्तुएं या यंत्र। यह तो विधियों का एक विकास है, एक प्रयोग है, एक मूल्यांकन है। स्किनर महोदय ने भी शैक्षिक तकनीक को सीखने की स्थितियों का प्रवंध करना माना है। यह एक 'सिस्टम एप्रोच' है। इसमें शिक्षक का महत्त्व तो कम नहीं होता परंतु शिक्षक शिक्षण का केंद्र विंदु न होकर वालक शिक्षण का केंद्र विंदु वनता है। आधुनिक विज्ञान ने हमें अनेक तकनीकी साधन विचारों के प्रसार हेतु उपलब्ध कराए हैं; परंतु ये यंत्र या वस्तुएं अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। ये अपने आप वैसा ज्ञान वच्चों को नहीं दे सकती हैं जैसा कि हम चाहते हैं। परंतु यदि इन यंत्रों या वस्तुओं का उपयोग हम बुद्धिमानी से कुछ विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु करें तो निश्चित रूप से हम इन उद्देश्यों की पूर्ति वृहत क्षेत्रों में भी प्रभावी ढंग से कर सकते हैं। हमारे ग्रामीण विद्यालय तथा अनेक शहरी विद्यालय भी वच्चों को जैसा ज्ञान देना चाहिए तथा जिन कौशलों का विकास करना चाहिए, नहीं कर पा रहे हैं। यदि शैक्षिक तकनीक का उपयोग करके हम वच्चों के ज्ञान की परिधि वढ़ाने का प्रयास करें, उन्हें उपयोगी ज्ञान देकर उनके मस्तिष्क का विकास करने का प्रयास करें तो निश्चय ही हमें अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिलेगी। इस दृष्टि से शैक्षिक तकनीक शिक्षण तथा सीखने को उन्नत एवं प्रभावी बनाने की विधि है। लीथ महोदय ने शैक्षिक तकनीक के अर्थ को स्पष्ट करते हुए व्यक्त किया है कि शैक्षिक तकनीक सीखने की स्थितियों संबंधी वैज्ञानिक ज्ञान का प्रयोग है जिससे शिक्षण एवं प्रशिक्षण की प्रभावोत्पादकता एवं स्तर उन्नत होते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से विकसित सिद्धांतों के अभाव में शैक्षिक तकनीक सीखने की स्थितियों को उन्नत बनाने हेतु वैज्ञानिक परीक्षण के तकनीक को काम में लाता है।

प्रोफेसर रीड महोदय का कथन है कि 'शैक्षिक तकनीक यांत्रिकी साधनों के सहित या इनके बिना शिक्षण की रीति या तकनीक से ही संवंधित नहीं है।' इसके प्रयोग या उपयोग तो व्यवस्था तथा प्रशासन के क्षेत्रों में भी होने लगे हैं। अनेक व्यक्तियों के लिए प्रोग्राम लर्निग, दृश्य श्रव्य साधन, प्रोग्राम शिक्षण सामग्री, शिक्षण मशीन आदि ही शैक्षिक तकनीक के विकास हैं परंतु यह तो इसका एक ही पक्ष हुआ। शिक्षा एक बड़ा उद्योग माना जाने लगा है तथा स्वाभाविक है कि इसकी व्यवस्था एवं संगठन में बड़े उद्योगों में अपनाई जाने वाली विधियों जैसे लागत लाभ विश्लेषण, किए गए व्यय से शिक्षित

होने वालों की संख्या एवं स्तर का अनुमान, शिक्षण प्रक्रिया संबंधी शोध आदि का उपयोग किया जाए। यह शैक्षिक तकनीक से ही संभव है। शैक्षिक तकनीक विज्ञान का शिक्षा में उपयोग है। यह अभी अपनी बाल्यावस्था में ही है तथा इसका प्रारंभ दृश्य-श्रव्य एवं अन्य शिक्षण साधनों के शिक्षण हेतु प्रभावी उपयोग से हुआ है। बोलने, लिखने, फोटोग्राफी, आवाज रिकार्ड करने तथा उसे सुनने हेतु उपयोग में लाने, फिल्म विशेषतः चलचित्र, टेलीविजन आदि के उपयोग से इसका समुचित विकास हो रहा है। प्रारंभ में तो शिक्षक द्वारा बालक के आमने-सामने रह कर शिक्षण करना आवश्यक माना जाता था। आज भी अनेक विद्वान शिक्षण की इस विधि को अधिक महत्त्व देते तथा कहते हैं कि इस विधि द्वारा दो मस्तिष्कों का मिलन होता है। इसलिए शिक्षक-बालक संपर्क अधिक महत्त्व का है। परंतु मुद्रण कला के विकास तथा बाद में शिक्षण के अन्य साधनों के विकास ने शिक्षक-बालक संपर्क के महत्त्व को कम किया तथा विज्ञान के प्रयोग से शिक्षण अब नियंत्रित, आटोमेटिक तथा पूर्व निर्धारित बना दिया गया है। अब विज्ञान के उपयोग ने शिक्षण को निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति वाला तथा निश्चित परिणाम देने वाला बना दिया है। अब पाठ्यवस्तु किसी पुस्तक, टेप-रिकार्ड, फिल्म आदि में एकत्रित एवं सुरक्षित रखी जा सकती है तथा बालक रुचि एवं आवश्यकतानुसार इसका अकेले ही उपयोग कर सकता है। फलस्वरूप अब शिक्षण-टेकनालाजी ने शिक्षण तथा सीखने के स्वरूप को बहुत परिवर्तित कर दिया है। अब तो खुले विद्यालयों तथा विश्व-विद्यालयों की चर्चा एवं उपयोग बढ़ गया है। समय एवं स्थान दोनों की दृष्टि से शिक्षण तथा सीखने की परिधि बहुत विकसित हो गई है। शैक्षिक टेकनालाजी में व्यक्तिगत सीखने तथा समूह में सीखने तथा शिक्षण करने के तकनीक के उपयोग तथा कंप्यूटरों के उपयोग से शिक्षण एवं सीखने का स्वरूप बहुत परिवर्तित हो गया है।

ग्रेसन महोदय ने अपनी शैक्षिक तकनीक संबंधी परिभाषा में निम्न बातें स्पष्ट की हैं :

(1) शैक्षिक तकनीक केवल यंत्रों का जमाव नहीं है।

(2) शैक्षिक तकनीक केवल साधन भी नहीं है।

(3) शैक्षिक तकनीक शिक्षण के लिए एक 'सिस्टम एप्रोच' है।

(4) इसमें विशेष रूप से विकसित लक्ष्य रहते हैं, निदानात्मक परीक्षण होते हैं, छात्रों की उपलब्धियों के स्तर निश्चित रहते हैं तथा जब तक लक्ष्यों की पूर्ति या प्राप्ति न हो पाठ्यक्रम की पाठ्यवस्तु के स्वरूप में परिवर्तन चलता रहता है।

(5) शैक्षिक तकनीक में साधन, यंत्र, पाठ्यवस्तु, विधियां आदि सभी

सम्मिलित हैं। इस दृष्टि से यदि शैक्षिक तकनीक को देखा जाए तब इसके उपयोग से छात्रों की उपलब्धियों का स्तर बहुत उच्च हो सकता है क्योंकि इस में एक प्रभावी तथा दृढ़ समन्वित रूप से वैज्ञानिक दृष्टि से परीक्षित सिद्धांतों एवं तकनीकों का उपयोग शैक्षिक वातावरण में किया जाता है। वास्तव में शैक्षिक तकनीक वस्तुओं से कुछ अधिक है। यह सोचने-विचारने तथा कार्य करने का विशेष ढंग है। यह एक प्रक्रिया है।

शैक्षिक तकनीक की आवश्यकता

शैक्षिक तकनीक की आवश्यकता निम्न कारणों से प्रतीत होती है :

(1) कोई भी साधन या यंत्र उसके उपयोगकर्ता की भौतिक या शारीरिक क्षमता एवं भौतिक स्थितियों के नियंत्रण का विकास करता है। अतः जितने साधन उन्नत और संपन्न होंगे उतनी ही अधिक उनकी क्षमता विकसित होगी। शैक्षिक तकनीक के संबंध में भी यही बात सत्य है। शैक्षिक तकनीक हमारे शिक्षक की शिक्षण क्षमता तथा भौतिक वातावरण तथा स्थितियों के नियंत्रण की वृद्धि करता है।

(2) साधन या यंत्र जितना ही सरल हो उसके उपयोग से उपयोग करने वालों का संपूर्ण जीवन प्रभावित होता है। जब कलम तथा कागज का आविष्कार हुआ था तब मिस्र वालों के बहीखाते रखने की विधि में बहुत परिवर्तन हुआ। घड़ी के उपयोग ने लोगों के जीवन को बहुत अधिक परिवर्तित किया है। मोटर, टेलीफोन, टेलीविजन, रेडियो आदि ने हमारे आधुनिक जीवन को बहुत अधिक प्रभावित एवं परिवर्तित किया है। इसी प्रकार शिक्षण में अनेक तकनीकी यंत्रों के उपयोग ने संपूर्ण शिक्षण तथा शिक्षक के जीवन को परिवर्तित तथा विकसित किया है। वर्तमान में शैक्षणिक गतिविधियों के सुचारु रूप से व्यवस्थित एवं संचालन हेतु अब शिक्षकों और पुस्तकों के सिवाय कुछ और आवश्यक है। यह और कुछ 'शैक्षिक तकनीक' ही है।

(3) नवीन ज्ञान, जो कि अत्यंत तीव्र गति से विकसित हो रहा है, केवल शिक्षकों के माध्यम से नहीं दिया जा सकता है। ज्ञान के विस्फोट से इस युग में सभी प्रकार के श्रव्य तथा दृश्य विचार-विनिमय के साधनों का उपयोग आवश्यक है। विशेषीकृत ज्ञान इन साधनों की सहायता से सरलता और स्पष्टता से दिया जा सकता है।

(4) वर्तमान युग विज्ञान और तकनीकी का युग है। इस युग में पर्याप्त संख्या में वैज्ञानिक एवं तकनीकी विशेषज्ञों की शिक्षा एवं विकास के लिए ऐसी शिक्षा व्यवस्था की आवश्यकता है जो शैक्षिक तकनीक पर आधारित हो या जो

शैक्षिक तकनीक का प्रभावी उपयोग करके विकसित हो रहे ज्ञान को समाज तक पहुंचाती हो।

(5) विज्ञान एवं तकनीकी विकास की कोई सीमाएं नहीं हैं। अतः यह स्वाभाविक है कि इस वैज्ञानिक-तकनीकी समाज में शिक्षण प्रक्रिया भी अपने विकास के लिए शैक्षिक तकनीक को विकसित करे। अभी तक तो शिक्षा में तकनीकी विकास बहुत कम किया गया तथा इससे एक बड़ी गहरी खाई सी निर्मित हो गई है। अब शैक्षिक तकनीक के उपयोग से इस खाई का पाटना प्रारंभ हुआ है।

(6) वर्तमान में सामान्य शिक्षा में भी अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक शिक्षा की आवश्यकता बढ़ती ही जा रही है। वास्तव में संपूर्ण समाज के अस्तित्व और व्यवस्था के लिए विज्ञान तथा तकनीक में अधिकाधिक शिक्षा की आवश्यकता प्रतीत हो रही है। यही कारण है कि अब प्राथमिक शिक्षा स्तर से ही विज्ञान और गणित पढ़ना आवश्यक हो गया है। ऐसे युग में शैक्षिक तकनीक का उपयोग करके पाठ्यक्रम, विद्यालय व्यवस्था, शिक्षण आदि को उन्नत करना आवश्यक सा हो गया है।

(7) मानवीय जीवन तथा समाज की अनेक समस्याओं के हल हेतु तकनीकी सहायता का उपयोग अधिक प्रभावी सिद्ध हुआ है। तकनीकी ज्ञान के अभाव में ये समस्याएं अभी तक हल नहीं की जा सकी थीं। तकनीकी ज्ञान के प्रयोग से इन समस्याओं के हल होने के फलस्वरूप मानव को अधिक स्वतंत्रता मिली है। शैक्षिक तकनीक ने भी शिक्षक को शिक्षण संबंधी बातों के संबंध में नवीन प्रयोग और विकास के लिए पर्याप्त स्वतंत्रता प्रदान की है। शैक्षिक तकनीक के विकास ने शिक्षण के क्षेत्र में बहुत अधिक विकास की संभावनाओं की वृद्धि की है।

(8) शिक्षण तकनीक का विकास और अधिक सबल एवं सशक्त होना आवश्यक है। वेल्स महोदय का कथन है कि मानव जाति अंत और विकास के मध्य रह रही है तथा हमारी शिक्षा ही उसे इस अंत से बचा कर विकास की ओर ले जा सकती है। यह कार्य शैक्षिक तकनीक के समुचित विकास तथा उपयोग से ही संभव हो सकेगा। स्किनर महोदय का भी यही विचार है कि पूर्ण विकसित शैक्षिक तकनीक ही हमें विनाश से बचा सकती है।

शिक्षा में शैक्षिक तकनीक के उपयोग की समस्याएं

शिक्षा में शैक्षिक तकनीक का उपयोग बढ़ता ही जा रहा है। इससे शिक्षण

तथा सीखने के स्वरूप में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है। परंतु इसके उपयोग में अनेक समस्याएं हैं जिनमें निम्न प्रमुख हैं :

(1) **धन की आवश्यकता अधिक :** शैक्षिक तकनीक का विकास तथा उसका विद्यालयों में उपयोग करने के मार्ग में सबसे बड़ी कठिनाई धन की है। इसके उपकरण खरीदने, सुधारने तथा उन्हें कार्य योग्य स्थिति में रखने में बहुत धन लगता है। भारत जैसे विकासशील राष्ट्र में जहां विद्यालयों में शिक्षा और भवन भी पर्याप्त रूप से उपलब्ध नहीं हैं, शैक्षिक तकनीक के उपयोग की व्यवस्था बहुत कठिन होगी।

(2) **योग्य प्रशिक्षित तकनीशियनों का अभाव :** भारत में शैक्षिक तकनीक के विकास हेतु यह आवश्यक है कि पर्याप्त संख्या में शैक्षिक तकनीक से संबंधित प्रशिक्षित व्यक्तियों तथा कर्मचारियों की उपलब्धि कराई जाए। हमारे यहां अभी इस दिशा में बहुत कम प्रयास किया गया है तथा देश में ऐसे प्रशिक्षण केंद्रों की बहुत कमी है। योग्य प्रशिक्षित तकनीशियनों के अभाव में शैक्षिक तकनीक का विद्यालयों में उपयोग असंभव ही है।

(3) **पर्याप्त शैक्षिक तकनीक उपकरणों का अभाव :** भारत में तो क्या विकसित देशों में भी पर्याप्त संख्या में शैक्षिक तकनीक उपकरण उपलब्ध नहीं हैं। व्यापारिक संस्थान व्यापारिक दृष्टि से इन उपकरणों के विकास एवं उत्पत्ति के संबंध में संशंकित रहते हैं। अतः बड़े-बड़े केंद्रों में प्रयोग हेतु तो उपकरण विकसित किए गए हैं परंतु जब विद्यालयों में इनका उपयोग विकसित करना है तब बहुत बड़ी संख्या में सस्ते उपकरण तैयार करना और उन्हें सुलभता से व्यापारिक दृष्टि से बेचना एक बड़ी समस्या है। अभी भी अनेक कंप्यूटर एवं शिक्षण मशीनें इतनी बड़ी तथा महंगी हैं कि वे ऐसे बड़े स्थानों में ही उपयोग में लाई जाती हैं जहां उनका समुचित उपयोग हो सकता हो। ऐसी बड़ी मशीनरी का विद्यालयों में उपयोग न तो संभव है और न इन पर रखे जाने वाले व्यय के अनुकूल इनसे लाभ विद्यालयों को मिल सकता है।

(4) **शैक्षिक तकनीक पर होने वाले व्यय का उपयोगिता से तालमेल :** किसी भी विद्यालय या शैक्षणिक संस्था में शैक्षिक तकनीक की व्यवस्था तथा विकास पर किए जाने वाले व्यय तथा उसके होने वाले लाभ का विश्लेषण करने की समस्या भी बनी हुई है। लोकतंत्र का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य शिक्षा के समान अवसरों की उपलब्धि कराना है। शैक्षिक तकनीक के विकास तथा उपयोग में बहुत अधिक व्यय होता है तथा इसका विकास बड़े शहरों के बड़े-बड़े विद्यालयों में ही हो सकता है। शहरों के विद्यालय तो ग्रामीण विद्यालयों की तुलना में अपेक्षाकृत अच्छे और उन्नत हैं। परंतु भारत गांवों का देश है तथा यहां सबसे

बड़ी आवश्यकता गांवों में सस्ती और अच्छी शिक्षा की उपलब्धि कराना है। ऐसी स्थिति में शैक्षिक तकनीक के विकास में बहुत अधिक बाधाएं हैं।

(5) **शिक्षा में शैक्षिक तकनीक की प्रभावोत्पादकता आंकना :** शैक्षिक तकनीक पर किए जाने वाले व्यय और उसके लाभ का विश्लेषण करने की समस्या के साथ-साथ इसके विकास में एक कठिन समस्या शैक्षिक तकनीक की प्रभावोत्पादकता आंकने की है। शैक्षिक तकनीक से शिक्षा के अवसर बढ़ेंगे या शिक्षा का स्तर उन्नत होगा या अधिक संख्या में बच्चे शिक्षित किए जा सकेंगे आदि अनेक बातें हैं जिनके संबंध में निश्चित रूप से निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते हैं। विद्यालय व्यय में किसी भी उपकरण की कीमत तथा उसकी प्रभावोत्पादकता का सीधा संबंध निश्चित करना अत्यंत कठिन है। तकनीक में व्यय का अर्थ है मशीनरी खरीदना तथा इसके व्यय को प्रति बालक व्यय में परिवर्तित करने में बड़ी कठिनाई है। फिर केवल मशीनरी खरीदने से ही काम नहीं चलता है। इसके उपयोग, टूट-फूट, मरम्मत आदि में भी बहुत व्यय होता है। अतः प्रति बालक व्यय में वृद्धि होती है।

(6) **शिक्षा क्षेत्र में परिवर्तनों का कठिनाई से ग्राह्य किया जाना :** शिक्षा में किसी भी परिवर्तन तथा विकास की प्रभावोत्पादकता शीघ्र स्पष्ट नहीं होती है। शिक्षा में किसी भी प्रयोग को शिक्षण अभ्यास बनने में बहुत समय लगता है क्योंकि किसी प्रयोग को प्रचलित करने के लिए यह आवश्यक है कि उपयोग करने वाले व्यक्ति उस प्रयोग को ग्रहण करें। यह बहुत कठिन है। शिक्षा में संलग्न व्यक्ति परिवर्तन को शीघ्र ही ग्रहण करने वाले नहीं होते हैं। अतः शिक्षा में शैक्षिक तकनीक के विकास में यह एक बड़ी कठिनाई है।

(7) **शैक्षिक तकनीक के उपयोग से प्रभावोत्पादकता में कोई अंतर न आना :** अनेक शोध कार्यों से यह सिद्ध हुआ है कि टेलीविजन के माध्यम से तथा व्यक्तिगत शिक्षण से बालकों की उपलब्धियों में कोई विशेष अंतर नहीं आया है। कंप्यूटरों द्वारा शिक्षण करने पर भी अनेक शोध कार्यों द्वारा भी यही प्रमाणित हुआ है। इसका परिणाम भी शैक्षिक तकनीक पर किए जाने वाले व्यय एवं उसकी प्रभावोत्पादकता विश्लेषण पर बहुत अधिक पड़ा है। यदि शैक्षिक तकनीक की प्रभावोत्पादकता संदिग्ध है तब यह सोचा जाता है कि शिक्षण के अन्य सस्ते साधनों के स्थान में इसे क्यों विकसित किया जाए।

शैक्षिक तकनीक के विकास हेतु सुझाव

शिक्षा तथा शैक्षिक सेवाओं के विकास की दृष्टि से शैक्षिक तकनीक की संभावनाएं बहुत अधिक हैं। शैक्षिक तकनीक के उपयोग के बड़े पैमाने पर

आवश्यक व्यय को कम करने तथा इसकी प्रभावोत्पादकता वृद्धि के लिए निम्न उपाय काम में लाए जा सकते हैं :

(1) शैक्षिक तकनीक का परंपरागत शिक्षण अभ्यासों का पूरक मानकर उपयोग नहीं किया जाना चाहिए। इसे शिक्षा का एक नवीन ढंग या विधि मानकर शिक्षण व्यवस्था में ऐसे परिवर्तन किए जाने चाहिए कि व्यक्तिगत शिक्षण तथा सामूहिक शिक्षण विधियां अधिक प्रभावी वनें। इस प्रकार के व्यवस्थात्मक परिवर्तनों से शैक्षिक तकनीक के उपयोग की प्रभावोत्पादकता में वहुत अधिक वृद्धि होगी।

(2) शैक्षिक तकनीक का उपयोग शिक्षण के उन क्षेत्रों में किया जाना चाहिए जो अभी तक उपेक्षित रहे हैं या जहां परंपरागत शिक्षण रीतियां असफल रही हैं। इस दृष्टि से शिक्षकों, शिक्षण साधनों तथा अन्य सुविधाओं के अभाव वाले क्षेत्रों तथा स्थानों में शैक्षिक तकनीक का उपयोग करके शिक्षा का विकास किया जा सकता है।

(3) शैक्षिक तकनीक के प्रभावी उपयोग के लिए यह आवश्यक है कि विशिष्ट लक्षणों का निर्धारण वहुत अच्छी तरह किया जाए जिससे जो कार्यक्रम व्यवस्थित हों उनका सीधा संवंध इन लक्ष्यों की प्राप्ति से हो। इस प्रकार कार्य करने से शैक्षिक तकनीक की प्रभावोत्पादकता में वृद्धि होगी।

(4) भारत में शैक्षिक तकनीक के विकास के लिए इस तकनीक से संवंधित उपकरणों के उपयोग तथा उनकी मरम्मत आदि के लिए आवश्यक योग्य व्यक्तियों के उचित प्रशिक्षण की सुविधाएं जुटाई जानी चाहिए। इनके प्रशिक्षण के लिए अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन दोनों प्रकार के पाठ्यक्रम विकसित किए जाने चाहिए।

(5) शैक्षिक तकनीक के संवंध में शिक्षा क्षेत्र में कार्य करने वाले व्यक्तियों को वहुत कम ज्ञान है। अतः स्वाभाविक है कि जव इसके उपयोग के संवंध में उनसे चर्चा की जाती है तव वे हिचकते हैं। अतः यह आवश्यक है कि शैक्षिक तकनीक के संवंध में विचारों का प्रसारण अधिक हो जिससे शिक्षक एवं अन्य व्यक्ति इस नवाचार के उपयोग से अधिक परिचित हो सकें।

(6) भारत के शिक्षण शिक्षा महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालय के शिक्षा विभागों में शैक्षिक तकनीक विभाग विकसित किए जाने चाहिए। इसके विना शैक्षिक तकनीक का उपयोग शिक्षा क्षेत्र में नहीं बढ़ सकेगा।

(7) शैक्षिक तकनीक के उपयोग में सतत फीडवेक की आवश्यकता रहेगी। अतः समुचित सतत फीडवेक व्यवस्था करना उपयोगी सिद्ध होगा।

(8) डा० शिव के० मित्रा संयुक्त संचालक, एन० सी० ई० आर० टी०,

नई दिल्ली ने 'शैक्षिक तकनीक एवं विकास' पर 27 दिसंबर, 1973 के इंडियन एसोशियेशन फार प्रोग्राम लर्निंग के 6ठे वार्षिक सम्मेलन में भाषण दिया था। इस भाषण में उन्होंने यह सुझाया है कि विद्यालय में परंपरागत शिक्षण विधि के स्थान में शैक्षिक तकनीक से संवंधित विभिन्न साधनों के उपयोग को वढ़ावा देना आवश्यक है। लोक नृत्य, पोस्ट, संगीत, विज्ञान मेला, अन्य मेला, आदि ऐसे नए साधन हैं जिनका उपयोग शिक्षण हेतु किया जाना चाहिए।

20

जनसंख्या शिक्षा

जनसंख्या शिक्षा की आवश्यकता

जनसंख्या शिक्षा भारत में ही नहीं विश्व में एक नवीन विचार है। इस विचार का प्रसार संसार के विभिन्न देशों में जनसंख्या की वृद्धि अति तीव्र गति से होने के कारण अधिक हो रहा है। भारत में जनसंख्या के तीव्र गति से विकसित होने से अनेक समस्याएं विकसित हुई हैं। वर्तमान में जनसंख्या वृद्धि या कहिए 'जनसंख्या विस्फोट' हो रहा है। इसका ज्ञान हमें जनसंख्या विकास के आंकड़ों से लगता है। 20वीं सदी के आरंभ में संसार की जनसंख्या लगभग 1 अरब 50 करोड़ थी। वर्तमान में लगभग 4 अरब व्यक्ति हैं तथा इस सदी के अंत तक यह संभावना है कि संसार की आबादी 7 अरब हो जाएगी। पिछले 20 वर्षों में ही संसार की जनसंख्या लगभग एक अरब बढ़ी है। जनसंख्या वृद्धि की इस तेज गति के कारण मकानों, स्कूलों आदि की कमी, स्वास्थ्य सेवाओं का अभाव, गरीबी, बेकारी आदि बहुत बढ़ गई है। इससे अनेक सामाजिक तथा आर्थिक समस्याएं पैदा हुई हैं। संसार के अनेक क्षेत्रों में लाखों व्यक्ति सामान्य स्तर से बहुत नीचे, गरीबी और अभाव का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। जनसंख्या वृद्धि ने लोगों की संख्या तो बढ़ाई ही है, इनकी कठिनाइयों को भी बढ़ाया है।

वैसे तो जनसंख्या पर रोक लगाना सभी देशों के लिए आवश्यक है परंतु अफ्रीका, एशिया, लेटिन अमेरिका के विकासशील देशों में जनसंख्या वृद्धि की समस्या को शीघ्र हल करना अत्यंत आवश्यक है; क्योंकि संसार की दो-तिहाई आबादी इन्हीं देशों में है तथा इन देशों में जनसंख्या वृद्धि की दर 2.4 प्रतिशत वार्षिक है। यह विकसित देशों की दर से दुगुनी है।

जनसंख्या के द्रुत गति से बढ़ने से विकास कार्यों में बड़ी रुकावट आती

है। देश में जितना विकास होता है वह जनसंख्या वृद्धि की दृष्टि से पर्याप्त नहीं होता। इससे अभाव घटने के स्थान पर बढ़ता जाता है। इससे जन-असंतोष विकसित होता है।

भारत में जनसंख्या वृद्धि की समस्या का ज्ञान हमें निम्न आंकड़ों से स्पष्ट हो जाता है। भारत में प्रत्येक डेढ़ सैकेंड में एक बच्चा जन्म लेता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रति वर्ष लगभग 210 लाख बच्चे जन्म लेते हैं। इनमें से लगभग 80 लाख की मृत्यु हो जाती है। तो भी 130 लाख बच्चे प्रति वर्ष भारत की आबादी में बढ़ते हैं। इसको दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि प्रतिवर्ष भारत में आस्ट्रेलिया महाद्वीप के बराबर आबादी बढ़ रही है या प्रति वर्ष एक बंगलादेश के बराबर आबादी बढ़ रही है या प्रति माह एक कलकत्ता शहर बढ़ रहा है। भारत में संसार की 2.4 प्रतिशत भूमि ही है परंतु यहां विश्व जनसंख्या का लगभग 14 प्रतिशत भाग रहता है। भारत में जनसंख्या वृद्धि की गति बहुत अधिक होने से बच्चों की संख्या का प्रतिशत बहुत अधिक है। हमारे यहां अभी भी कुल जनसंख्या का 42 प्रतिशत भाग 15 वर्ष की आयु से कम के बच्चों का है। यह अनुमान लगाया गया है कि जनसंख्या वृद्धि की वर्तमान दर के साथ चलने के लिए भारत को प्रतिवर्ष निम्नानुसार सुविधाओं का अतिरिक्त विकास करना आवश्यक है :

विद्यालय	126,500
शिक्षक	372,000
कपड़ा (मीटर)	18,744,000
खाद्यान्न (टन)	12,545,300
घर	2,509,000
नौकरी	4,000,000

भारत इतनी बड़ी मात्रा में विद्यालयों, घरों, कपड़े, नौकरियों, खाद्यान्नों की व्यवस्था करने की स्थिति में नहीं है। हमारे देश ने कृषि में उन्नति करके फसलों की उपज तिगुनी कर ली है, परंतु फिर भी हमारे यहां जनसंख्या वृद्धि के कारण अनाज की बहुत कमी है तथा प्रति व्यक्ति 12.8 के स्थान में 12.4 औंस प्रति दिन ही उपलब्ध होता है। विद्यालयों की संख्या में भी लगभग 300 प्रतिशत की वृद्धि हुई है परंतु फिर भी लगभग 7 करोड़ बच्चों को शिक्षा उपलब्ध नहीं कराई जा सकी है। रोजगार की स्थिति में भी कोई सुधार नहीं किया जा सका है। सन् 1965 तक लगभग 316 लाख नौकरी के स्थानों की वृद्धि की गई परंतु बेकारी जो 1951 में 35 लाख थी अब बढ़कर 1 करोड़ के लगभग हो गई है। इस प्रकार हम देखते हैं देश में जो विकास किया गया और

किया जा रहा है, वह जनसंख्या वृद्धि के कारण अपर्याप्त सिद्ध हो रहा है तथा देश के लोगों के जीवनस्तर में पर्याप्त सुधार नहीं हो रहा है। हमारी राष्ट्रीय आय सन् 1948 में 86 खरव थी। यह 1967 में 149 खरव हो गई अर्थात् लगभग 20 वर्षों में 73.25 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसी अवधि में प्रति व्यक्ति आय 248 रुपयों से वढ़कर 297 रु० प्रतिवर्ष ही हो पाई अर्थात् इसमें केवल 19.76 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई। वैसे भी भारत में प्रति व्यक्ति आय अन्य विकसित देशों की तुलना में वहुत कम है। फिर जनसंख्या वृद्धि के कारण यह सव महत्त्वहीन हो गया है।

भारत में मलेरिया, प्लेग, माता आदि वीमारियों से मृत्युदर बहुत कम हो गई है। स्वास्थ्य सेवाओं एवं कार्यक्रमों से सामान्य एवं बाल मृत्युदर भी कम हुई है। इसका अर्थ यह हुआ कि जन्म दर बढ़ने तथा मृत्युदर कम होने से देश में जनसंख्या का विकास और भी अधिक होगा।

इन सभी कारणों से यह आवश्यक है कि भारत में जनसंख्या विकास की गति को वहुत कम किया जाए। जनसंख्या की वृद्धि कम किए विना देश में विकास करने का जो लाभ समाज को मिलना चाहिए वह नहीं मिलता है। इसीलिए हमारे प्रधानमंत्री ने कहा था कि 'जव जनसंख्या वृद्धि रुकी हुई नहीं है, तव नियोजन करके विकास करना ऐसी भूमि पर इमारत बनाना है जहां लगातार वाढ़ आती हो।' अतः यह आवश्यक है कि जनसंख्या वृद्धि की गति को मंद किया जाए। इसके लिए स्वास्थ्य विभाग ने कुटुंब को सीमित करने की दृष्टि से 'परिवार नियोजन' कार्यक्रम चलाया है। परंतु समाज को जनसंख्या शिक्षा द्वारा जनसंख्या वृद्धि की हानियां वतलाने से इस समस्या की ओर उसकी सजगता बढ़ेगी। हमारे देश में बालक-वालिकाओं की संख्या वहुत अधिक है। यदि उन्हें जनसंख्या शिक्षा द्वारा जनसंख्या वृद्धि से होने वाली कठिनाइयों, हानियों आदि से परिचित कराया जाए तब वे छोटे परिवार के महत्त्व को समझेंगे तथा वड़े होने पर अपने आप परिवार नियोजन करेंगे।

जनसंख्या वृद्धि की समस्या बच्चों एवं बूढ़ों सभी के लिए महत्त्वपूर्ण है। अतः शिक्षा के विभिन्न साधनों की सहायता से जनसंख्या वृद्धि से उत्पन्न होने वाली समस्याओं और हानियों से सभी को परिचित कराया जाना आवश्यक है। अतः यह उचित होगा कि जनसंख्या शिक्षा, वालकों तथा शिक्षकों को, विशेष पाठ्यक्रम विकसित करके, रेडियो, टेलीविजन, समाचार पत्र संगोष्ठियों के द्वारा दी जाए।

यूनेस्को ने सन् 1974 को जनसंख्या वर्ष मनाकर संसार के विभिन्न राष्ट्रों का ध्यान जनसंख्या को सीमित करने की ओर आर्कषित करने का प्रयास किया

है। अगस्त, 1974 में बुखारेस्ट में विश्व जनसंख्या सम्मेलन किया गया। इसमें संसार के 159 राष्ट्रों ने भाग लिया। विश्व जनसंख्या सीमित करने हेतु प्रथम अंतर्राष्ट्रीय मार्गदर्शिका निर्धारित की गई है। योजना में 1985 तक जन्म दर घटाने का आह्वान किया गया है। गरीब राष्ट्रों को अधिकतम सहायता तथा उनके जीवनस्तर को उच्च बनाने में सहयोग देने का आश्वासन भी दिया गया है। सम्मेलन में भाग लेने वाले सदस्यों का मत है कि जनसंख्या नियंत्रण की अपेक्षा आर्थिक विकास से जीवनस्तर उच्च बनाना अधिक आवश्यक है।

जनसंख्या शिक्षा का अर्थ

जनसंख्या शिक्षा का विचार नवीन होने से अभी इसके अर्थ, स्वरूप, संरचना एवं उपयोगिता के संबंध में निश्चित विचार विकसित नहीं हुए हैं। सन् 1962 के बाद ही जनसंख्या शिक्षा के संबंध में कार्य प्रारंभ किया गया। कोलंबिया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर वेलैंड महोदय ने इस संबंध में बहुत कार्य किया तथा भारत में जनसंख्या शिक्षा के प्रसार का श्रेय इन्हीं को है। प्रोफेसर वेलैंड का विचार है कि जनसंख्या शिक्षा को विद्यालय पाठ्यक्रम में जोड़ कर बच्चों को यह ज्ञान दिया जाना उचित होगा कि परिवार नियोजन की सार्वजनिक नीति का विकास परिवार तथा राष्ट्र के लिए क्यों आवश्यक है। इसके अंतर्गत जनसंख्या विकास का देश के आर्थिक तथा सामाजिक विकास से संबंध तथा व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक परिवार के जीवनस्तर पर परिवार के आकार के प्रभाव से संबंधित बातों का ज्ञान ही दिया जाना चाहिए। प्रत्येक समाज को अपनी स्थितियों के अनुसार शिक्षण विधियों का चुनाव एवं उपयोग करना चाहिए। वर्लसन आदि विद्वान इसे 'जनसंख्या शिक्षा' के स्थान पर 'जनसंख्या जागृति' कहना उचित समझते हैं। इनका विचार है कि 'शिक्षकों तथा बच्चों में जनसंख्या के प्रति जागृति करके शिक्षा परिवर्तन का एक साधन हो सकता है।···जनसंख्या जागृति, मेरा विश्वास है, एक प्रमुख विचार है जिसे हमें शिक्षा-शास्त्री होने के नाते अन्य शिक्षा-शास्त्रियों को जनसंख्या समस्याओं के संबंध में अपने ज्ञान एवं चिंताओं को बतलाने के लिए उपयोग में लाना चाहिए।' श्रीमती अवाबाई वाडिया, अध्यक्ष, अखिल भारतीय परिवार नियोजन एसोशिएशन ने भी यह व्यक्त किया है कि आने वाली पीढ़ी को उपयुक्त एवं शैक्षणिक वातावरण में यह ज्ञान कराना आवश्यक है कि क्रमिक रूप से बढ़ती हुई जनसंख्या की हानियां क्या हैं तथा यह जीवन के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन के पक्षों को किस प्रकार प्रभावित करती है। यह केवल जीवन के भौतिक स्तर को ही नहीं वरन् संपूर्ण जीवनस्तर को गिराती है।

सन् 1970 में यूनेस्को की ओर से बैंकाक में जनसंख्या शिक्षा संगोष्ठी आयोजित की गई थी। इसमें जनसंख्या शिक्षा के निम्न तत्त्वों पर बल दिया गया :

(1) जनसंख्या शिक्षा एक शैक्षणिक कार्यक्रम है।

(2) जनसंख्या शिक्षा जनसंख्या की वृद्धि का परिवार, समाज, राष्ट्र तथा विश्व पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन है।

(3) जनसंख्या शिक्षा बच्चों में जनसंख्या वृद्धि के प्रति सजगता तथा उचित दृष्टिकोण विकसित करने के लिए दी जाती है।

(4) जनसंख्या शिक्षा बच्चों, शिक्षकों आदि के जनसंख्या वृद्धि तथा इसके देश के विकास पर पड़ने वाले प्रभाव का ज्ञान कराने हेतु व्यवस्थित की जाती है।

इन उपरोक्त तत्त्वों को ध्यान में रखकर जनसंख्या शिक्षण की निम्न परिभाषा विकसित की जा सकती है :

'जनसंख्या शिक्षा विधिवत् शिक्षा में ऐसे पाठ्यक्रम, साधनों, शैक्षिक गतिविधियों, पाठ्यवस्तु का समावेश है जो जनसंख्या वृद्धि के कारणों तथा तत्त्वों का परिवार, समाज, देश एवं विश्व पर पड़ने वाले प्रभावों का समुचित ज्ञान दे और इनके प्रति उचित दृष्टिकोण विकसित करे। व्यक्तिगत परिवार के आधार का उसके जीवनस्तर पर पड़ने वाले प्रभावों का ज्ञान भी इससे होगा।'

जनसंख्या शिक्षा के उद्देश्य

जनसंख्या शिक्षा के निम्न उद्देश्य होने चाहिए :

(1) जनसंख्या वृद्धि की गति से परिचित कराना।

(2) देश तथा विश्व की जनसंख्या वृद्धि के स्वरूप एवं उसकी संरचना का ज्ञान देना।

(3) जनसंख्या वृद्धि का हमारे परिवार, समाज, देश तथा विश्व के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करना।

(4) यह धारणा विकसित करनी कि जीवनस्तर को उन्नत करने हेतु परिवार के आकार को सीमित करना आवश्यक है।

(5) व्यवस्थित किए जा रहे जनसंख्या कार्यक्रमों एवं विकसित की जा रही जनसंख्या नीतियों का ज्ञान देना।

(6) जनसंख्या तथा परिवार सीमित करने के लिए प्रभावी साधनों के उपयोग के महत्त्व से परिचित कराना।

जनसंख्या शिक्षा संबंधी समस्याएं

जनसंख्या शिक्षा संबंधी अनेक समस्याएं हैं जिनमें निम्न प्रमुख हैं :

(1) उचित साहित्य का निर्माण

जनसंख्या शिक्षा की एक बड़ी समस्या जनसंख्या वृद्धि के पर्याप्त आंकड़ों तथा इस वृद्धि का व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र के जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों को स्पष्ट करने वाले ऐसे साहित्य का अभाव है जो जन-साधारण एवं विद्यालयीय बच्चों की समझ में सरलता से आ सके। फलस्वरूप विद्यालय स्तर पर जनसंख्या शिक्षा का प्रसार नहीं हो पा रहा है।

(2) जनसंख्या शिक्षा का संबंध परिवार नियोजन से अधिक समझना

अनेक विद्वान यह कहते हैं कि जनसंख्या शिक्षा का विद्यालय शिक्षा से क्या संबंध है ? जब बच्चे बड़े हो जाएं तथा समाज में जीवन जीने लगें तब परिवार नियोजन की बातें उन्हें बताई जाएं। आबादी क्यों बढ़ती है तथा कैसे बढ़ती है और कैसे कम की जा सकती है, ये बातें उन्हें इस आयु में कैसे समझाई जा सकती हैं ? जनसंख्या शिक्षा का सही अर्थ स्पष्ट न होने के कारण ये भ्रांतियां हैं।

(3) शिक्षकों को स्वयं अभी जनसंख्या शिक्षा का समुचित ज्ञान नहीं है

विद्यालयों में जनसंख्या शिक्षा के प्रसार में एक बड़ी बाधा शिक्षकों को इसका समुचित ज्ञान न होना है। जनसंख्या शिक्षा के संबंध में विद्वानों ने अभी बहुत कम लिखा है। अतः शिक्षकों को इस संबंध में पढ़ने को भी कम सामग्री मिलती है। समुचित ज्ञान के अभाव में शिक्षक अपने छात्रों को भी जनसंख्या संबंधी बातों का ज्ञान नहीं दे पाते हैं।

(4) जनसंख्या संबंधी शोध का अभाव

भारत में जनसंख्या संबंधी शोधकार्य अभी व्यवस्थित ही नहीं हो पाए हैं। फलस्वरूप जनसंख्या वृद्धि के प्रभावों के संबंध में समाज एवं विद्वानों में अज्ञान ही बना हुआ है। जनसंख्या वृद्धि से विकसित होने वाली समस्याओं की अधिकाधिक प्रतीति के लिए इनके संबंध में शोधकार्य व्यवस्थित किया जाना आवश्यक है।

(5) जनसंख्या शिक्षा के कार्यक्रमों के उचित मूल्यांकन की समस्या

जनसंख्या शिक्षा के जो भी कार्यक्रम देश में व्यवस्थित किए जा रहे हैं, उनका उचित मूल्यांकन किया जाना आवश्यक है। इसके अभाव में जनसंख्या शिक्षा हेतु व्यवस्थित किए जा रहे कार्यक्रम की प्रभावोत्पादकता का ज्ञान नहीं हो पाता है।

(6) जनसंख्या शिक्षा के लिए तकनीकी साधनों का उपयोग

जनसंख्या शिक्षा के लिए भाषा का माध्यम उतना प्रभावी नहीं सिद्ध हो सकता है जितने चार्ट, चित्र, फिल्म, सारिणी, आदि। इन सभी में व्यय अधिक होता है तथा इनकी सुविधाएं सभी स्थानों में उपलब्ध नहीं होती हैं। अतः इनका जैसा प्रसार होना चाहिए नहीं हो पा रहा है।

जनसंख्या शिक्षा के प्रसार हेतु सुझाव

जनसंख्या शिक्षा के प्रसार हेतु निम्न उपाय अपनाए जा सकते हैं :

(1) जनसंख्या शिक्षा का ज्ञान शिक्षकों को दिया जाना चाहिए। इस हेतु शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं तथा महाविद्यालयों में जनसंख्या शिक्षा का उचित पाठ्यक्रम विकसित किया जाना चाहिए। इस प्रकार शिक्षक अपने छात्रों को जनसंख्या शिक्षा का ज्ञान दे सकेंगे।

(2) जनसंख्या वृद्धि तथा उसके प्रभावों पर उत्तम साहित्य, चार्ट, फिल्म, सारिणियां आदि विकसित करके उनका प्रकाशन किया जाए।

(3) प्राथमिक एवं माध्यमिक स्तरों पर भी सरल भाषा में सामाजिक अध्ययन तथा समाज विज्ञान से संबंधित विषयों के अंतर्गत जनसंख्या शिक्षा से संबंधित बातों का समावेश किया जाना उपयोगी होगा।

(4) विद्यालय विकास समितियों के माध्यम से तथा विद्यालय में आयोजित विभिन्न दिवसों, वार्षिक समारोहों आदि में जनसंख्या शिक्षा संबंधी बातों का प्रसार समाज में किया जाए।

(5) समाचार पत्रों, फोल्डरों आदि के माध्यम से तथा विद्वानों के भाषणों द्वारा जनसंख्या शिक्षा का प्रसार किया जाए।

(6) जनसंख्या शिक्षा पर समाज में तथा शिक्षण संस्थाओं में संगोष्ठियों का आयोजन किया जाए।

(7) सन् 1974 जनसंख्या वर्ष के रूप में संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा मनाया

गया। इस वर्ष में जनसंख्या शिक्षा के प्रसार हेतु विभिन्न कार्यक्रम अपनाए गए।

(8) शिक्षण संस्थाओं में जनसंख्या शिक्षा कार्नर विकसित किए जाएं।

(9) परिवार नियोजन संगठनों तथा जनसंख्या शिक्षा संबंधी कार्यों में संलग्न विभिन्न संगठनों के कार्यों में समन्वय स्थापना के प्रयास करके सुसंगठित कार्यक्रम विकसित किए जाने चाहिए।

(10) जनसंख्या शिक्षा के कार्यक्रमों की प्रभावोत्पादकता का समुचित ज्ञान करने हेतु इन गतिविधियों का उचित मूल्यांकन समय-समय पर किया जाना चाहिए।

(11) जनसंख्या शिक्षा पर समुचित प्रभावी शोधकार्य व्यवस्थित किए जाएं।

भारत में जनसंख्या शिक्षा कार्यक्रमों का विकास

अखिल भारतीय परिवार नियोजन संघ द्वारा बंबई में 7 तथा 8 मार्च, 1969 को जनसंख्या शिक्षा पर युवकों के लिए प्रथम संगोष्ठी का आयोजन किया गया। इसके उपरांत एक राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन 'जनसंख्या शिक्षा' पर बंबई में 2 तथा 3 अगस्त, 1969 को किया गया जिसका उद्घाटन तात्कालिक शिक्षा तथा युवक सेवा मंत्री प्रोफेसर व्ही० के० आर० व्ही० राव ने किया था। इस संगोष्ठी की प्रमुख सिफारिश पृथक् 'जनसंख्या शिक्षा सेल' एन० सी० ई० आर० टी० में स्थापित करना था। इस पृथक् जनसंख्या शिक्षा सेल का कार्य विद्यालय स्तर के लिए जनसंख्या शिक्षा का पाठ्यक्रम विकसित करना तथा केंद्र, राज्य सरकारों एवं अन्य ऐसे संगठनों के साथ मिलकर कार्य करना है जो जनसंख्या शिक्षा का कार्य कर रहे हों। इस संगोष्ठी का प्रतिवेदन एन० सी० ई० आर० टी० द्वारा प्रकाशित किया गया तथा इसकी सिफारिश के अनुसार एक पृथक् जनसंख्या शिक्षा सेल भी गठित किया गया है।

अखिल भारतीय शिक्षक परिषद् ने जोधपुर में सन् 1969 में आयोजित बारहवें सम्मेलन में यह निश्चित किया कि जनसंख्या शिक्षा का कार्य करने वाले देश के विभिन्न संगठनों के साथ-साथ मिलकर जनसंख्या शिक्षा का कार्य आगे बढ़ाने में यथाशक्ति सहायता दी जाए। दिसंबर 1 तथा 2, 1969 में केंद्रीय स्वास्थ्य तथा शिक्षा ब्यूरो ने एक वर्कशाप जनसंख्या शिक्षा पर केंद्रीय स्वास्थ्य एवं शिक्षा मंत्रालयों तथा एन० सी० ई० आर० टी०, नई दिल्ली के सहयोग से आयोजित की। इस वर्कशाप में देश के स्वास्थ्य, परिवार नियोजन, शिक्षा, समाज शिक्षा, शिक्षक शिक्षा, दृश्य-श्रव्य सेवाओं तथा संबंधित विस्तार सेवा

विभागों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया तथा निश्चय किया कि देश में जनसंख्या शिक्षा के कार्य को बढ़ावा दिया जाना चाहिए ।

सन् 1973 में मध्य प्रदेश में पंचमढ़ी में जनसंख्या शिक्षा संबंधी साहित्य निर्माण हेतु एक राज्य स्तरीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया । इस संगोष्ठी में राज्य में जनसंख्या शिक्षा देने हेतु शिक्षकों एवं मार्गदर्शकों के उपयोग हेतु श्री फ्रंकलिन की अंगरेजी पुस्तिका का हिंदी अनुवाद किया गया । शिक्षा महाविद्यालय, देवास द्वारा जनसंख्या शिक्षा संबंधी एक पुस्तिका का प्रकाशन भी शिक्षकों के उपयोग हेतु किया गया । फरवरी, 73 में राज्य शिक्षा संस्थान द्वारा एन० सी० ई० आर० टी० के विद्वानों के मार्गदर्शन में जनसंख्या शिक्षा पर राज्य स्तरीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया । राज्य के शिक्षा मंत्री श्री अर्जुन सिंह ने इसका उद्घाटन किया तथा घोषणा की कि इस संगोष्ठी की सिफारिशों पर शासन गंभीरतापूर्वक विचार करेगा तथा राज्य के विद्यालयों में इस विषय को प्रारंभ करने हेतु पहल करेगा । सन् 1974 जून में दो दिवसीय राज्य स्तरीय जनसंख्या शिक्षा संगोष्ठी का आयोजन शासकीय शिक्षा महाविद्यालय, जबलपुर में किया गया । इसके अतिरिक्त क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय, भोपाल, माध्यमिक शिक्षा मंडल, भोपाल ने भी जनसंख्या शिक्षा संबंधी साहित्य का प्रकाशन किया ।

इसी प्रकार जनसंख्या शिक्षा संगोष्ठियों का आयोजन उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, बंगाल, महाराष्ट्र, राजस्थान, पंजाब, हरियाणा, काश्मीर, गुजरात में भी किया गया ।

21

कार्यानुभव

बालक की क्रियाशीलता के समुचित शैक्षणिक उपयोग की आवश्यकता अनेक शिक्षाविदों ने प्रतिपादित की है। भारत में सन् 1882 के हंटर आयोग ने शिक्षा की बौद्धिकता को कम करके हाथ के कार्य को अधिक महत्त्व देने तथा छात्रों की रोजगार संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से शिक्षा में कला, उद्योग, तकनीकी तथा औद्योगिक विषयों आदि का समावेश करने का सुझाव दिया था। इसके बाद 1929 में हर्टाग समिति, 1952–53 में माध्यमिक शिक्षा आयोग ने विविध पाठ्यक्रम को संगठित करने की सिफारिश की जिससे बालकों की रुचियों के अनुसार विषय रखे जा सकें। वुड तथा ऐबट प्रतिवेदन तथा सार्जेंट प्रतिवेदनों में कक्षा 10वीं तक सामान्य शिक्षा तथा उद्योग, तकनीकी तथा कृषि विद्यालयों की अलग से व्यवस्था का सुझाव दिया गया। शिक्षा आयोग ने भी इसी प्रकार की सिफारिश की। बुनियादी शिक्षा में तो उद्योग तथा जीवन के कार्यों को शिक्षा का आधार बनाया गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में शिक्षा में हाथ का कार्य, श्रम तथा उद्योग की व्यवस्था के विभिन्न प्रयास बहुत समय से किए जा रहे हैं। परंतु बुनियादी शिक्षा को छोड़कर देश में उद्योग, कला या तकनीकी शिक्षा की व्यवस्था के प्रयास अलग से संस्थाएं स्थापित करके ही किए गए हैं। उद्योग तथा कला को सामान्य शिक्षा का अंग तथा माध्यम बुनियादी शिक्षा ने बनाया। शिक्षा आयोग ने भी किसी उत्पादक कार्य की व्यवस्था शिक्षा में आवश्यक बताई तथा कार्यानुभव को शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर व्यवस्थित करने का सुझाव दिया।

कार्यानुभव का अर्थ

'कार्यानुभव' शब्द दो शब्दों के मेल से बना है (1) कार्य तथा (2) अनुभव। 'कार्य' किसी उद्देश्यपूर्ण क्रिया में लगातार शक्ति लगाना है।

"अनुभव" किसी पदार्थ या ज्ञान के प्रत्यक्ष अवलोकन से प्राप्त व्यावहारिक जानकारी है। अतः किसी उद्देश्यपूर्ण क्रिया या कर्म के द्वारा जब बालक ज्ञान या अनुभव प्राप्त करते हैं तब हम कहेंगे कि वे 'कार्यानुभव' प्राप्त कर रहे हैं। शिक्षा आयोग ने कार्यानुभव का अर्थ स्पष्ट करते हुए व्यक्त किया है कि 'कार्यानुभव विद्यालय, घर, कर्मशाला, खेत, कारखाने या किसी अन्य उत्पादक स्थिति में किया गया उत्पादक कार्य है।' शिक्षा आयोग के द्वारा व्यक्त इस परिभाषा से कार्यानुभव के संबंध में निम्न बातें स्पष्ट होती हैं :

(1) कार्यानुभव एक उत्पादक कार्य है।

(2) यह विद्यालय, घर, समाज, खेत, कारखाने, वर्कशाप कहीं भी व्यवस्थित किया जा सकता है।

शिक्षा आयोग ने यह भी अनुशंसा की है कि कार्यानुभव शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर अभिन्न अंग के रूप में व्यवस्थित किया जाना चाहिए। कार्यानुभव के संबंध में शिक्षा आयोग ने निम्न बातें और स्पष्ट की हैं :

(1) कार्यानुभव जहां तक संभव हो यथार्थ स्थितियों में व्यवस्थित किया जाए।

(2) यह विकासशील हो।

(3) इससे छात्र जीवन के सामान्य कार्य करना सीखेंगे।

(4) यह सामान्य शिक्षा का एक अभिन्न अंग होना चाहिए।

(5) इससे छात्रों की उत्पादक क्षमता तथा आर्थिक कौशल का विकास होना चाहिए।

(6) यह उत्पादक प्रक्रियाओं में छात्रों की अन्तर्दृष्टि विकसित करने वाला होना चाहिए।

(7) यह छात्रों में आत्म-विश्वास तथा आत्म-सम्मान विकसित करेगा।

(8) इसमें विद्यालय तथा विद्यालय के बाहर दोनों प्रकार के अनुभव सम्मिलित हैं।

(9) यह छात्रों में श्रम के प्रति निष्ठा का विकास करने वाला होना चाहिए।

(10) यह त्रिमुखी प्रक्रिया वाला है : (1) तकनीकी (2) स्थिति बनाए रखने वाली तथा (3) उत्पादक।

(11) यह छात्रों का कौशल वृद्धि करने वाला होना चाहिए।

(12) यह छात्रों में कार्य करने की उत्तम आदतों तथा चरित्र संबंधी वांछनीय प्रवृत्तियों का विकास करेगा।

(13) यह शिक्षा का संबंध उत्पादकता से जोड़ने वाला होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा आयोग कार्यानुभव को शिक्षा के एक ठोस तथा अभिन्न कार्यक्रम के रूप में व्यवस्थित करना चाहता है। इससे शिक्षा का संबंध उत्पादकता से जुड़ेगा तथा देश के मानवीय साधन उन्नत होंगे। इससे छात्रों को शिक्षा ग्रहण करते समय कुछ आर्थिक अर्जन करने का अनुभव भी होगा। कार्यानुभव का विचार इस यथार्थता पर आधारित है कि उत्पादन प्रक्रिया सामाजिक धन की वृद्धि का साधन है तथा इसकी शैक्षणिक प्रक्रिया बालक के व्यक्तित्व का विकास करती है। मानव जीवन के विकास के लिए उद्देश्यपूर्ण उत्पादन कार्य आवश्यक है। कार्यानुभव स्थानीय सुविधाओं तथा स्थितियों में बालकों को शारीरिक उत्पादक कार्य करने के अवसर देता है जिससे उनमें स्वतंत्र निर्णय लेने, कार्य करने आदि की क्षमताओं का विकास होता है।

कार्यानुभव की आवश्यकता

कार्यानुभव की आवश्यकता तथा उपयोगिता बतलाते हुए शिक्षा आयोग ने स्पष्ट किया है कि इससे उत्पादकता का संबंध शिक्षा से जुड़ेगा। आयोग का विचार है कि किसी भी शिक्षा में : (1) साक्षरता (2) गणित और विज्ञान (3) कार्यानुभव तथा (4) सामाजिक सेवा अनिवार्य रूप से व्यवस्थित होनी चाहिए। अभी तक की शिक्षा में प्रथम दो बातें थीं परंतु कार्यानुभव एवं सामाजिक सेवा नहीं थी। अतः राष्ट्र के सामाजिक एवं आर्थिक एकीकरण के लिए कार्यानुभव आवश्यक है।

कार्यानुभव की आवश्यकता इसलिए भी है कि शिक्षा के विधिवत् तथा औपचारिक साधनों का आपसी संबंध जोड़ा जा सके तथा छात्रों की शिक्षा के लिए इन दोनों साधनों को सहयोगी रूप में उपयोग में लाया जा सके। अभी तक हमारी शिक्षा में बौद्धिकता को अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है। हाथ के कार्य तथा श्रम की प्रतिष्ठा कम रही है। यही कारण है कि उद्योग या तकनीकी शिक्षा को 19वीं सदी तक सामान्य उदार शिक्षा से कम महत्त्व का मानते थे। फलस्वरूप छात्र समाज के कार्यों में भाग नहीं ले पाते थे और एक कृत्रिम वातावरण में शिक्षा पाते रहे हैं। कार्यानुभव उन्हें समाज के उत्पादक कार्यों में सहयोग देने के अवसर प्रदान करेगा तथा शिक्षा और कार्य के कृत्रिम भेद को मिटाने में सहायक होगा।

वर्तमान युग विज्ञान तथा तकनीकी विकास का युग है। प्राचीन काल में शिक्षा और कार्य अलग-अलग माने जाते थे। इसका कारण यह था कि उत्पादक कार्य सरल था। उसे करने के लिए किसी विधिवत शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती थी और न उन कार्यों को करने हेतु उच्च बुद्धि कौशल का

विकास आवश्यक था। उस समय हाथ का कार्य केवल समाज के निचले वर्ग के व्यक्ति ही करते थे। शिक्षा तो समाज के उच्च वर्ग के लोगों का अधिकार था तथा वे अपनी रुचियों के विकास तथा जीवन को आनंद से भरने के लिए शिक्षा लेते थे। परंतु वर्तमान में विज्ञान एवं तकनीकी विकास ने स्थितियां भिन्न कर दी हैं। आज कार्य को अच्छी तरह पूरा करने के लिए उच्च सामान्य एवं तकनीकी शिक्षा की आवश्यकता है। आज मशीनों और विजली से काम करने के लिए उच्च वौद्धिक कौशल भी आवश्यक है। विज्ञान तथा तकनीकी शोध के लिए तो और भी उच्च वौद्धिक क्षमता आवश्यक है। अव शारीरिक वल की अपेक्षा बुद्धि वल अधिक उपयोगी तथा महत्त्व का है। यही कारण है कि समाज में अव खेत में कार्य करना, कारखाने में काम करना या कोई भी उत्पादक कार्य करना हेय नहीं माना जाता है। अव शिक्षा के द्वारा समाज में उत्पादक व्यक्तियों की संख्या वृद्धि करना आवश्यक माना जाने लगा है। देश के आर्थिक विकास के लिए समाज में उत्पादक लोगों की संख्या अधिक से अधिक करने तथा इस प्रक्रिया की गति को बढ़ाने के लिए 'कार्यानुभव' आवश्यक है।

शिक्षा की वौद्धिकता को कम करने के लिए भी 'कार्यानुभव' उपयोगी एवं आवश्यक है। समाजवादी राष्ट्रों में तो संपूर्ण शिक्षा को श्रम तथा कार्यानुभव से संवंधित किया गया है। बुनियादी शिक्षा में भी महात्मा गांधी ने उत्पादक कार्य को शिक्षा का आधार तथा माध्यम बनाया था। वर्तमान में शिक्षा के वौद्धिक स्वरूप को कम करने तथा उसे उत्पादक श्रम पर आधारित करने के लिए 'कार्यानुभव' आवश्यक है। यह बालक के पूर्ण वौद्धिक तथा सैद्धांतिक शिक्षण के बोझ को कम करेगा तथा उसके ज्ञान को यथार्थ स्थितियों में देकर उपयोगी, ठोस तथा जीवन से संवंधित बनाएगा। वास्तव में कार्यानुभव सामाजिक, आर्थिक, मानवीय संवंधों एवं क्षेत्रों से संवंधित व्यावहारिक अनुभव होना चाहिए। इससे शिक्षा जीवन जीने का आधार बनेगी।

कार्यानुभव अपनी गतिशीलता तथा विकसित दृष्टिकोण के कारण आधुनिकता की गति को तीव्र करेगा। वर्तमान में यह अति आवश्यक है कि शिक्षा के द्वारा बालकों को विज्ञान एवं तकनीकी विज्ञान का समुचित उपयोग एवं उपभोग करना सिखाया जाए जिससे जीवन की सुख सुविधाओं की वृद्धि हो तथा जीवन सुविधाजनक बने। वर्तमान समाज में प्रभावी जीवन के लिए कर्म तथा विज्ञान में नवीन रुचि अति आवश्यक है। यदि यह स्थिति विकसित न हुई तो हम अन्य विकसित राष्ट्रों के साथ-साथ न चल सकेंगे।

कार्यानुभव बालक को शिक्षा के उपरांत रोजगार तथा कार्य दिलाने में अधिक सहायक सिद्ध होगा। इससे विद्यालय में उसे कार्य संवंधी प्रशिक्षण मिलेगा, रोज-

गार की ओर उसका झुकाव होगा। विज्ञान एवं उत्पादक कार्यों में उसकी अंतर्दृष्टि विकसित होगी, यथार्थ स्थितियों में आर्थिक एवं व्यापारिक अनुभव प्राप्त करने का अवसर मिलेगा, कार्य करने की उत्तम आदतों का विकास होगा तथा उद्योग या कार्य चुनने की सजगता विकसित होगी। इस प्रकार कार्यानुभव वालक को कार्य तथा रोजगार की दुनिया में ले जाने में सहायक सिद्ध होगा।

कार्यानुभव वालकों को शिक्षा लेते हुए कुछ धन कमाने का अनुभव भी प्रदान करेगा। यदि कार्यानुभव उत्तम ढंग से यथार्थ स्थितियों में व्यवस्थित किया जाए तो उससे कुछ न कुछ आर्थिक अर्जन अवश्य होगा। वालकों को यह धन कमाने का अनुभव अति सुखद एवं आनंददायी होगा। वालकों का यह धन कमाना स्वयं के लिए उपयोगी वस्तुओं के निर्माण या वेचने योग्य वस्तुओं के निर्माण के रूपों में हो सकता है। कार्य करने वाले व्यक्तियों के संपर्क तथा उनके साथ आपसी संवंधों के विकास से वालकों में कार्य के प्रति उचित दृष्टिकोण विकसित होगा। साथ ही साथ कार्य करने वालों के लिए आवश्यक अनुशासन का विकास भी कार्यानुभव करेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कार्यानुभव वालक की शिक्षा का एक प्रमुख आधार माना गया है तथा यह देश में उपयोगी उद्देश्यपूर्ण शिक्षा के विकास में सहायक सिद्ध होगा। देश का आर्थिक तथा सामाजिक विकास करने में भी यह सहायक होगा।

कार्यानुभव के उद्देश्य

कार्यानुभव व्यवस्थित करने के निम्न उद्देश्य होने चाहिए :

(1) वालकों की मानसिक एवं शारीरिक क्षमता का विकास करना।

(2) वालकों को समाज की यथार्थ स्थितियों में कार्य का अनुभव देना।

(3) वालकों में परिश्रम एवं कार्य करने की उत्तम आदतों का विकास करना।

(4) वालकों की औद्योगिक एवं व्यापारिक क्षमताओं का विकास करना।

(5) वालकों को अपने भावी रोजगार चुनाव में समर्थ होना।

(6) बालकों में घर, विद्यालय, समाज की गतिविधियों को चलाने का कौशल विकसित करना।

(7) वालकों को शिक्षा प्राप्त करते हुए धन कमाने के अनुभव देना।

(8) समाज के एकीकरण एवं आधुनिकीकरण में सहायक होना।

(9) शिक्षा की बौद्धिकता तथा सैद्धांतिकता को कम करके शिक्षा को कार्य से संबंधित करने में सहायक होना।

(10) शिक्षा में विधिवत् एवं औपचारिक साधनों के उपयोग में सहायक होना।

कार्यानुभव व्यवस्था संबंधी समस्याएं

कार्यानुभव व्यवस्था संबंधी अनेक समस्याएं हैं जिनमें निम्न प्रमुख हैं :

(1) **प्रशिक्षित शिक्षकों का अभाव :** कार्यानुभव हेतु प्रशिक्षित योग्य शिक्षकों का अभाव है। देहाती क्षेत्रों में तो कार्यानुभव को छोड़ सामान्य शिक्षक भी काम पर नहीं जाना चाहते हैं तथा जो जाते भी हैं वे यथा शीघ्र वापस आना चाहते हैं। देहाती क्षेत्रों के विद्यालय में शिक्षक लगातार बंधकर रहते भी नहीं हैं। अत: शिक्षण कार्य में बाधा उपस्थित होती है। ऐसी स्थिति में कार्यानुभव की व्यवस्था में कठिनाई हो जाती है।

(2) **शाला में कार्यानुभव कराने की स्थितियां विद्यमान न होना :** भारतीय विद्यालयों में बालकों के सिवाय और कोई सुविधाएं नहीं होती हैं। कई विद्यालय तो केवल एक ही परछी में लगते हैं। अत: वर्षा एवं गर्मी में बहुत कष्ट होता है। ऐसी स्थिति में कार्यानुभव की व्यवस्था, कच्चे तथा बने हुए सामान की सुरक्षा आदि में बड़ी कठिनाई है।

(3) **कार्यानुभव के लिए समाज की कर्मशालाएं या कार्य स्थल उपलब्ध न हो पाना :** वास्तव में कार्यानुभव की व्यवस्था यथार्थ स्थितियों में समाज के खेत, वर्कशाप या कार्य स्थलों में होने की कल्पना की गई है। अभी भारत में विद्यालय और समाज के संबंधों में इतनी घनिष्ठता नहीं आई है कि विद्यालय को समाज अपने वर्कशाप या खेत सरलता से उपलब्ध करा दे। अत: विद्यालयों में धन तथा शिक्षकों की कमी या उपकरणों के अभाव आदि के कारण कार्यानुभव हो नहीं पाता तथा समाज से भी इतनी सुविधाएं नहीं मिल पाती हैं। अत: कार्यानुभव का कार्य चलाने में कठिनाइयां हैं।

(4) **धन तथा उपकरणों का अभाव :** भारतीय विद्यालयों की वित्तीय स्थिति इतनी संकटग्रस्त है कि वे शिक्षकों के वेतन का भार बहुत कठिनाई से उठा पाते हैं। शिक्षा के उपकरणों तथा अन्य सुविधाओं का भी इनमें इसीलिए अभाव बना रहता है। कार्यानुभवे की व्यवस्था का तात्पर्य है अतिरिक्त व्यय एवं व्यवस्था। वर्तमान वित्तीय स्थितियों को देखते हुए यह अत्यंत कठिन सा ही प्रतीत होता है कि भारतीय प्राथमिक् एवं अन्य विद्यालयों में कार्यानुभव उपयुक्त रूप से व्यवस्थित हो सके।

(5) **शिक्षकों में पर्याप्त कौशल का अभाव :** प्राथमिक स्तर पर वर्तमान में जो शिक्षक कार्यशील हैं वे न तो अपने विषय का पर्याप्त ज्ञान रखते हैं और

न किसी कला या कार्य में दक्षता। वे किसी प्रकार अपना कार्य करना चाहते हैं। किसी भी योजना को उत्तम ढंग से चलाने के लिए स्थानीय स्थितियां तथा शिक्षक की कर्तव्यशीलता तथा कौशल आवश्यक होता है। इनके अभाव में कार्यानुभव या अन्य किसी भी योजना की सफलता की आशा करना उचित नहीं है।

(6) **समय विभाग चक्र में कार्यानुभव के लिए समय निर्धारण :** विद्यालय के व्यवस्थापकों, अधिपाठकों तथा प्राचार्यों के सामने यह समस्या है कि कार्यानुभव के लिए कितना समय निर्धारित किया जाए। क्या इसके लिए प्रति एक पीरियड रखकर काम चलाया जाए या सप्ताह में एक या दो पूरे दिन कार्यानुभव कराया जाए। यदि बालकों को खेतों, कारखानों या शहर के किसी वर्कशाप में काम करना है तब प्रतिदिन एक घंटा कार्यानुभव कराना कठिन है क्योंकि बालकों के आने जाने में ही पूर्ण समय व्यय हो जाएगा। यदि पूरे दिन काम कराना है तब शिक्षकों की व्यवस्था की कठिनाई उपस्थित होती है।

(7) **कार्यानुभव का स्तर निर्धारण :** कार्यानुभव में बालक कार्य करेंगे परंतु इस कार्य का स्तर क्या होगा ? इसमें शिक्षक तो केवल कार्य कराने वाले होंगे। कार्यानुभव के कार्य का स्तर तो अर्थशास्त्री निश्चित करें। परंतु अर्थशास्त्री भी शैक्षिक दृष्टिकोण से स्तर निर्धारण नहीं कर सकेंगे।

(8) **विद्यालय कार्य का कार्यानुभव से संबंध जोड़ना :** कार्यानुभव का अधिक से अधिक लाभ उठाने के लिए यह आवश्यक है कि इसका संबंध शिक्षा के अन्य विषयों से जोड़ा जाए। परंतु वर्तमान पाठ्यक्रम में पर्याप्त लचीलापन न होने के कारण यह संभव नहीं है। अतः कार्यानुभव को अन्य विषयों से एक अलग विषय या क्रिया मान कर पढ़ाने से विशेष लाभ नहीं होगा।

(9) **कार्यानुभव के पारिश्रमिक देने की व्यवस्था :** कार्यानुभव यदि खेतों, कारखानों या वर्कशाप की यथार्थ स्थितियों में व्यवस्थित किया जाता है तथा ऐसा होना भी चाहिए तब क्या बालकों को कार्य करने का उचित पारिश्रमिक नहीं दिया जाना चाहिए ? यह पारिश्रमिक किस आधार पर निश्चित किया जाए ? क्या खेत, कारखाने या वर्कशाप के व्यवस्थापक इस प्रकार पारिश्रमिक देने को तैयार होंगे ? क्या बालकों द्वारा किए जाने वाले कार्य से ऐसा माल बनेगा जो बाजार में बिके तथा उससे अच्छी आमदनी हो ? ये सभी समस्याएं विद्यालयों के समक्ष रहेंगी।

(10) **मजदूर कानून में परिवर्तन करना :** यदि छोटे-छोटे बच्चों को खेतों, कारखानों आदि में काम करना है तब मजदूर कानून में आवश्यक परिवर्तन भी करना होगा जिससे इन स्थानों में कार्यानुभव हेतु छोटे-छोटे बच्चों

को लगाया जा सके। अभी तो छोटे बच्चों को कारखानों आदि में कार्य करना वर्जित है।

कार्यानुभव की व्यवस्था हेतु सुझाव

विद्यालय बालकों के लिए कार्यानुभव की समुचित व्यवस्था हेतु निम्न उपाय अपनाए जाना उपयोगी होगा :

(1) शिक्षक-शिक्षा संस्थाओं तथा महाविद्यालयों में शिक्षकों को कार्यानुभव का अनिवार्य रूप से प्रशिक्षण दिया जाए। इससे सभी शिक्षकों को इसका प्रशिक्षण मिलेगा। जो शिक्षक विद्यालयों में अभी कार्यरत हैं उन्हें अंशकालीन प्रशिक्षण की व्यवस्था करके कार्यानुभव संबंधी आवश्यक प्रशिक्षण दिया जाए।

(2) विद्यालयों में कार्यानुभव की स्थितियों तथा सुविधाओं के विकास हेतु पंजाब, राजस्थान, गुजरात राज्यों में अपनाई गई विधियों को अपनाने के प्रयास किए जाएं। पंजाब में भूतपूर्व वाइस एयर मार्शल हरजिंदर सिंह के द्वारा विकसित योजना विद्यालयों में चलाई गई है। इस योजना को 'एवीएम' योजना कहते हैं। इस योजना में छठी कक्षा में पढ़ाई का काम, सातवीं में धातु का काम तथा आठवीं में इलेक्ट्रानिक का कार्य सिखाया जाता है। विद्यालयों में प्रयोगकक्ष निर्माण हेतु 1500 रु०, प्रत्येक कार्य के लिए उपकरण हेतु 2000 रु० तथा कच्चे माल आदि के लिए 2000 रु० दिए जाते हैं। यह योजना 1964 में आरंभ हुई तथा अच्छी चल रही है। अब महंगाई अधिक हो जाने से शायद व्यय और अधिक लगेगा।

राजस्थान तथा गुजरात में 'कमाओ और सीखो' योजना को कार्यान्वित किया गया है। इसमें ऐसा सामान कार्यानुभव द्वारा बनाते हैं जो बाजार में बिक जाता है। इस प्रकार कार्यानुभव से बालकों को आमदनी होती है तथा विद्यालयों पर कार्यानुभव व्यवस्था के कारण वित्तीय भार नहीं पड़ता है।

केंद्रीय विद्यालयों में भी लगभग 20 क्रियाओं को कार्यानुभव में व्यवस्थित करने का प्रावधान पाठ्यक्रम में किया गया है। आसाम में सहकारी समितियों के निर्माण को कार्यानुभव में लिया गया है तथा सामान्य शिक्षा में कार्यानुभव अनिवार्य कर दिया गया है। इसी प्रकार की योजनाओं को अपना कर विद्यालयों में कार्यानुभव की व्यवस्था की स्थितियों का विकास किया जा सकता है।

(3) राज्य सरकारों को ऐसे नियम या कानून बनाने चाहिए कि जिससे कारखानों, खेतों के मालिकों को विद्यालय बालकों को कार्यानुभव संबंधी कार्यों को इनमें संलग्न कराना या इनकी गतिविधियों की व्यवस्था की सुविधाएं देना

अनिवार्य हो। साथ ही मजदूर कानूनों में भी आवश्यक परिवर्तन करके छोटे वच्चों को कार्यानुभव कार्य करने की सुविधाएं देना चाहिए।

परंतु इसमें प्रश्न यह है कि वच्चों के द्वारा जो तोड़फोड़ कारखानों में होगी या खेतों में जो काम विगड़ेगा उसकी भरपाई कौन करेगा। ऐसा हमेशा तो नहीं होगा। यदि कार्य व्यवस्थित है तव तो कठिनाई अधिक नहीं होगी परंतु फिर भी जव तक कारखानों और खेतों के व्यवस्थापकों को यह गारंटी न मिले इनमें कार्य व्यवस्था में कठिनाई आएगी।

(4) खेतों या कारखानों की यथार्थ स्थितियों में कार्यानुभव कराने के लिए समय-विभाग चक्र को लचीला वनाना आवश्यक है तथा आवश्यकतानुसार कार्यानुभव के समय को कम या अधिक करने की सुविधाएं शिक्षकों को होनी चाहिए। अच्छा तो यह हो कि वालक एक पूरे दिन कार्यानुभव करें या दोपहर के वाद का समय दो दिन इसके लिए रखा जाए।

(5) कार्यानुभव के कार्य का स्तर तो अच्छा होना ही चाहिए। इस हेतु उत्तम स्तर तथा उत्पादकता दो वातों पर अवश्य ध्यान दिया जाना चाहिए। परंतु उत्पादकता पर अधिक ध्यान देने का अर्थ यह नहीं है कि वच्चों से मजदूरों जैसा काम करवाया जाए। कार्यानुभव की क्रियाओं को ग्रेडेड वनाया जाए जिससे वालक क्रम से क्रियाएं सीखें तथा करें। इसमें कार्य अच्छा होगा।

(6) पाठ्यक्रम में आवश्यक लचीलापन लाकर तथा इसका पुनर्गठन करके इस वात के प्रयास किए जाएं कि कार्यानुभव से पढ़ाए जाने वाले अन्य विषयों का संवंध जोड़ा जा सके। कार्यानुभव को अलग से एक विषय या क्रिया के रूप में व्यवस्थित करना उचित न होगा।

(7) कार्यानुभव से वनने वाली वस्तुओं की विक्री से जो आमदनी होती है, उसमें छात्रों के परिश्रम का कुछ न कुछ भाग अवश्य रहना चाहिए।

(8) कार्यानुभव का उत्तरदायित्व सामान्य शिक्षकों का ही हो। विशेष रूप से कार्यानुभव शिक्षकों की नियुक्ति में वहुत व्यय होगा तथा सभी वच्चों के लिए कार्यानुभव व्यवस्था में कठिनाई आएगी।

(9) विद्यालय में कार्यानुभव व्यवस्था हेतु आवश्यक अनुदान दिया जाए। इस हेतु 25 प्रतिशत व्यय विद्यालय करे तथा 75 प्रतिशत व्यय शासन दे।

(10) विद्यालयों के आसपास स्थित तकनीकी विद्यालयों, पालीटेकनिक संस्था या इंजीनियरिंग तथा कृषि महाविद्यालयों के उपकरण विद्यालयों को आवश्यकतानुसार उपलब्ध हों, इस हेतु पहल की जाए।

(11) सड़क, गृह-निर्माण, कृषि, पशुपालन, सहकारी तथा उद्योग विभागों

की आवश्यक सहायता कार्यानुभव व्यवस्था हेतु ली जानी चाहिए। इसके लिए इन विभागों को आवश्यक निर्देश दिए जाएं।

(12) कार्यानुभव को पहले कुछ उत्तम एवं संपन्न विद्यालयों में व्यवस्थित किया जाए तथा अनुभव के आधार पर इसे अन्य विद्यालयों में विकसित किया जाए।

(13) कार्यानुभव व्यवस्था तथा गतिविधियों का समय-समय पर मूल्यांकन करना अति आवश्यक है। इस हेतु उचित संगठन विकसित किया जाए।

22

भाषा की समस्या

भारत में भाषा की समस्या अत्यंत कठिन है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इसके तत्काल हल न किए जाने पर कोई हानि होगी परंतु इसके उचित रूप से हल न होने पर परिणाम अत्यंत घातक सिद्ध हो सकते हैं। भाषा की समस्या के उचित हल पर राष्ट्र के लोगों का विकास निर्भर है। अतः भारत में भाषा की समस्या के उचित तथा शीघ्र हल की आवश्यकता है। राष्ट्रीय एकीकरण की दृष्टि से भी यह आवश्यक है। भारत में भाषा समस्या के हल से वैज्ञानिक तथा तकनीकी ज्ञान सरलता से जनता तक पहुंचाया जा सकेगा जिससे इस प्रकार के ज्ञान का समुचित प्रसार तो होगा ही देश की औद्योगिक प्रगति भी होगी। देश में शैक्षिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक कारणों से भी इस समस्या का हल आवश्यक है।

भारत में भाषा की समस्या से संबंधित निम्न बातें प्रमुख तथा महत्त्वपूर्ण हैं :

(1) शिक्षा का माध्यम
(2) क्षेत्रीय भाषाओं की स्थिति
(3) राष्ट्रभाषा
(4) बालकों द्वारा अध्ययन की जा रही भाषाओं की संख्या
(5) शास्त्रीय भाषाओं की स्थिति।

भाषा-समस्या के हल हेतु किए गए प्रयास

भारत में भाषा संबंधी समस्याओं पर विचार करने के पूर्व यह उचित होगा कि भाषा समस्या के लिए किए गए प्रयासों के इतिहास पर थोड़ा विचार कर लिया जाए। यहां यह कहना भी उचित ही होगा कि भारत में भाषा समस्या अंगरेजों की 19वीं सदी की देन है। सन् 1835–36 में लार्ड मैकाले

की भाषाओं के अध्ययन तथा शिक्षा संबंधी सिफारिशों ने भाषा समस्या का प्रारंभ किया। लार्ड मैकाले ने कंपनी के एक लाख रुपयों के व्यय से संबंधित विवाद के हल हेतु निम्न सुझाव दिए :

(1) विज्ञान का ज्ञान अंगरेजी के माध्यम से ही दिया जा सकता है।

(2) भारतीय लोग भी अंगरेजी पढ़ना चाहते हैं।

(3) भारत में देशी भाषाओं या संस्कृत, फारसी आदि में उपलब्ध साहित्य नगण्य है।

अतः अंगरेजी के माध्यम से भारत के लोगों को शिक्षित किया जाए। राजा राममोहन राय आदि विद्वानों ने अंगरेजी के अध्ययन को उपयोगी समझा तथा लार्ड मैकाले की नीति का समर्थन किया। लार्ड विलियम वैंटिंग ने अंगरेजी को शिक्षा का माध्यम घोषित किया। अंगरेजी के माध्यम से शिक्षा की नीति को लार्ड हार्डिंग्ज की अंगरेजी जानने वालों को नौकरी देने की नीति ने बहुत प्रोत्साहित किया। तभी से अंगरेजी तथा अंगरेजी के माध्यम से शिक्षा प्रोत्साहित होती रही तथा स्वतंत्रता प्राप्ति तक प्रायः स्थिति वैसी ही रही। परंतु सन् 1905 के बाद भारत में राष्ट्रीयता की लहर आई तथा महात्मा गांधी ने मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने पर बड़ा बल दिया। उनका कथन था कि 'मातृभाषा मनुष्य के मानसिक विकास के लिए उतनी ही आवश्यक है, जितना बालक के शारीरिक विकास के लिए मां का दूध।' गांधी जी अंगरेजी अध्ययन को 'दासता एवं पतन का प्रतीक' मानते थे। सन् 1917 में कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग ने इंटर तक भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने की सिफारिश की। राष्ट्रीय आंदोलन तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग की सिफारिशों के कारण 1937 तक भारत में माध्यमिक स्तर पर शिक्षा का माध्यम देशी भाषाएं बनने लगीं परंतु विश्वविद्यालय स्तर पर अंगरेजी ही रही। सन् 1944 में सार्जेंट रिपोर्ट में माध्यमिक शिक्षा का माध्यम प्रांतीय या क्षेत्रीय भाषा बनाया गया तथा अंगरेजी को द्वितीय भाषा के रूप में पढ़ाने की सिफारिश की गई।

राधाकृष्णन् शिक्षा आयोग की सिफारिशें

सन् 1948 में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने यह व्यक्त किया कि भाषा तथा शिक्षा के माध्यम का प्रश्न अत्यंत विवादास्पद है। विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने, जिसे सामान्यतः राधाकृष्णन् आयोग के नाम से जाना जाता है, शिक्षा के माध्यम एवं भाषा अध्ययन के संबंध में निम्न सिफारिशें कीं :

(1) उच्च शिक्षा स्तर पर अंगरेजी के स्थान पर किसी भारतीय भाषा का प्रयोग प्रारंभ किया जाए।

(2) देवनागरी लिपि में एक संघीय भाषा का विकास किया जाए तथा इसे समृद्ध बनाने हेतु अन्य स्रोतों से आए हुए शब्दों को शामिल किया जाए।

(3) उच्च माध्यमिक स्तर तथा विश्वविद्यालय स्तर पर तीन भाषाओं का अध्ययन कराया जाए। (1) प्रादेशिक भाषा, (2) संघीय भाषा तथा (3) अंगरेजी।

(4) संघीय एवं प्रादेशिक भाषाओं के विकास के सभी प्रयत्न किए जाएं।

(5) राज्य सरकारें संघीय भाषा की शिक्षा की व्यवस्था शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर करें।

(6) नवीन ज्ञान की प्राप्ति तथा संपर्क हेतु अंगरेजी भाषा का अध्ययन छात्रों को कराया जाए।

(7) उच्च शिक्षा स्तर पर कुछ विषयों का ज्ञान संघीय भाषा के माध्यम से भी देने के प्रयोग किए जाएं।

राधाकृष्णन् शिक्षा आयोग की सिफारिशों से यह बात स्पष्ट होती है कि आयोग ने व्यावहारिक सुझाव दिए तथा आयोग ने अपेक्षा की कि छात्र संघीय भाषा का अध्ययन अनिवार्य रूप से करें जिससे शासन का कार्य सरल हो तथा राष्ट्रीय एकता के विकास में सहायता मिले। अंगरेजी भाषा का अध्ययन नवीन ज्ञान की प्राप्ति तथा संपर्क की दृष्टि से आवश्यक है। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रवेश में भी इससे सहायता मिलती है।

माध्यमिक शिक्षा आयोग 1952–53 की सिफारिशें

माध्यमिक शिक्षा आयोग ने भाषा समस्या के हल हेतु द्वि-भाषा अध्ययन का सुझाव दिया। इसके सुझाव निम्नानुसार हैं:

(1) माध्यमिक स्तर पर शिक्षा का माध्यम मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा हो। परंतु बालकों की मातृभाषा क्षेत्रीय भाषा से भिन्न होने तथा इस भाषा के 40 छात्र होने पर छात्रों को मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा दी जाए।

(2) मिडिल विद्यालय स्तर तक प्रत्येक बालक को कम से कम दो भाषाओं का अध्ययन कराया जाए। अंगरेजी तथा हिंदी की शिक्षा जूनियर वेसिक स्तर के वाद दी जाए परंतु दोनों भाषाओं का अध्ययन एक साथ न हो।

(3) उच्चतर माध्यमिक स्तर पर प्रत्येक छात्र कम से कम दो भाषाओं का अध्ययन करे। इसमें से एक भाषा बालक की प्रादेशिक भाषा हो तथा दूसरी निम्न भाषाओं में से एक हो:

(अ) हिंदी (अहिंदी भाषा भाषी राज्यों में)

(ब) प्राथमिक अंगरेजी (जिन्होंने पूर्व माध्यमिक स्तर पर अंगरेजी का अध्ययन न किया हो)

(स) उच्च अंगरेजी (पूर्व-माध्यमिक स्तर पर अंगरेजी अध्ययन करने वालों को)

(ड) एक आधुनिक भारतीय भाषा (हिंदी के अतिरिक्त)

(इ) एक आधुनिक विदेशी भाषा (अंगरेजी के अतिरिक्त)

(उ) एक शास्त्रीय भाषा ।

माध्यमिक शिक्षा आयोग के सुझाव व्यावहारिक प्रतीत नहीं होते हैं । 40 बालक होने पर इन बालकों की मातृभाषा में शिक्षा सुविधाएं देने का सुझाव अल्पसंख्यकों के अधिकारों की सुरक्षा की दृष्टि से ठीक था परंतु व्यावहारिक दृष्टि से इसका पालन बड़ा महंगा तथा कठिन था । इसी प्रकार दो भाषाओं के अध्ययन का सूत्र भी अनुपयुक्त था । इसमें अहिंदी भाषी बालकों को किसी एक महत्त्वपूर्ण भाषा के अध्ययन से वंचित रहना पड़ता था । अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त यदि वह अंगरेजी लेता है तो वह संघीय भाषा के अध्ययन से वंचित रहता है जिससे वह संघीय सेवाओं की परीक्षाओं तथा राष्ट्रीय कार्यों में भाग नहीं ले पाएगा ।

केंद्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् (1956)

23वीं बैठक में केंद्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् ने तीन भाषाओं के अध्ययन का सुझाव दिया जो निम्नानुसार है :

(1) प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तरों पर शिक्षा का माध्यम मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा ।

(2) निम्न तीन वर्गों में से प्रत्येक वर्ग से किसी एक भाषा का अध्ययन :

वर्ग 1 (अ) मातृभाषा तथा क्षेत्रीय भाषा का संश्लिष्ट पाठ्यक्रम तथा

(ब) मातृभाषा तथा शास्त्रीय भाषा का पाठ्यक्रम तथा

(स) क्षेत्रीय भाषा तथा शास्त्रीय भाषा का संश्लिष्ट पाठ्यक्रम

वर्ग 2 (अ) अंगरेजी भाषा, तथा

(ब) अन्य कोई आधुनिक यूरोपीय भाषा ।

वर्ग 3 (अ) हिंदी (अहिंदी भाषी क्षेत्रों के लिए) तथा

(ब) अन्य कोई आधुनिक भारतीय भाषा (हिंदी भाषी छात्रों के लिए)

इस त्रिभाषा सूत्र से द्विभाषा सूत्र की कमी को दूर किया गया । इस सूत्र

ने अहिंदी भाषी बालकों की कठिनाई को दूर किया तथा अब वे अपनी मातृ-भाषा या क्षेत्रीय भाषा के साथ-साथ संघीय भाषा और अंगरेजी का अध्ययन कर सकते थे। परंतु इस त्रिभाषी सूत्र में अनेक दोष हैं जो निम्नानुसार हैं :

(1) अधिकांश छात्रों के लिए अंगरेजी का अध्ययन व्यर्थ।

(2) हिंदी भाषा भाषी क्षेत्रों में यह समस्या रही कि भारत की 14 भाषाओं में से किसका अध्ययन किया जाए।

(3) अहिंदी भाषाओं के शिक्षकों का अभाव तथा शिक्षा व्यय की वृद्धि।

(4) एक ही विद्यालय में अनेक अन्य भारतीय भाषाओं के अध्ययन में धन तथा शिक्षकों की व्यवस्था में कठिनाई।

(5) अनेक भाषाओं के अध्ययन में अधिक समय लगने से शिक्षा स्तर में गिरावट।

(6) विद्यालय को समय-विभाग-चक्र बनाने में कठिनाई। छात्रों का भी अध्ययन भार अधिक।

(7) अहिंदी भाषी राज्य के लोगों का कहना है कि हिंदी का अध्ययन उन पर जबरदस्ती थोपा जा रहा है। इससे घृणा का विकास हुआ।

भावात्मक एकता समिति (1961)

भावात्मक एकता स्थापना हेतु सन् 1961 में डा० संपूर्णानंद की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया। इस समिति का कथन था कि भाषा विवाद को अधिक उग्र न बनाया जाए। इसने भी त्रिभाषा सूत्र का सुझाव दिया। इस संबंध में इसके सुझाव निम्न हैं :

(1) हिंदी तथा अंगरेजी दोनों का अध्ययन अनिवार्य रूप से कराया जाए।

(2) हिंदी भाषी राज्य के व्यक्ति दक्षिण भारत की भाषा सीखें।

(3) क्षेत्रीय भाषाओं को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाया जाए।

(4) क्षेत्रीय भाषाओं के सबल होने तक विश्वविद्यालय स्तर पर अंगरेजी ही शिक्षा का माध्यम रहे।

(5) अंतर-प्रादेशिक तथा अंतर विश्वविद्यालय संबंधों के विकास हेतु अंगरेजी और हिंदी दोनों के पढ़ाने की ओर ध्यान दिया जाए।

इस समिति के सुझाव व्यावहारिक नहीं थे। रोमन लिपि में हिंदी की पुस्तकें प्रकाशित कराने से लाभ नहीं होगा जब कि दक्षिण क्षेत्र के व्यक्ति हिंदी का अध्ययन करेंगे। इसी प्रकार दक्षिणी भाषाओं का अध्ययन उत्तरीय क्षेत्रों में कराने का कोई लाभ नहीं है।

राष्ट्रीय एकता परिषद्

श्रीमती इंदिरा गांधी की अध्यक्षता में राष्ट्रीय एकता परिषद् का गठन हुआ। इस परिषद् ने भी त्रिभाषा सूत्र को अपनाने की सिफारिश की तथा व्यक्त किया कि राष्ट्रीय एकता विकास हेतु राष्ट्रभाषा अधिक सहयोग दे सकती हैं। इसने यह भी सिफारिश की कि हिंदी ही संपर्क भाषा है तथा सभी प्रदेशों में इसे अनिवार्य रूप से पढ़ाया जाना चाहिए।

शिक्षा आयोग 1964-66

शिक्षा आयोग ने, जिसे कोठारी आयोग कहते हैं, त्रिभाषा सूत्र को मान्यता देते हुए भाषा समस्या के हल हेतु निम्न निर्देशक सिद्धांत निश्चित किए :—

(1) संघीय भाषा होने के कारण हिंदी को मातृभाषा के बाद द्वितीय महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाए।

(2) अंगरेजी का व्यावहारिक ज्ञान छात्रों को उपयोगी होगा।

(3) भाषा में प्रवीणता शिक्षक तथा सीखने की अवधि पर निर्भर रहती है।

(4) तीन भाषाएं सीखने के लिए निम्न माध्यमिक स्तर उपयुक्त है।

(5) दो अतिरिक्त भाषाएं पढ़ाई जाएं।

(6) हिंदी या अंगरेजी उस समय पढ़ाई जाए जब उसकी आवश्यकता या प्रेरणा सबसे अधिक हो।

(7) किसी भी स्तर पर 4 भाषाओं का अध्यंयन अनिवार्य न हो।

इन निर्देशक सिद्धांतों के आधार पर त्रिभाषा सूत्र को निम्नानुसार लागू किया जाए :—

(1) मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा,

(2) संघीय शासन की भाषा या सह-भाषा (जब तक चले), तथा

(3) कोई एक आधुनिक भारतीय भाषा या यूरोपीय भाषा जो पहले तथा दूसरे में न आई हो तथा शिक्षा के माध्यम के अतिरिक्त हो।

इस प्रकार त्रि-भाषा सूत्र निम्नानुसार लागू किया जाए :—

(1) निम्न प्राथमिक स्तर पर एक भाषा का अध्ययन मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा।

(2) उच्च प्राथमिक स्तर पर दो भाषाओं का अध्ययन (अ) मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा तथा (ब) केंद्र के शासन की भाषा या सहभाषा।

(3) निम्न माध्यमिक स्तर पर तीन भाषाओं का अध्ययन (अ) मातृ-

भाषा या क्षेत्रीय भाषा (व) केंद्र के शासन की भाषा या सहभाषा जो उच्च प्राथमिक स्तर पर न ली हो तथा (स) एक आधुनिक भारतीय भाषा।

(4) उच्च माध्यमिक स्तर पर दो भाषाओं का अध्ययन अनिवार्य हो।

(5) अंगरेजी भाषा के अतिरिक्त आधुनिक ग्रंथालय भाषाओं का अध्ययन कुछ चुने हुए विद्यालयों में कराया जाए। रशियन भाषा के अध्ययन की ओर विशेष ध्यान दिया जाए।

(6) उच्च शिक्षा स्तर पर भाषा का अध्ययन अनिवार्य न हो।

(7) पांचवीं कक्षा के पूर्व अंगरेजी प्रारंभ न की जाए।

(8) संस्कृत, अरवी, फारसी आदि का अध्ययन कक्षा आठवीं से विकल्प भाषा के रूप में कराया जाए।

(9) सभी भारतीय भाषाओं में अंतर्राष्ट्रीय अंक अपनाए जाएं। आधुनिक भारतीय भाषाओं का साहित्य देवनागरी तथा रोमन लिपि में प्रकाशित कराया जाए।

(10) हिंदी का अध्ययन अनिच्छुक व्यक्तियों पर न थोपा जाए। हिंदी के प्रचार हेतु राष्ट्रीय स्तर पर कार्यक्रम वनाया जाए।

कोठारी शिक्षा आयोग के सुझाव व्यावहारिक हैं तथा इनके द्वारा भाषा समस्या के विभिन्न पक्षों जैसे शिक्षा का माध्यम, क्षेत्रीय भाषा के स्थान, सह-भाषा का स्थान, अध्ययन की जाने वाली भाषाओं की संख्या, शास्त्रीय भाषाओं का स्थान आदि के संबंध में निश्चित तथा ठोस सुझाव दिए गए। कोठारी आयोग का कथन है कि 'भारतीय भाषा के विकास का प्रश्न शिक्षा में विशेषतः विश्वविद्यालय स्तर पर उसे दिए गए स्थान से घनिष्ट रूप से संबंधित है। शिक्षा का माध्यम ऐसा होना चाहिए जो वालकों को सरलता से ज्ञान दे सके, स्पष्टता से अभिव्यक्ति हो सके तथा सोचना विचारना चुस्ती से तथा सशक्त हो। इस दृष्टि से मातृभाषा का स्थान सर्वोपरि है।' इसी कारण कोठारी शिक्षा आयोग ने मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा को प्रथम स्थान दिया है। केंद्र के शासन की भाषा तथा सह-भाषा को द्वितीय स्थान, भारतीय अन्य भाषाओं को तृतीय स्थान तथा शास्त्रीय भाषाओं को चतुर्थ स्थान दिया गया है। शिक्षा के सभी स्तरों पर क्षेत्रीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम रखते हुए कोठारी आयोग ने यह स्पष्ट किया है कि 'वे देश के सामान्य विकास की दृष्टि से क्षेत्रीय भाषाओं के विकास को महत्त्वपूर्ण मानते हैं तथा यह शिक्षा के स्तर को उच्च वनाने का एक महत्त्वपूर्ण कदम है।' परंतु क्षेत्रीय भाषाओं के विकास का अर्थ अंगरेजी को वंद करना नहीं है। अंगरेजी का संसार की महत्त्वपूर्ण भाषा के रूप में सभी को अध्ययन करना आवश्यक रहे। इतना ही नहीं आयोग ने संसार की

अन्य विदेशी भाषाओं विशेषतः रशियन भाषा के अध्ययन को भी उपयोगी समझा है। इससे विज्ञान तथा तकनीकी ज्ञान के विकास में सहायता होगी। इस दृष्टि से आयोग ने सुझाव दिया कि अंगरेजी के सिवाय एक विदेशी भाषा विशेषतः रशियन भाषा का अध्ययन डाक्टर डिग्री या किन्हीं विशेष विषयों में स्नातकोत्तर डिग्री के लिए आवश्यक रहे। इससे उच्च शिक्षा का स्तर ऊंचा होगा तथा अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव तथा विचार-विनिमय की वृद्धि होगी। राष्ट्र के शासन की भाषा हिंदी का अध्ययन अंतरराज्य विचार-विनिमय का आधार होगा। साथ ही भारतीय आधुनिक विभिन्न भाषाओं के अध्ययन से भी आपसी सद्भाव तथा विचार-विनिमय की वृद्धि होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कोठारी शिक्षा आयोग ने त्रिभाषा सूत्र के पुनर्गठन के द्वारा भाषा की समस्या के हल के प्रयास किए। इसके द्वारा शिक्षा के माध्यम, भाषाओं के स्थान तथा संख्या आदि सभी समस्याओं पर निश्चयात्मक ढंग से सुझाव दिए गए। परंतु फिर भी उत्तर भाषा भाषी क्षेत्रों का कथन है कि उन पर इस सूत्र के द्वारा 3 या 6 वर्ष तक अंगरेजी पढ़ना जबरदस्ती लादा गया तथा दक्षिण भाषा-भाषियों का कथन है कि उनको इस सूत्र के द्वारा 3 या 6 वर्ष तक हिंदी पढ़ना अनिवार्य सा किया गया है। साथ ही क्लासिकल भाषाओं की स्थिति को चतुर्थ रखकर इनकी उपेक्षा की गई है क्योंकि ये भाषाएं आधुनिक भारतीय भाषाओं की जन्मदाता हैं। इन आरोपों के होते हुए भी यह कहना उचित होगा कि कोठारी शिक्षा आयोग के भाषा शिक्षा संबंधी सुझाव अत्यंत व्यावहारिक हैं। इस आयोग ने तो भाषाओं के अध्यापन के संबंध में यह भी सुझाव दिया है कि शिक्षा हेतु उपलब्ध (माध्यमिक स्तर पर) पूर्ण समय का आधा समय विभिन्न भाषाओं के अध्ययन में व्यय किया जाए। अतः आशा की जानी चाहिए कि इन सुझावों को अपना कर भारत में भाषा समस्या को हल किया जा सकेगा।

संसार के अन्य देशों द्वारा भाषा-समस्या का हल

संसार के अनेक देशों में बहुसंख्यक एवं अल्पसंख्यक भाषा-भाषी व्यक्ति रहते हैं। इन्होंने अपनी भाषा समस्याओं को सफलता के साथ हल किया है। स्विटजरलैंड 50 लाख आबादी का ऐसा देश है जहां 73 प्रतिशत जर्मन, 21 प्रतिशत फ्रेंच, 5 प्रतिशत इटेलियन तथा 1 प्रतिशत रोमन भाषाओं के बोलने वाले रहते हैं। यहां प्रजातंत्र सही अर्थों में है तथा कभी भाषा विवाद के कारण झगड़े नहीं हुए। इस देश में प्रमुख भाषाओं के रूप में जर्मन, फ्रेंच, इटेलियन तथा रोमन भाषाएं हैं। इन चारों भाषाओं में न्यायालय के निर्णय सुने जा

सकते हैं। मैंने वहां के विद्यालयों में देखा कि वहां बालक तीसरी कक्षा से जर्मन भाषा तथा पांचवीं से अंगरेजी भाषा पढ़ते हैं। मैट्रिक में छात्र अंगरेजी, जर्मन तथा फ्रेंच पढ़ता है। स्विटजरलैंड में कम भाषाएं तथा जनसंख्या कम ही है। अतः वहां तो उन्होंने सरलता से भाषा समस्या का हल किया परंतु भारत में इस देश का अनुकरण करके भाषा समस्या का हल नहीं किया जा सकता है।

रूस में भारत के समान ही लगभग 100 भाषाएं एवं बोलियां हैं। इस देश में भारत के समान ही भाषा-समस्या अत्यंत कठिन रही है। रूस ने 1917 के बाद भाषा समस्या के हल हेतु निम्न उपाय किए :—

(1) संघीय भाषा का विकास।

(2) वर्णमाला या व्याकरण रहित भाषाओं को वर्णमाला या व्याकरण देना।

(3) कठिन तथा अमनोवैज्ञानिक वर्णमाला वाली भाषाओं को रूसी लिपि देकर सुधारना।

रूस में भी त्रिभाषा सूत्र का अवलंबन किया गया है। माध्यमिक स्तर पर इसमें एक विदेशी भाषा का अध्ययन अनिवार्य किया गया है। वहां अंगरेजी, जर्मन, फ्रेंच, इटेलियन, हिंदी, स्पेनिश भाषाएं विदेशी भाषा के रूप में पढ़ाई जाती हैं। रूस में सभी को तीन भाषाओं का अध्ययन करना अनिवार्य है, (1) मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा, (2) रशियन भाषा तथा (3) एक विदेशी भाषा। इस प्रकार रूस में संघीय भाषा तथा विदेशी भाषा का अध्ययन, मातृ-भाषा या क्षेत्रीय भाषा के अतिरिक्त सभी को करना पड़ता है।

जर्मनी में जर्मन भाषा का अध्ययन मातृभाषा के रूप में अनिवार्य रूप से कराया जाता है। यहां 10 वर्ष की आयु से सभी को कोई न कोई विदेशी भाषा का अध्ययन करना आवश्यक रहता है। कहीं अंगरेजी, कहीं फ्रेंच, कहीं रशियन भाषाएं अध्ययन हेतु निर्धारित हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विदेशों में कहीं दो भाषा सूत्र तथा कहीं तीन भाषा सूत्र का अवलंबन किया गया है। हमारे देश के लिए त्रि-भाषा-सूत्र अधिक उपयुक्त है। हमें इन देशों से यह शिक्षा अवश्य मिलती है कि भाषा विवाद के हल के लिए झगड़े करना उचित नहीं है। सभी क्षेत्रीय भाषाओं के विकास के प्रयास किए जाने चाहिए तथा सभी को केंद्र के शासन की भाषा का अध्ययन अनिवार्य रूप से करना चाहिए।

23

परीक्षा की समस्या

परीक्षा समस्या का वर्तमान स्वरूप

परीक्षा के संबंध में विचार करने के लिए अनेक समितियों तथा शिक्षा आयोगों का गठन किया गया है। इन सभी ने परीक्षा के वर्तमान में विद्यमान स्वरूप के संबंध में निम्न तथ्यों को मान्य किया है :

(1) अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा आयोग (1972) का कथन है कि चुनाव, परीक्षा तथा डिप्लोमा देने के संबंध में जितनी कम समझ तथा ज्ञान प्रदर्शित किया जाता है, उतना शिक्षा के अन्य क्षेत्र में नहीं। यह पद्धति सबल, भाग्यवान या विचारों की अनुकूलता को पुरस्कृत करती है तथा जो भाग्यशाली नहीं हैं, जो धीमे हैं, जो अवसर के अनुकूल बदलते नहीं हैं तथा जो भिन्न प्रकार के हैं तथा भिन्न प्रकार से सोचते हैं उन्हें दोषी ठहराती है।

(2) परीक्षा पास करना शिक्षा ग्रहण से अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है। इस प्रकार संपूर्ण शैक्षिक प्रक्रिया पर परीक्षा हावी है।

(3) बाह्य परीक्षाएं विशेष रूप से चुनाव के आधार पर अध्ययन तथा रटंत विद्या को प्रोत्साहित करती हैं क्योंकि इनमें निश्चित तथा पुराने ढंग के परंपरागत प्रकार के प्रश्न पूछे जाते हैं।

(4) इनमें नंबर या अंक देने का ढंग जल्दबाजी का तथा ऊपरी ही रहता है। अतः जो अंक दिए जाते हैं वे विश्वसनीय नहीं होते हैं तथा बालक की योग्यता तथा कौशल का विश्वसनीय या प्रामाणिक माप नहीं होते हैं। उसकी उपलब्धियों का माप तो वे हैं ही नहीं।

(5) परीक्षाओं में नकल आदि का प्रचलन इतना अधिक हो गया है कि बालक इसे अपना अधिकार समझने लगे हैं तथा इसे रोकने के प्रयासों से तनाव बढ़ता है तथा निरीक्षकों को प्राणों पर संकट बना रहता है।

(6) वाह्य परीक्षाओं का कार्य के स्तर पर इतना वुरा प्रभाव पड़ रहा है। अतः यदि विकास करना है तो परीक्षा सुधार अति आवश्यक है। इसी दृष्टि से शिक्षा आयोग (1964-66) ने व्यक्त किया है कि परीक्षा सुधार तथा शिक्षण सुधार साथ-साथ होना चाहिए।[1]

(7) शिक्षा आयोग 1964-66[2] ने वर्तमान में व्यवस्थित वाह्य परीक्षाओं को वंद करके शिक्षकों द्वारा आंतरिक तथा सतत् मूल्यांकन की विधि को अपनाने का सुझाव दिया है। कृषि विश्वविद्यालयों तथा टेक्नालाजी संस्थानों में इस प्रकार की परीक्षा विधि को अपनाया गया है। इसका उपयोग अन्य विश्वविद्यालयों में भी सुविधाओं के होने पर शीघ्र ही किया जाना चाहिए।

(8) परीक्षा विधि में सुधार इसलिए नहीं हो पा रहा है क्योंकि शिक्षक तथा प्रशासक वर्तमान में व्यवस्थित परीक्षाओं की सापेक्षता, अविश्वसनीयता तथा अपर्याप्तता के प्रति पूर्णरूपेण सजग नहीं है तथा अन्य उपयोगी विधि विकसित भी नहीं की गई है। वे आंतरिक मूल्यांकन विधि के दोषों को वढ़ा-चढ़ाकर प्रदर्शित करते हैं तथा उनका विचार है कि आंतरिक मूल्यांकन वाह्य परीक्षाओं के समान ही वहुत वड़ी वुराई है। उनका ध्यान इस ओर नहीं जा रहा है कि वर्तमान में व्यवस्थित वाह्य परीक्षाएं मूलभूत शैक्षिक लक्ष्यों की प्राप्ति नहीं करती हैं तथा उनको महत्त्वहीन वनाती हैं।

(9) परीक्षा परिषदों के स्वयं के स्वार्थ परीक्षा सुधार लाने में अधिक वाधक हैं। वर्तमान विधि को वनाए रखने से वे अपने मित्रों तथा जान-पहचान वालों को कुछ आर्थिक लाभ करा सकते हैं। इन परीक्षाओं से वर्ष में लगभग एक माह का वेतन तो अतिरिक्त रूप से कमाया ही जा सकता है तथा संस्था में कुछ उच्च स्थिति परीक्षक वनने से हो ही जाती है।

(10) वाह्य परीक्षाओं को त्यागने तथा इनमें सुधार करने में सबसे वड़ी वाधा इस विचार के द्वारा उपस्थित हुई है कि यदि इनका त्याग किया जाएगा तो जो सर्टिफिकेट या डिग्री वाह्य परीक्षाओं के आधार पर दी जा रही है, उसका मूल्य गिर जाएगा।

परीक्षा सुधार किन सिद्धांतों के आधार पर किया जाए ?

परीक्षा सुधार के सिद्धांतों के संबंध में शिक्षा आयोग 1964-66, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा गठित समितियों तथा केंद्रीय शिक्षा सलाहकार

1. Report of Indian Education Commission 1964-66, Page 290.

2. Ibid, Page 290.

परिषद् की परीक्षा समिति ने विचार किया है। इन विभिन्न संगठनों एवं समितियों ने निम्न सिद्धांत परीक्षा सुधार के संबंध में निश्चित किए हैं—

(1) जो पढ़ाते हैं वे ही परीक्षा लें। इस दृष्टि से परीक्षा 'आंतरिक' तथा शिक्षण प्रक्रिया का अभिन्न अंग होनी चाहिए।

(2) चूंकि सत्रीय या सतत् मूल्यांकन अनेक आवश्यक कौशलों जैसे परिश्रम, पहल, उत्प्रेरणा, स्तर, सहयोग, नेतृत्व आदि का भी मापन करता है, अतः इस मूल्यांकन को भी मूल्यांकन पत्रक पर प्रदर्शित किया जाना चाहिए। त्रैमासिक या उपलब्धि परीक्षणों के द्वारा इन आवश्यक कौशलों का मूल्यांकन नहीं हो पाता है।

(3) प्रत्येक विश्वविद्यालय, महाविद्यालय या शाला का अपना स्तर होता है। अत: सर्टीफिकेट, डिग्री आदि पर इस संस्था का नाम अंकित किया जाना चाहिए।

(4) किसी परीक्षा में पास होने या सर्टिफिकेट या डिग्री प्राप्त करने के लिए अनेक कोर्स या विषयों में क्षमताओं के प्रदर्शन की आवश्यकता होती है। अत: इन कोर्सों या विषयों को एक-दूसरे से अलग करना ठीक होगा जिससे वालक को प्रत्येक कोर्स को अलग-अलग करने की सुविधा रहेगी तथा उसे एक संस्था से दूसरी संस्था में जाने या एक कोर्स से दूसरे कोर्स में जाने में भी सुविधा रहेगी।

(5) वालक की योग्यताओं की जांच पर्याप्त रूप से विस्तृत अवकाशों में की जानी चाहिए जिससे अंतिम परीक्षा के लिए ही उसे न रुकना पड़े। समेस्टर या वर्ष के अंत में उसकी जांच हो ही जानी चाहिए।

(6) बालकों का मूल्यांकन बहुत वारीकी से तथा न्यायपूर्ण नहीं हो सकता हैं। अतः उन्हें नंबरों के स्थान में श्रेणी देना चाहिए। 'अ' श्रेणी बहुत ऊंची योग्यता के लिए जो बहुत कम छात्रों में होगी, दी जाए। 'अ' उत्तम उपलब्धियों के लिए या लगभग 1/4 अच्छे बालकों के लिए 'ब' संतोषजनक प्रगति के लिए, 'स' कमजोर बालकों के लिए तथा 'ड' असंतोषजनक प्रगति के लिए दी जाए।

(7) किसी नौकरी में प्रवेश की परीक्षा (जो आंशिक रूप से प्रवृत्तियों की जांच तथा संभावनाओं की जांच के लिए होती है) तथा किसी डिग्री या सर्टिफिकेट के लिए व्यवस्थित परीक्षा (जो किसी कोर्स या पाठ्यक्रम में उपलब्धियों की जांच के लिए होती है) में भेद किया जाना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि जो संस्थाएं परीक्षाएं लेती हैं उन्हें परीक्षाएं अपने शिक्षण कार्यक्रम के अभिन्न अंग के रूप में व्यवस्थित करनी चाहिए।

(8) यदि किसी संस्था में प्रवेश की सीटें निश्चित हैं तथा आवेदनकर्त्ताओं की संख्या अधिक है तो वह संस्था प्रवेश परीक्षा आयोजित करके प्रवेश लेने के इच्छुक बालकों या व्यक्तियों की जांच करें।

(9) स्नातक स्तर पर विभिन्न विषयों में राष्ट्रीय परीक्षाएं किसी ऐच्छिक स्वतंत्र संस्था द्वारा व्यवस्थित की जानी चाहिए। इन परीक्षाओं में कोई भी बैठ सकता है। यह परीक्षा रचनात्मक सोचने-विचारने एवं विषय को समझने की शक्ति की परख के लिए व्यवस्थित की जानी चाहिए। यह सभी क्षेत्रीय भाषाओं तथा अंगरेजी माध्यम से ली जाए। इस परीक्षा के प्रश्नपत्र, मूल्यांकन सभी बहुत श्रेष्ठ हों तथा परीक्षा में उत्तम उपलब्धियों पर ही सर्टिफिकेट दिए जाएं।

(10) परीक्षाओं में फेल होने वालों के लिए 'खुले विश्वविद्यालय' द्वारा पत्राचार पाठ्यक्रम व्यवस्थित किए जाएं जिससे वे अपनी सुविधा से बिना कहीं उपस्थित हुए या प्रवेश किए विश्वविद्यालीय या राष्ट्रीय परीक्षा भी पास कर सकें।

(11) विश्वविद्यालय अनुदान आयोग महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों से अनिवार्य रूप से प्रश्नपत्रों तथा परीक्षा संबंधी आंकड़ों को मंगाए तथा उनका मूल्यांकन करके उन पर अपनी राय एवं सुझाव दें। माध्यमिक स्तर पर माध्यमिक शिक्षा परिषदें इस कार्य को करें।

परीक्षा समस्याओं के हल हेतु सुझाव

परीक्षा समस्याओं के हल हेतु निम्न सुझाव उपयोगी सिद्ध होंगे :

(1) यह प्रतीति अब अवश्य स्पष्ट होनी चाहिए कि मूल्यांकन एक सतत् चलने वाली प्रक्रिया है, यह शैक्षिक प्रक्रिया का अभिन्न अंग है तथा शिक्षा लक्ष्यों से घनिष्ठ रूप से संबंधित है।

(2) बालक के विकास तथा उपलब्धियों की जांच की अनेक विधियां हैं जैसे लिखित परीक्षा, मौखिक परीक्षा, व्यावहारिक परीक्षा, अवलेखन तथा अन्य। इन विभिन्न विधियों का उचित उपयोग करने के प्रयास करने चाहिए। केवल लिखित परीक्षा पर ही निर्भर रहना उचित नहीं है।

(3) प्राथमिक स्तर पर पहली से पांचवीं कक्षा तक वर्गहीन शिक्षा की व्यवस्था की जाए। बालकों का इकाइयों के आधार पर शिक्षण किया जाए तथा प्रत्येक इकाई के पूर्ण होने पर मौखिक या जहां आवश्यक हो लिखित परीक्षा ली जाए। इकाई पूर्ण होने पर बालकों को आगे की इकाई से संबंधित कार्य कराए जाएं। शिक्षा आयोग (1964-66) ने सुझाव दिया है कि यदि

पहली से पांचवीं तक वर्गहीन शिक्षा व्यवस्थित न हो सके तब पहली और दूसरी को वर्गहीन कक्षा के रूप में पढ़ाया जाए।

(4) प्राथमिक स्तर के बाद बाह्य परीक्षा ली जाए। शिक्षा आयोग ने मत व्यक्त किया है कि इस प्रकार की बाह्य परीक्षा के पक्ष में अधिकांश राज्य हैं तथा जहां अभी इसे बंद किया गया था वे भी इसे प्रारंभ करना चाहते हैं। इसे प्रारंभ करने के प्रमुख कारण हैं: (1) एक शिक्षा स्तर के बाद एक-सा स्तर बनाए रखने के लिए, (2) माध्यमिक स्तर पर विषयों का कोर्स के चुनाव का आधार तैयार करने के लिए तथा (3) उत्तम शिक्षण एवं सीखने की उत्प्रेरणा हेतु। परंतु शिक्षा आयोग प्राथमिक स्तर के बाद या आठवीं के बाद बाह्य परीक्षा को व्यवस्थित करना अनुपयुक्त समझता है। शिक्षा स्तर को बाह्य परीक्षा द्वारा न आंक कर शिक्षा आयोग का सुझाव है कि जिले में शिक्षा का सर्वेक्षण प्रामाणिक तथा उन्नत परीक्षणों के माध्यम से उन्नत बनाए रखना उपयोगी होगा। इन प्रामाणिक या उन्नत परीक्षणों को ही प्राथमिक स्तर की बाह्य परीक्षा के लिए यदि आवश्यक समझा जाए तब उपयोग में लाया जा सकता है। इससे परीक्षण परंपरागत एवं विधिवत अभी के समान न रहेगा। प्राथमिक स्तर के अंत में छात्रवृत्ति देने हेतु या बहुत ऊंची योग्यता की जांच हेतु विशेष परीक्षा आयोजित की जाए जिसमें छात्र ऐच्छिक रूप से बैठें।

(5) माध्यमिक स्तर पर बाह्य परीक्षाओं में जो माध्यमिक शिक्षा मंडल द्वारा ली जाती हैं, निम्न सुधार शिक्षा आयोग ने सुझाए हैं:

(अ) माध्यमिक स्तर पर आयोजित बाह्य परीक्षाओं में अधिकांश दोष प्रश्नों तथा प्रश्नपत्रों के गठन से संबंधित हैं। अतः प्रश्नपत्रों के गठन की तकनीक से प्रश्नपत्र निर्माण करने वालों को अवगत करवाने के लिए सघन प्रशिक्षण आयोजित किए जाएं।

(ब) प्रश्नपत्रों को केवल ज्ञान के परीक्षण हेतु विकसित न करके समस्याओं को हल करने की योग्यता विकास की जांच हेतु तैयार करना चाहिए।

(स) पूछे गए प्रश्नों के गठन एवं शब्द चयन में सुधार किया जाना चाहिए। प्रश्न पूरे पाठ्यक्रम में वितरित होना चाहिए।

(द) परीक्षा प्रश्नपत्रों के संगठन के अतिरिक्त परीक्षा में अंक देने, अतिरिक्त अंक देने आदि को वैज्ञानिक एवं प्रामाणिक बनाया जाए, जिससे परीक्षा में मूल्यांकन अधिक विश्वसनीय हो।

(इ) परीक्षाओं में दिन पर दिन अधिक बालक बैठते जा रहे हैं। अतः इनकी उत्तर पुस्तिकाओं की उचित जांच तथा समय पर परीक्षाफल

घोषित करना कठिन होता जा रहा है। अतः इस प्रक्रिया को यांत्रिक बनाया जाए जिससे यह गतिपूर्ण तथा सही बन सके।

(उ) वाह्य परीक्षाओं में फेल होने वाले बालकों की संख्या बहुत रहती है। भारत में माध्यमिक स्तर पर लगभग 55 प्रतिशत तथा उच्चतर माध्यमिक स्तर पर लगभग 40 प्रतिशत छात्र अनुत्तीर्ण होते हैं। प्राइवेट बैठने वालों में तो 70 प्रतिशत अनुत्तीर्ण होते हैं। अतः इस संबंध में अधिक विचार करना आवश्यक है। इसलिए बाह्य परीक्षा के बाद जो सर्टीफिकेट दिया जाए उसमें पास या फेल अंकित न करके केवल उपलब्धियां ही अंकित की जाएं तथा बालक को अपनी उपलब्धि एक या अनेक विषयों में सुधारने के अवसर दिए जाएं। बालक चाहे तो किसी एक या सभी विषयों में पुनः परीक्षा देकर अपनी उपलब्धि सुधारे।

(ऊ) माध्यमिक स्तर के बाद बालक विद्यालय की ओर से आंतरिक मूल्यांकन प्रपत्र भी उसकी प्रगति एवं उपलब्धियों को दर्शाने हेतु दिया जाए। यह प्रगति पत्रक वाह्य मूल्यांकन से प्राप्त सर्टिफिकेट के साथ नत्थी रहे।

(क) उच्च शिक्षा तथा तकनीकी कोर्स में प्रवेश हेतु ये संस्थाएं अपनी प्रवेश परीक्षा स्वयं व्यवस्थित करें क्योंकि इनमें प्रवेश चुनाव के आधार पर किया जाना ठीक होगा।

(ख) देश में कुछ उन्नत एवं अच्छा कार्य करने वाली संस्थाओं को बाह्य परीक्षाएं स्वयं व्यवस्थित करने का अधिकार दिया जाए। विद्यालय अपना पाठ्यक्रम विकसित करें, शिक्षण विधियां निश्चित करें और परीक्षा लें। बोर्ड इनकी परीक्षा को मान्यता दे तथा इनके छात्रों को सर्टिफिकेट दे। इन विद्यालयों की गतिविधियों का मूल्यांकन समय-समय पर किया जाए।

(6) आंतरिक मूल्यांकन को समुचित महत्त्व दिया जाए। आंतरिक मूल्यांकन विस्तृत एवं पूर्ण होना चाहिए जिससे बालक के सभी प्रकार के विकास की जांच की जा सके। इसे शिक्षा के कार्यक्रम का अंतरंग अब बनाना चाहिए। आंतरिक मूल्यांकन हेतु अंक देना आवश्यक नहीं है। यह वर्णनात्मक भी हो सकता है। आंतरिक मूल्यांकन के अंक अलग-अलग ही रखे जाना चाहिए। इन्हें जोड़कर अंतिम जोड़ करके रखना उचित नहीं है।

(7) वाह्य मूल्यांकन के अनुरूप विद्यालय की लिखित परीक्षा में भी सुधार किया जाना चाहिए। आवश्यकतानुसार प्रामाणिक परीक्षण प्रवृत्ति, रुचि

परीक्षणों का भी उपयोग किया जाना चाहिए। शिक्षकों को प्रामाणिक तथा सरल परीक्षण विकसित करने का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

(8) आंतरिक मूल्यांकन में अनेक त्रुटियां पाई गई हैं तथा बहुधा बालक को अधिक अंक दिए जाते हैं परंतु फिर भी इसे चालू रखा जाए तथा बाह्य परीक्षा और आंतरिक परीक्षा के अंकों को अलग-अलग रखा जाए।

(9) विद्यालय पर्यवेक्षण तथा निरीक्षण के समय आंतरिक मूल्यांकन पर विचार किया जाए तथा आंतरिक एवं बाह्य मूल्यांकन का सहसंबंध ज्ञात करके इसे उन्नत बनाया जाए। विद्यालयों को वर्गीकृत करने तथा अनुदान देने हेतु भी आंतरिक मूल्यांकन का विचार किया जाए। यदि आंतरिक मूल्यांकन में लगातार दोष पाए जाएं तथा उन्नति न की जा रही हो तो शिक्षाधिकारियों को विद्यालय की मान्यता वापिस लेने का अधिकार भी रहे।

(10) परीक्षा तथा मूल्यांकन के सुधार हेतु राज्य एवं केंद्र में मूल्यांकन इकाइयों को गठित किया जाए जो परीक्षा सुधार के कार्यक्रम को व्यवस्थित एवं विकसित करें।

(11) उच्च शिक्षा स्तर पर शिक्षा आयोग, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग एवं अन्य समितियों ने परीक्षा सुधार हेतु अनेक सुझाव दिए हैं जो निम्नानुसार हैं—

(अ) विश्वविद्यालयों को परीक्षा के पर्यवेक्षण का अधिकार अपने पास रखकर परीक्षा को विकेंद्रीकृत करना चाहिए। विश्वविद्यालय को महाविद्यालयों को परीक्षा संबंधी ऐसी सलाह देना चाहिए जो अनिवार्य रूप से मानी जाए तथा इन केंद्रों पर होने वाली परीक्षा संबंधी पूर्ण जानकारी इन्हें रखनी चाहिए। महाविद्यालयों के परीक्षा-फल का विश्लेषण करके इन्हें उचित परामर्श भी देना चाहिए।

(ब) विषय अध्ययन समितियां न केवल पाठ्यक्रम विकसित करें वरन् परीक्षा के लिए प्रश्नपत्र बैंक भी बनाएं। प्रश्नपत्र बैंक में सम्मिलित करने हेतु प्रश्न शिक्षकों तथा छात्रों से मांगे जाएं तथा जहां आवश्यक हो विषद अध्ययन समितियां स्वयं प्रश्न बनाएं। प्रत्येक कोर्स के लिए 50 से 100 प्रश्नों का प्रश्न बैंक रहे जिसमें संपूर्ण कोर्स से प्रश्न हों तथा समय-समय पर इन्हें उन्नत एवं संशोधित किया जाए एवं आवश्यकतानुसार बदला भी जाए। शिक्षक 25 प्रतिशत प्रश्न इस प्रश्न बैंक से बाहिर से दें। इनमें गणित वाले प्रश्नों का विशेष रूप से समावेश किया जाए। प्रश्न बैंक के प्रश्नों

को प्रकाशित किया जाए तथा ये छात्र एवं स्टाफ दोनों को उपलब्ध रहें।

(स) महाविद्यालय अपने आचार्यों की सहायता से परीक्षा लें तथा प्रश्न बैंक से प्रश्न चुने जाएं। विश्वविद्यालय केवल प्रश्न बैंक से प्रश्न चुनने, उत्तर पुस्तिकाएं जांचने आदि की विधि निश्चित करें। संभव हो तो प्रत्येक प्रश्न एक-एक कार्ड पर छापा जाए। जिससे छात्र इनमें से निर्धारित संख्या में प्रश्न उठा सकें। इससे प्रश्नपत्र निर्माण, छपाई, हिफाजत सभी का व्यय बचेगा।

(द) छात्रों की उत्तर पुस्तिकाएं जांचने के बाद वापिस की जाएं तथा छात्रों को दी गई श्रेणी के विरोध में अपील करने का अधिकार रहे। अपील प्राचार्य, विभाग के एक सदस्य तथा संभावित छात्र प्रतिनिधियों को मिलाकर बनाई गई समिति के पास की जाए।

(इ) जो छात्र निश्चित श्रेणी प्राप्त कर लेते हैं उन्हें डिग्री दी जाए। छात्रों को अपनी श्रेणी सुधार के पुनः अवसर भी दिए जाएं।

(उ) महाविद्यालय द्वारा सत्रीय कार्य में दिए गए अंकों की जांच न्यादर्श के माध्यम से महाविद्यालय अधिकारी तथा विश्वविद्यालय अधिकारी 5-5 प्रतिशत कापियों की जांच करें। इसके संबंध में संबंधित आचार्यों एवं महाविद्यालयों को जांच प्रतिवेदन दिया जाए।

(ऊ) महाविद्यालय छात्रों का प्रगति पत्रक बनाए जिसकी एक प्रति विश्वविद्यालय को भी भेजी जाए।

(क) चूंकि छात्रों की उत्तर पुस्तिकाएं वापिस की जानी हैं अतः टिप्पणी सहित विस्तार से जांचने के लिए, हो सकता है, अधिक धन व्यय करना पड़े परन्तु अन्य खर्चों के न होने से अंतिम रूप में व्यय कम ही होगा। यदि आवश्यकता हो तो राज्य एवं केंद्र सरकारों को विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों को सहायता देनी चाहिए।

(ख) छात्रों को जो अंतिम श्रेणी पत्रक दिया जाए उसमें सत्रीय कार्य की जांच की श्रेणी भी अंकित की जाए। सत्रीय कार्य को कितना महत्त्व दिया जाए, यह विश्वविद्यालय निश्चित करे।

(ग) विश्वविद्यालय कुछ महाविद्यालयों को, जो उन्नत हैं तथा अच्छा कार्य कर रहे हैं, अपनी परीक्षाएं स्वयं व्यवस्थित करने के अधिकार दे तथा इन्हें मूल्यांकन करने की विधियों एवं पाठ्यक्रम आदि संबंधी निर्देशन दे। अन्य महाविद्यालयों में मूल्यांकन तथा परीक्षाओं का पर्यवेक्षण विश्वविद्यालय करे। जहां विश्वविद्यालयों के पास

अपना स्वयं का स्नातकोत्तर विभाग है, वहां शिक्षण और शोध को विकसित करके इन केंद्रों या विभागों को अपनी परीक्षा आदि व्यवस्थित करने के अधिकार दिए जाएं।

इस प्रकार शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर परीक्षा सुधार के प्रयास किए जा सकते हैं। परंतु वर्तमान में परीक्षाएं जिस प्रकार से व्यवस्थित की जाती हैं वह विधि तो पूर्णतः मृत हो चुकी है तथा परीक्षाओं को शिक्षण का अभिन्न बनाकर इनमें सुधार करना आवश्यक है।

24

पाठ्य पुस्तकों का चयन

पाठ्य पुस्तकों का महत्त्व

शिक्षा के स्तर को उच्च बनाने के लिए उत्तम पाठ्य पुस्तकों तथा शिक्षण सामग्री का होना अनिवार्य है। यह इसलिए भी आवश्यक है कि इसमें अपेक्षाकृत व्यय कम लगता है। इतना ही नहीं एक निम्न स्तरीय पुस्तक तथा अच्छे स्तर की पुस्तक के निर्माण की कीमत में बहुत कम अंतर रहता है। उत्तम पुस्तक सीखने को प्रभावी बनाती है तथा ज्ञान-वर्द्धन में सहायक होती है।

वर्तमान में शिक्षण कौशल को तकनीक के रूप में मान्य किया जाता है तथा शिक्षण तकनीक को अभ्यास, उत्तम पुस्तकें तथा अन्य सहायक साधनों से उन्नत किया जा सकता है। शिक्षण तकनीक के विकास में उत्तम पुस्तक उत्तम उपकरण के रूप में काम में आता है। फलस्वरूप शिक्षक अपने तथा कौशल शिल्प को उत्तम पुस्तक की सहायता से विकसित कर सकता है। जिस प्रकार किसी शिल्पकार के अनेक उपकरण होते तथा उनकी सहायता से वह अपना कार्य उत्तम ढंग से पूर्ण करता है, उसी प्रकार शिक्षक भी पुस्तक रूपी उपकरण की सहायता से अपना शिक्षण उन्नत कर सकता है।

पुस्तक ज्ञान का प्रसार करने वाली होती है। यह ज्ञान को सरलता से उपलब्ध करा सकती तथा जब चाहे जहां चाहे ले जाई जा सकती है। फलस्वरूप यह शिक्षक से अधिक महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी सिद्ध हो सकती है। पुस्तक को देखकर बालक अपने ज्ञान की परख भी कर सकता है।

पुस्तकें बालक को सीखे जाने वाले ज्ञान की सीमाओं से परिचित कराती हैं तथा निर्धारित लक्ष्य की उपलब्धि में सहायक होती हैं। अभ्यास कार्य तथा ज्ञान के दोहराने में भी पाठ्य पुस्तकें सहायक होती हैं।

पाठ्य पुस्तकें बालक के विकास, आवश्यकता, क्षमता आदि के अनुरूप

लिखी जाती हैं। फलस्वरूप वे बालकों के समक्ष उपयुक्त मात्रा में तथा उपयुक्त विधि से ज्ञान प्रस्तुत करती हैं। इससे बालक भटक नहीं पाता तथा आवश्यकता-नुसार ज्ञान ग्रहण करता जाता है।

पाठ्य पुस्तकों के माध्यम से बालकों का अलग-अलग एवं सामूहिक दोनों प्रकार से शिक्षण करने में सहायता मिलती है। इससे समय की बचत, एकरूपता तथा समता का लाभ मिलता है।

पाठ्य पुस्तकें बालकों तथा शिक्षकों दोनों को प्रयोगात्मक तथा क्रियात्मक कार्यों में आवश्यक मार्गदर्शन देती हैं। इन कार्यों की दिशा, प्रक्रियाओं तथा आवश्यक सामग्री से परिचित कराती हैं। फलस्वरूप ऐसे विषयों के लिए जिनमें प्रयोगात्मक एवं व्यावहारिक कार्य अधिक आवश्यक होते हैं, पाठ्य पुस्तकें बड़ी सहायक होती हैं।

पाठ्य पुस्तकों की सहायता से बालक स्वयं अध्ययन एवं स्वाध्याय कर सकता है। शिक्षक की बिना सहायता के भी पाठ्य पुस्तकें बालक को ज्ञान देने, प्रक्रिया समझाने आदि में सहायक होती हैं।

वर्तमान समाज एक ऐसा समाज है जिसमें सीखने की अवधि या शिक्षा के कार्य केवल विद्यालय वर्षों तक ही सीमित नहीं रह सकते। शिक्षा तो जीवन भर चलने वाली मानी जाने लगी है तथा अब यह भी मान्यता बलवती होती जा रही है कि विद्यालय या कक्षा के बाहर भी बहुत कुछ सीखा जा सकता है। रेडियो, टेलीविजन, टेप रिकार्डर, फिल्म या अन्य सीखने-सिखाने के समूह साधनों की सहायता से संपूर्ण शिक्षा दी जा सकती है। पाठ्य पुस्तकें भी इस शैक्षिक तकनीक का महत्त्वपूर्ण साधन हैं।

अतः हम कह सकते हैं कि पाठ्य पुस्तकों का महत्त्व वर्तमान में अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। परंतु विद्यालय शिक्षा स्तर पर पाठ्य पुस्तकों को, जैसा कि प्रो० रेमेण्ट महोदय का विचार है, शिक्षक के पाठ का पूरक तथा सहायक उप-करण मानना चाहिए। यह आवश्यक है कि डाल्टन योजना, खोज प्रणाली, योजना विधि, इकाई विधि आदि नवीन गतिशील शिक्षण विधियों में पाठ्य पुस्तकें शिक्षक के स्थान को ले लेती हैं तथा शिक्षक बालक और पाठ्य पुस्तकों का सहायक सा ही रहता है। जब बालक को कोई कठिनाई आती है शिक्षक से समझ लिया जाता है।

उत्तम पाठ्य पुस्तकों की विशेषताएं

पाठ्य पुस्तकें बालक तथा शिक्षक दोनों के उपयोग एवं लाभ हेतु लिखी जाती हैं। अतः इनमें अनेक ऐसी विशेषताओं का होना आवश्यक है जिनसे

दोनों को समुचित लाभ मिले। इस दृष्टि से उत्तम पाठ्य पुस्तकों में निम्न विशेषताओं का होना मान्य किया गया है :—

(1) पाठ्य वस्तु का प्रस्तुतीकरण उत्तम शैली में किया गया हो। अर्थात् बालक की समझ में तथ्य आ जाए तथा समुचित उदाहरण आदि देकर विषय को सरल और रोचक बनाया गया हो।

(2) उपयोगी शिक्षण सूत्रों तथा शिक्षण विधियों की सहायता से लिखी गई हों।

(3) यथास्थान चित्र, नक्शे, तालिकाएं आदि दी गई हों।

(4) पढ़ने में उत्सुकता, रुचि, जिज्ञासा आदि बनाए रखने वाली हों।

(5) भाषा बालकों के स्तर की हो।

(6) यथास्थान उपयुक्त शीर्षक, पराग्राह, हाशिया, आकृतियां, उद्धरण आदि दिए गए हों। साथ ही यह भी निर्देशित किया गया हो कि बालक को कौन-कौन से कार्य अपने ज्ञान के अभ्यास के लिए करना चाहिए। पाठ के अंत में अभ्यासार्थ प्रश्न एवं क्रियाएं भी दर्शाई गई हों।

(7) छपाई, कागज आदि उत्तम हो। साइज या आकार भी उपयुक्त हो।

(8) कीमत अनुकूल हो। पुस्तकें अधिक महंगी नहीं होनी चाहिए।

(9) राष्ट्रीय नीति एवं लक्ष्यों के अनुरूप पाठ्य सामग्री विकसित की गई हो।

(10) स्तर उत्तम एवं अनुकूल हो।

पाठ्य पुस्तकों की वर्तमान स्थिति

पाठ्य पुस्तकें इतनी अधिक उपयोगी एवं लाभकारी होने के बाद भी भारत में जो पाठ्य पुस्तकों की स्थिति है वह संतोषजनक नहीं कही जा सकती है। पाठ्य पुस्तकों के उत्पादन हेतु जितना प्रयास एवं ध्यान दिया जाना चाहिए उतना दिया नहीं जाता है। अधिकांश विषयों में उनका स्तर निम्न, छपाई एवं कागज अनुपयुक्त, चित्रांकन अपूर्ण है। क्षेत्रीय भाषाओं में पुस्तकों को जिस उन्नत स्तर का होना चाहिए नहीं होती हैं। हिंदी में जिन विषयों पर पुस्तकें जितनी उत्तम होनी चाहिए नहीं होती हैं। बच्चों के योग्य विज्ञान और तकनीकी विषयों पर पुस्तकें तो बहुत कम उपलब्ध रहती हैं। इसके अनेक कारण हैं। शिक्षा आयोग ने पाठ्य पुस्तकें अपेक्षित स्तर की न होने के निम्न कारण बतलाए हैं :

(1) उच्च कोटि के विद्वानों द्वारा पाठ्य पुस्तकों के निर्माण में रुचि न

लेना जिससे पाठ्य पुस्तकें सामान्यतः ऐसे लेखकों द्वारा लिखी जाती हैं जो बहुत कम योग्यता रखते हैं।

(2) पाठ्य पुस्तकों के चुनाव तथा निर्धारण में अनियमितताएं होना।

(3) अनेक प्रकाशकों द्वारा पाठ्य पुस्तकों के निर्माण एवं निर्धारण कराने हेतु अवांछनीय उपाय अपनाना।

(4) पाठ्य पुस्तक निर्माण एवं विकास हेतु पर्याप्त शोध एवं अध्ययन न किया जाना।

(5) प्रकाशकों का केवल लाभ पर ध्यान देना, जिससे सहायक पुस्तकें जैसे शिक्षक निर्देशिका आदि प्रकाशित न होना। वे केवल उन पुस्तकों को छापते हैं जिनमें उन्हें लाभ अधिक होता है।

पाठ्य पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण

स्वतंत्रता के उपरांत देश में शिक्षा की बहुत वृद्धि हुई तथा विद्यालयों में बहुत संख्या में बालक दर्ज हुए। इतनी बड़ी संख्या में पुस्तकों के प्रकाशन में बहुत लाभ है। चूंकि पुस्तकों का स्तर अपेक्षित नहीं है तथा उत्तम पुस्तकें आवश्यक हैं, राज्य सरकारों ने कुछ विषयों की पुस्तकें राष्ट्रीयकृत करके पाठ्य पुस्तकों के स्तर को ऊंचा बनाने एवं उनकी कीमत कम रखने के प्रयास किए हैं। पुस्तकें राष्ट्रीयकृत करने का एक और महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि कोई भी प्रकाशक पुस्तकों के निर्माण तथा विकास हेतु अध्ययन तथा शोध करने को तैयार नहीं है क्योंकि इससे उन्हें सीधा लाभ नहीं होता है तथा खर्च अधिक करना पड़ता है। परंतु सरकार के साधन अधिक होने से पुस्तकों के निर्माण तथा विकास हेतु शोध संभव है। राष्ट्रीयकरण से प्रकाशकों को अपनी पुस्तकों के दाम कम रखने की प्रेरणा मिलती है। राष्ट्रीयकरण से यह निश्चितता हो जाती है कि विद्यालयों के बच्चों तथा शिक्षकों को उत्तम पुस्तकें ही उपलब्ध होंगी। राष्ट्रीयकरण होने के पूर्व प्रकाशक अपने लाभ के लिए अरुचिकर तथा घटिया पुस्तकें प्रधानाध्यापकों तथा शिक्षकों से मिलकर चलवा लेते थे। राष्ट्रीयकृत पुस्तकों को देश की भावात्मक एवं सामाजिक एकता के आदर्शों के अनुरूप लिखाया जा सकता है। इन सभी कारणों के कारण भारत के अनेक राज्यों में विद्यालय स्तर की पुस्तकों का सुविधानुसार विभिन्न संख्या में राष्ट्रीयकरण किया गया है। कुछ राज्यों में तो पाठ्य पुस्तक निर्माण तथा वितरण दोनों कार्य सरकार ने अर्धशासकीय संगठन विकसित करके उन्हें सौंपे हैं।

पाठ्य पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण से लाभ

पाठ्य पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण से अनेक लाभ हुए हैं जैसे :—

(1) निजी प्रकाशकों द्वारा जो धन कमाने के लिए लूट मचाई जा रही थी, वह बंद हो गई है।

(2) पाठ्य पुस्तकों की कीमतें कम होने से बालकों को शिक्षा महंगी नहीं पड़ती है।

(3) पाठ्य पुस्तकों के लिखाने, निर्धारण कराने के लिए जो समूह या गुट बन गए थे वे बंद हो गए हैं।

(4) सरकार को पाठ्य पुस्तक निर्माण एवं विक्री से लाभ होना प्रारंभ हो गया है।

(5) पाठ्य पुस्तकें समय पर मिलने लगी हैं।

(6) पाठ्यक्रम एवं पाठ्य पुस्तकों में एकरूपता विकसित हो सकी है।

(7) अब उत्तम रूप से प्रकाशित पाठ्य पुस्तकों का मिलना संभव हुआ है। यह अवश्य है कि अभी अनेक निजी प्रकाशक उत्तम स्तर की पुस्तकें प्रकाशित कर रहे हैं। इतना अच्छा स्तर राष्ट्रीयकृत पुस्तकों का विकसित नहीं हो सका है परंतु फिर भी पुस्तकें अपेक्षाकृत अच्छी प्रकाशित की जाने लगी हैं।

(8) राज्य पाठ्य पुस्तकों के निर्माण एवं विकास पर शोध करने लगे हैं।

(9) ऐच्छिक विषयों पर उत्तम स्तर की पुस्तकें मिलने लगी हैं। अभी निजी प्रकाशक अपने कम लाभ के कारण इन पुस्तकों की ओर विशेष ध्यान नहीं देते थे।

पाठ्य पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण में बाधाएं

पाठ्य पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण में निम्न बाधाएं हैं :—

(1) राज्य सरकार द्वारा पाठ्य पुस्तकें लिखवाने, प्रकाशित करने तथा वितरण के कार्य अपने हाथ में लेने से यह संभावना बनी रहती है कि इस कार्य को शासन अपनी विचारधारा एवं योजनाओं के प्रसार का साधन बनाएगी। इस प्रकार की स्थिति लोकतंत्र के विकास के लिए उचित नहीं है।

(2) पाठ्य पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण से शिक्षक अपने मन की स्वतंत्र रूप से पाठ्य पुस्तकों का चयन नहीं कर पाता है।

(3) पाठ्य पुस्तकों के प्रकाशन का एकाधिकार होने से लालफीताशाही को संबल मिलता है तथा समय पर पुस्तकें उपलब्ध करने की प्रेरणा का अभाव रहता है। फलस्वरूप पुस्तकें समय पर उपलब्ध नहीं हो पाती हैं।

(4) यह आवश्यक नहीं है कि शासन हमेशा योग्य लेखक से ही पुस्तकें लिखवाए। अभी तक का जो अनुभव है उससे यह स्पष्ट है कि शासन ने हमेशा योग्य लेखकों को पुस्तकें लिखवाने का कार्य नहीं दिया है। शासन की लालफीताशाही के कारण भी उत्तम लेखक इनका कार्य नहीं करना चाहते हैं।

(5) राष्ट्रीयकरण से पुस्तकों का मूल्य जितना अधिक कम होने की अपेक्षा थी उतना कम हो नहीं पाया है। अनेक बैठकों, दौरे, विचार-विमर्श आदि में ही अधिक समय और धन व्यय कर दिया गया है।

(6) राज्यों ने पाठ्य पुस्तकें निर्माण और विकास हेतु शोध एवं विचार-विमर्श गोष्ठियां भी कम ही आयोजित की हैं। फलस्वरूप इस दिशा में जैसी प्रगति की आशा थी, वह पूर्ण नहीं हो पाई है।

(7) पाठ्य पुस्तकें समाज का प्रतिविम्व नहीं बन सकी हैं।

राष्ट्रीयकृत पाठ्य पुस्तकों को उन्नत बनाने हेतु सुझाव

पाठ्य पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण पुस्तकों के स्तर सुधार का एक उपाय है। परंतु यदि इस कार्य को सतर्कता से नहीं किया गया तब इससे अधिक लाभ नहीं हो सकता है। पाठ्य पुस्तकों को यथासमय संशोधित कराना, पुस्तकों का प्रकाशन एवं उपलब्धि समय पर न होना आदि ऐसी बातें हैं जो पाठ्य पुस्तकों के राष्ट्रीय-करण से होने वाले लाभों को दूर करके विषम स्थितियां विकसित करेंगी। अतः यह आवश्यक है कि राज्य स्तर पर पाठ्य पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण के कार्य को सही विधियों के द्वारा विकसित किया जाए। इस हेतु निम्न उपाय अपनाए जा सकते हैं। इन सुझावों में अनेक सुझाव शिक्षा आयोग द्वारा भी दिए गए हैं :—

(1) राज्य स्तर पर एक स्वतंत्र एवं व्यापारिक संगठन शिक्षा-विभाग के घनिष्ठ संपर्क से स्थापित किया जाए। इसी प्रकार का एक संगठन केंद्र में भी विश्वविद्यालयीय एवं स्कूली पुस्तकों के प्रकाशन हेतु विकसित किया जाए।

(2) पाठ्य पुस्तकों का प्रकाशन एक सतत् प्रक्रिया है। पाठ्य पुस्तक प्रका-शित करने के पूर्व पाठ्य वस्तु तथा लेखन संबंधी बातों का पुनरावलोकन भी आवश्यक होता है। पुस्तक लिखवाने के बाद उसका पुनरावलोकन योग्य व्यक्तियों से कराया जाए तथा प्रकाशन के उपरान्त भी उसका मूल्यांकन कराया जाए। इस मूल्यांकन के आधार पर पुस्तकों को संशोधित करना उपयोगी होता है। यह संशोधन पाठ्यक्रम वही होने पर भी यथासमय सतत् चलता रहता है।

(3) पाठ्य पुस्तकें योग्य व्यक्ति से ही लिखवाई जाएं। भारत में स्थिति के कारण नेतृत्व का स्वरूप अधिक विकसित हुआ है। योग्यता के आधार पर नेतृत्व बहुत कम दिखाई देता है। अतः जो अधिकारी ऊंचे पदों पर हैं उनसे

न तो पुस्तकें लिखवाई जानीं चाहिए और न उनसे पुनरावलोकन कराया जाना चाहिए।

(4) प्रत्येक विषय में एक से अधिक पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित कराई जाएं जिससे शिक्षक रुचि के अनुसार उपयुक्त पुस्तक चुन सकें। शिक्षा आयोग का विचार है कि यदि संभव हो तो एक से अधिक पाठ्यक्रम भी विकसित किए जाएं।

(5) लेखकों को समुचित लेखन पारिश्रमिक दिया जाए जिससे योग्य व्यक्ति लेखन कार्य के लिए आकर्षित हों।

(6) पाठ्य पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण में दृष्टिकोण लाभ का न होकर उत्तम पुस्तकें प्रकाशित करने का होना चाहिए। उत्तम तो यह होगा कि बिना लाभ तथा हानि के यह कार्य किया जाए।

(7) योग्य लेखकों को पुस्तकें लिखने को आमंत्रित किया ही जाए परंतु अनेक बार पांडुलिपियां आमंत्रित करने से भी अच्छी सामग्री उपलब्ध हो जाती है। इस प्रकार नवीन प्रतिभाओं की खोज के प्रयास भी किए जाने चाहिए। रूस में उत्तम पाठ्य पुस्तकें लिखने पर विश्वविद्यालयों में उच्चतम स्थान भी प्राप्त किया जा सकता है। शिक्षा आयोग का सुझाव है कि भारतीय विश्वविद्यालय भी इस प्रथा का अनुसरण कर सकते हैं।

(8) केवल उत्तम पाठ्य पुस्तकों का निर्माण ही सब कुछ नहीं है। शिक्षकों के उपयोग हेतु निर्देशिकाएं तथा अन्य शिक्षण सहायक सामग्री का प्रकाशन भी विभाग को करना चाहिए। अमेरिका में तो स्नातक स्तर के शिक्षकों के लिए भी अनेक नवीन विषयों में निर्देशन पुस्तिकाएं प्रकाशित की जाती हैं। गणित, विज्ञान, टेकनालाजी आदि विषयों में यह विशेष रूप से आवश्यक है।

(9) पुस्तक निर्माण की प्रक्रिया में सैद्धांतिक, निर्माण या उत्पादन तथा वितरण, तीन पक्ष सम्मिलित है। प्रथम पक्ष सैद्धांतिक है जिसका संबंध पाठ्य पुस्तकें लिखवाना, उन्हें चला कर देखना तथा उनका मूल्यांकन करना आदि से रहता है। उत्पादन या निर्माण कार्य या तो विभाग स्वयं करे या किसी को सौंपे तथा तीसरा कार्य वितरण के लिए छात्र-सहकारी भंडारों के माध्यम की सहायता लेना उचित होगा। कोठारी शिक्षा आयोग की स्पष्ट सिफारिश इस कार्य को विभाग द्वारा न करने से संबंधित है।

(10) राष्ट्रीय स्तर पर योग्य लेखकों तथा प्रतिभाओं को एकत्रित करके उत्तम पुस्तकों को लिखाने का कार्य केंद्र द्वारा विकसित स्वतंत्र संगठन द्वारा किया जाना चाहिए। यह कार्य विद्यालय एवं विश्वविद्यालय दोनों स्तरों के लिए कराया जाए।

(11) एन० सी० ई० आर० टी० दिल्ली ने अनेक विषयों पर अच्छी पुस्तकें

प्रकाशित की हैं । इन पुस्तकों को सुविधानुसार तथा आवश्यकतानुसार परिवर्तन करके उपयोग में ला सकते हैं ।

(12) विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा शिक्षा मंत्रालय ने विकसित राष्ट्रों से संबंध स्थापित करके विश्वविद्यालयीय स्तर की अनेक उत्तम पुस्तकों का अनुवाद क्षेत्रीय भाषाओं में कराया है । यह एक उत्तम कार्य किया गया है । साथ ही भारतीय लेखकों से भी उत्तम पुस्तकें लिखवानी चाहिए ।

(13) कुछ उत्तम पुस्तकों का प्रकाशन राष्ट्रीय स्तर पर किया जाए तथा इन पुस्तकों को प्रत्येक राज्य में बालक पढ़ें । इससे राष्ट्रीय एकता के विकास में सहायता मिलेगी ।

(14) प्राथमिक, माध्यमिक तथा विश्वविद्यालयीय स्तरों पर शिक्षण स्तर को उच्च बनाने तथा संपूर्ण राष्ट्र में लगभग समानता लाने की दृष्टि से यह उपयोगी होगा कि केंद्र अनेक विषयों में विशेषत: विज्ञान, गणित आदि विषयों में उत्तम स्तर की पुस्तकों को प्रकाशित करे तथा राज्य इन्हें अपनाए ।

(15) राज्य एवं केंद्र को पाठ्य पुस्तकों के अतिरिक्त शिक्षण सहायक सामग्री आदि का भी प्रकाशन कराना चाहिए । इसके अंतर्गत फिल्म, टेप, शिक्षक निर्देशिकाएं आदि सम्मिलित की जा सकती हैं ।

पाठ्य पुस्तक के उपयोग हेतु सुझाव

पाठ्य पुस्तक के उपयोग हेतु निम्न सुझाव दिए जाते हैं :

(1) पाठ्य पुस्तक को शिक्षण कार्य का उपकरण तथा पूरक मानना चाहिए ।

(2) पाठ्य पुस्तक शिक्षण एवं सीखने को सरल बनाती है तथा पाठ्यवस्तु के ज्ञान की सीमाओं को निश्चित करती है । अत: इनका उपयोग पाठ्यवस्तु के ज्ञान के सीमा-ज्ञान ज्ञात करने, शिक्षण क्रम रखने, अभ्यास देने की दृष्टि से किया जाना चाहिए ।

(3) पाठ्य-पुस्तक का उपयोग इस प्रकार करना चाहिए कि बालक ज्ञान, विज्ञान, कला, संस्कृति के संबंध में चिंतन करके तत्संबंध में अपने भावों की अभिव्यक्ति कर सके । उसमें समुचित कल्पना का विकास हो ।

(4) पाठ्य पुस्तक के अध्ययन से बालक में आगे और भी अधिक ज्ञान प्राप्ति की क्षमता का विकास होना चाहिए ।

(5) पाठ्य पुस्तक में वर्णित बातों को अंतिम तथ्य के रूप में ही स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए । इन्हें तार्किक दृष्टिकोण से ही ग्रहण करना चाहिए ।

(6) पाठ्य पुस्तक में वर्णित बातों पर चर्चा करने के लिए इनसे संबंधित

तथ्य जहां-जहां और उपलब्ध हो सकते हों बालकों को उनका संदर्भ दिया जाए तथा चर्चा के पूर्व उन्हें उन संदर्भों से तथ्य पढ़ने की सुविधाएं दी जाएं।

(7) पाठ्य पुस्तक को केवल पढ़ने से लाभ नहीं होता है। इनमें वर्णित तथ्यों पर विचार-विमर्श अवश्य होना चाहिए तथा बालकों को स्वयं अपना दृष्टिकोण तर्क-वितर्क के उपरान्त विकसित करने की प्रेरणा देनी चाहिए।

25

छात्र असंतोष

पिछली दो शताब्दियों से यह देखने में आ रहा है कि युवक लगातार अधिक महत्त्व तथा स्वतंत्रता के लिए आगे आ रहे हैं। 18वीं एवं 19वीं सदी में तो ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जब युवकों ने स्थितियों में परिवर्तन हेतु आंदोलन किए हैं। रूसो, मांटेसरी तथा अन्य सुधारवादी शिक्षाशास्त्री बालक को शिक्षा का केंद्र बनाने पर बल देते आ रहे हैं। वर्तमान में तो विकसित राष्ट्रों में बालक ही शिक्षा का प्रमुख तत्त्व एवं केंद्र होता है तथा विकसित राष्ट्रों में भी इस दिशा में कार्य प्रगति पर है। परंतु वर्तमान में छात्र-असंतोष भारत तथा संसार के अन्य देशों में बहुत अधिक दिखाई दे रहा है। यह असंतोष विरोधी नारों के लगाने से लेकर तोड़फोड़, मारपीट, आग लगाने आदि तक के रूप में प्रदर्शित किया जाता है। रेनू मेहू यूनेस्को के डायरेक्टर जनरल ने एक बार इसीलिए कहा था कि "युवकों का यह विद्रोह संसार के सभी भागों में दिखाई देता है। इसने केवल विश्वविद्यालयों के विरोध में ही नहीं वरन् संपूर्ण समाज के विरोध में भी खुले झगड़े का स्वरूप ग्रहण किया है। अपनी निश्चित आवश्यकताओं के कारण ये संसार के अन्याय एवं अव्यवस्था को कम सहन कर पाते हैं।"

छात्र-असंतोष वर्तमान काल में ही नहीं भूतकाल में भी विद्यमान रहा है। नेपोलियन के युद्धों के बाद जर्मनी में युवक आंदोलनों की लम्बी परंपरा सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में रही है। अमरीका तथा लेटिन अमरीका में रंग भेद के विरोध में अनेक आंदोलन युवकों द्वारा किए गए। इंडोनेशिया में साम्यवाद के विरोध में युवक आंदोलन चले। जापान (1960), कोरिया (1960), टर्की (1960), दक्षिण वियतनाम (1963), सूडान (1964), आदि अनेक देशों के युवक आंदोलन अति प्रसिद्ध हैं। फ्रांस में तो युवक आंदोलनों ने सन्

1968 में संपूर्ण देश को हिला दिया था। विदेशों का 'हिप्पी' आंदोलन भी छात्र-असंतोष का ही एक रूप है।

छात्र असंतोष के कारण

वास्तव में वर्तमान में छात्र बहुत अधिक असंतुष्ट एवं विचलित हैं। इसके अनेक कारण हैं। विकसित देशों में जब भी छात्रों को अपनी राय या मत का प्रभाव समुचित रूप से प्रभावी न हो सकने की संभावना रही है, उन्होंने प्रदर्शन या अन्य विधियों से अपने मत की पुष्टि की है। परंतु यह उन्हें प्रभावित करने वाली बातों के संबंध में उनके अधिकारों के प्रदर्शन से संबंधित ही रहा है। विकसित देशों में छात्र असंतोष ने यह सिद्ध किया है कि उनके मत की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। परंतु विकसित देशों में छात्र-असंतोष राजनैतिक दल-बंदी से अलग ही रहा है। तथा इसीलिए सरकारों ने इनकी बातों को अधिक मान्यता दी है। विकसित देशों में सामाजिक सुरक्षा एवं निश्चित आमदनी का आश्वासन रहने से छात्र-असंतोष शिक्षा सुविधाओं की वृद्धि से ही अधिक संबंधित रहा है। इन देशों में शिक्षा के अवसर एवं अवधि अधिक होने से तथा आर्थिक संपन्नता के कारण छात्रों को राष्ट्र के कार्यों में अधिक प्रभावी एवं सक्रिय भूमिका अदा करने के लिए अधिक समय देने की सुविधा रही है। विकसित देशों में 'युवक संस्कृति' का विकास भी नवीन प्रवृत्ति के रूप में स्पष्ट दिखाई दे रहा है। प्राचीन या पुराने से विरोधी तथा नवीन के प्रति आकर्षण भी विकसित देशों में अधिक दिखाई देता है। विकसित देशों में अधिकांशतः छात्र-असंतोष राष्ट्र के मामलों में सहभागी होने की दृष्टि से ही अधिक किए जाते हैं। कुछ छात्र-संगठनों ने सहभागी के पक्ष को महत्त्व कम देकर अपनी बात मनवाने की ओर अधिक ध्यान दिया है परंतु सामान्यतः प्रवृत्ति यही है कि उन्हें राष्ट्र के जीवन में अधिक से अधिक सहभागी होने की सुविधाएं एवं अवसर दिए जाएं।

विकसित हो रहे राष्ट्रों में स्थिति कुछ भिन्न है। विकसित हो रहे राष्ट्रों में शिक्षा का विकास गति से ही किया जा रहा है। फलस्वरूप यह स्वाभाविक है कि शिक्षा में अंतर के कारण बूढ़ों और युवकों के विचारों में अंतर अधिक हो। यह भी स्वाभाविक है कि अपने पूर्वजों की तुलना में इन नए पढ़े लिखे युवकों को एवं देश के कार्यों के संबंध में नए ढंग से सहभागी होने के भिन्न अवसर मिले। यही कारण है कि विकसित हो रहे देशों में छात्र-आंदोलनों का संबंध राजनीति तथा राजनैतिक संगठनों से अधिक रहा है। भारत, लेटिन अमरीका, अफ्रीका आदि देशों में शासन बदलने में या देश को स्वतंत्र कराने

में छात्रों का सहयोग अधिक रहा है। विकसित हो रहे राष्ट्रों के आर्थिक साधन सीमित होते हैं तथा हो रहे भौतिक सुख सुविधाओं के विकास के वाद भी सभी को समुचित लाभ इस विकास से नहीं मिल पाता है। छात्रों को भी समाज के विकास का लाभ ठीक रूप से न मिल पाने के कारण तथा वेरोजगारी अधिक होने के कारण विकसित हो रहे राष्ट्रों में छात्र-आंदोलनों के द्वारा देश के विकास की दिशा में कार्य किए जाते हैं या उन सरकारों के पतन में सहयोग दिया जाता है जो समाज के समुचित विकास में पर्याप्त रूप से कार्यशील नहीं हो रही है।

भारत भी एक विकसित हो रहा राष्ट्र है तथा यहां छात्रों का वहुत अधिक सहयोग देश को स्वतंत्रता दिलवाने में रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के वाद देश के युवकों ने राजनैतिक एवं अन्य कार्यों के लिए अनेक आंदोलन किए हैं। इनमें से कुछ तो समाज हित में रहे हैं तथा अनेक ऐसे भी हुए हैं जो समाज हित में साधक नहीं रहे। वर्तमान में गुजरात में छात्रों ने महंगाई को कम करके वस्तुओं को समाज के उपयोग हेतु उपलब्ध कराने के लिए जो छात्र-आंदोलन चलाया, वह समाज हित में साधक रहा परंतु परीक्षाओं में नकल करने, विश्वविद्यालय में अधिकारियों को हटाने या पाठ्य विषयों को कम करके या तीन वर्षीय पाठ्यक्रम के स्थान में एक या दो वर्षीय पाठ्यक्रम को परीक्षा हेतु निर्धारित कराने के लिए जो छात्र-आंदोलन चले हैं या चल रहे हैं, मैं नहीं समझती कि इनसे छात्रों को या समाज को कोई लाभ होगा। बंगाल, विहार में नक्सलवादियों के साथ छात्रों ने जो समाज सुधार के नाम पर सहयोग दिया है, वह भी समाज हित में कितना साधक होगा कहा नहीं जा सकता है। भारत में वर्तमान में छात्र-आंदोलन तथा छात्र-असंतोष की स्थिति वड़ी चिंताजनक है। जहां तहां उग्र प्रदर्शन, तोड़फोड़, लूटपाट, हिंसा आदि के कारण जन-जीवन त्रस्त हो गया है। यह छात्र-आंदोलन चाहे वेकारी के कारण हो या पुराने या नए के आयु भेद के कारण या महंगाई के कारण पालकों द्वारा छात्रों की उचित देखरेख न कर सकने के कारण या राजनैतिक दलवंदी के कारण, शहर एवं देहात के भेद एवं सुख सुविधाओं के अधिक अंतर के कारण हो, या शिक्षा व्यवस्था ठीक न हो सकने के कारण या व्यक्तिगत स्वतंत्रता अधिकाधिक उपलब्ध कराने की दृष्टि से हो, राष्ट्र को चिंता में अवश्य डुबाए है। भारत में छात्र-असंतोष ने जो रूप ग्रहण किया है उसके संबंध में श्री पी० एन० भट्ट का विचार है कि यह केवण शैक्षणिक समस्या ही नहीं है। यह एक कानून एवं व्यवस्था का प्रश्न भी नहीं है। इसका संबंध तो हमारी सामाजिक, आर्थिक राजनैतिक तथा ऐतिहासिक संरचना से है। छात्र हमारे समाज के अंग हैं तथा

1968 में संपूर्ण देश को हिला दिया था। विदेशों का 'हिप्पी' आंदोलन भी छात्र-असंतोष का ही एक रूप है।

छात्र असंतोष के कारण

वास्तव में वर्तमान में छात्र बहुत अधिक असंतुष्ट एवं विचलित हैं। इसके अनेक कारण हैं। विकसित देशों में जब भी छात्रों को अपनी राय या मत का प्रभाव समुचित रूप से प्रभावी न हो सकने की संभावना रही है, उन्होंने प्रदर्शन या अन्य विधियों से अपने मत की पुष्टि की है। परंतु यह उन्हें प्रभावित करने वाली बातों के संबंध में उनके अधिकारों के प्रदर्शन से संबंधित ही रहा है। विकसित देशों में छात्र असंतोष ने यह सिद्ध किया है कि उनके मत की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। परंतु विकसित देशों में छात्र-असंतोष राजनैतिक दल-बंदी से अलग ही रहा है। तथा इसीलिए सरकारों ने इनकी बातों को अधिक मान्यता दी है। विकसित देशों में सामाजिक सुरक्षा एवं निश्चित आमदनी का आश्वासन रहने से छात्र-असंतोष शिक्षा सुविधाओं की वृद्धि से ही अधिक संबंधित रहा है। इन देशों में शिक्षा के अवसर एवं अवधि अधिक होने से तथा आर्थिक संपन्नता के कारण छात्रों को राष्ट्र के कार्यों में अधिक प्रभावी एवं सक्रिय भूमिका अदा करने के लिए अधिक समय देने की सुविधा रही है। विकसित देशों में 'युवक संस्कृति' का विकास भी नवीन प्रवृत्ति के रूप में स्पष्ट दिखाई दे रहा है। प्राचीन या पुराने से विरोधी तथा नवीन के प्रति आकर्षण भी विकसित देशों में अधिक दिखाई देता है। विकसित देशों में अधिकांशतः छात्र-असंतोष राष्ट्र के मामलों में सहभागी होने की दृष्टि से ही अधिक किए जाते हैं। कुछ छात्र-संगठनों ने सहभागी के पक्ष को महत्त्व कम देकर अपनी बात मनवाने की ओर अधिक ध्यान दिया है परंतु सामान्यतः प्रवृत्ति यही है कि उन्हें राष्ट्र के जीवन में अधिक से अधिक सहभागी होने की सुविधाएं एवं अवसर दिए जाएं।

विकसित हो रहे राष्ट्रों में स्थिति कुछ भिन्न है। विकसित हो रहे राष्ट्रों में शिक्षा का विकास गति से ही किया जा रहा है। फलस्वरूप यह स्वाभाविक है कि शिक्षा में अंतर के कारण बूढ़ों और युवकों के विचारों में अंतर अधिक हो। यह भी स्वाभाविक है कि अपने पूर्वजों की तुलना में इन नए पढ़े लिखे युवकों को एवं देश के कार्यों के संबंध में नए ढंग से सहभागी होने के भिन्न अवसर मिले। यही कारण है कि विकसित हो रहे देशों में छात्र-आंदोलनों का संबंध राजनीति तथा राजनैतिक संगठनों से अधिक रहा है। भारत, लेटिन अमरीका, अफ्रीका आदि देशों में शासन बदलने में या देश को स्वतंत्र कराने

में छात्रों का सहयोग अधिक रहा है। विकसित हो रहे राष्ट्रों के आर्थिक साधन सीमित होते हैं तथा हो रहे भौतिक सुख सुविधाओं के विकास के बाद भी सभी को समुचित लाभ इस विकास से नहीं मिल पाता है। छात्रों को भी समाज के विकास का लाभ ठीक रूप से न मिल पाने के कारण तथा वेरोजगारी अधिक होने के कारण विकसित हो रहे राष्ट्रों में छात्र-आंदोलनों के द्वारा देश के विकास की दिशा में कार्य किए जाते हैं या उन सरकारों के पतन में सहयोग दिया जाता है जो समाज के समुचित विकास में पर्याप्त रूप से कार्यशील नहीं हो रही है।

भारत भी एक विकसित हो रहा राष्ट्र है तथा यहां छात्रों का बहुत अधिक सहयोग देश को स्वतंत्रता दिलवाने में रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश के युवकों ने राजनैतिक एवं अन्य कार्यों के लिए अनेक आंदोलन किए हैं। इनमें से कुछ तो समाज हित में रहे हैं तथा अनेक ऐसे भी हुए हैं जो समाज हित में साधक नहीं रहे। वर्तमान में गुजरात में छात्रों ने महंगाई को कम करके वस्तुओं को समाज के उपयोग हेतु उपलब्ध कराने के लिए जो छात्र-आंदोलन चलाया, वह समाज हित में साधक रहा परंतु परीक्षाओं में नकल करने, विश्वविद्यालय में अधिकारियों को हटाने या पाठ्य विषयों को कम करके या तीन वर्षीय पाठ्यक्रम के स्थान में एक या दो वर्षीय पाठ्यक्रम को परीक्षा हेतु निर्धारित कराने के लिए जो छात्र-आंदोलन चले हैं या चल रहे हैं, मैं नहीं समझती कि इनसे छात्रों को या समाज को कोई लाभ होगा। बंगाल, विहार में नक्सलवादियों के साथ छात्रों ने जो समाज सुधार के नाम पर सहयोग दिया है, वह भी समाज हित में कितना साधक होगा कहा नहीं जा सकता है। भारत में वर्तमान में छात्र-आंदोलन तथा छात्र-असंतोष की स्थिति बड़ी चिंताजनक है। जहां तहां उग्र प्रदर्शन, तोड़फोड़, लूटपाट, हिंसा आदि के कारण जन-जीवन त्रस्त हो गया है। यह छात्र-आंदोलन चाहे वेकारी के कारण हो या पुराने या नए के आयु भेद के कारण या महंगाई के कारण पालकों द्वारा छात्रों की उचित देखरेख न कर सकने के कारण या राजनैतिक दलवंदी के कारण, शहर एवं देहात के भेद एवं सुख सुविधाओं के अधिक अंतर के कारण हो, या शिक्षा व्यवस्था ठीक न हो सकने के कारण या व्यक्तिगत स्वतंत्रता अधिकाधिक उपलब्ध कराने की दृष्टि से हो, राष्ट्र को चिंता में अवश्य डुबाए है। भारत में छात्र-असंतोष ने जो रूप ग्रहण किया है उसके संबंध में श्री पी० एन० भट्ट का विचार है कि यह केवण शैक्षणिक समस्या ही नहीं है। यह एक कानून एवं व्यवस्था का प्रश्न भी नहीं है। इसका संबंध तो हमारी सामाजिक, आर्थिक राजनैतिक तथा ऐतिहासिक संरचना से है। छात्र हमारे समाज के अंग हैं तथा

जब समाज में आमतौर पर वर्तमान से तीव्र असंतोष व्याप्त है छात्र उससे अछूते कैसे रह सकते हैं ? ऐतिहासिक दृष्टि से भी अंगरेज सरकार को बदलने के लिए असहयोग का उदाहरण उनके सामने है। वर्तमान में भी वे अपनी मांगों को पूर्ण कराने के लिए यदि असहयोग का सहारा लें तो आश्चर्य क्यों होना चाहिए। आर्थिक अभाव, सामाजिक विषमता, परंपरागत मूल्यों का ह्रास, समाज के नैतिक जीवन का पतन, बेकारी, शिक्षा का खोखलापन, राजनैतिक दलबंदी तथा उनका हस्तक्षेप आदि अनेक बातें ऐसी हैं जिसने हमारे देश के युवकों को उद्वेलित एवं विचलित किया है। विश्वविद्यालय आयोग 1948 का कथन है कि छात्र अनुशासनहीनता लोकतंत्र की सुरक्षा एवं प्रभाव के लिए हानिकारक है। जवाहरलाल नेहरू ने 1954 में छात्र-असंतोष के निम्न तीन कारण बतलाए :

(1) दलबंदी तथा राजनैतिक तोड़फोड़ जो बौद्धिक जीवन को तहस-नहस करती है।

(2) विभिन्न स्तरों पर उत्तम शिक्षकों का अभाव।

(3) अंतिम परीक्षा को अनावश्यक महत्त्व।

केंद्रीय शिक्षा विभाग में शिक्षा सलाहकार प्रोफेसर कबिर का कथन था कि शिक्षण संस्थाओं, परीक्षाओं, पाठ्यक्रमों पर राजनैतिक व्यक्तियों के अधिकार तथा आर्थिक कठिनाइयां, शिक्षा का अत्यधिक बौद्धिक होना छात्र-असंतोष के प्रमुख कारण हैं। देश में इन छात्र-आंदोलनों के होने पर पुलिस की सहायता से स्थिति पर काबू पाने के प्रयास किए गए हैं तथा अनेक समितियों का गठन इनके कारणों को जानने तथा सुधार के उपाय बतलाने हेतु किया गया है। इन समितियों ने भारत में छात्र-असंतोष के जो कारण बताए हैं उन्हें निम्न श्रेणियों में अध्ययन सुविधा हेतु रखा जा सकता है :—

(1) छात्रों से स्वयं संबंधित कारण

(अ) संवेगात्मक अपरिपक्वता।
(ब) अनुत्तरदायित्वपूर्ण जीवन जीने की आदत।
(स) दूसरों के बहकावे में आना।
(द) स्वार्थों का संघर्ष या स्वार्थों में टकराव।
(इ) अधिक अतिरिक्त शक्ति का सदुपयोग न होना।
(उ) हताश होना तथा कम आयु में विश्वविद्यालयों में प्रवेश।
(क) छात्र संगठनों में आपसी द्वेष।
(ख) छात्रों का संस्थाओं में राजनीतिज्ञों के रूप में विकास।

(2) **बालकों तथा समाज से संबंधित कारण**

(अ) छात्रों में समुचित रुचि प्रदर्शित न करना।
(ब) छात्रों से सहयोग न करना।
(स) गरीबी।
(द) समाज का वातावरण ठीक न होना।
(इ) सार्वजनिक नैतिकता का ह्रास।
(उ) महंगाई अत्यधिक होने से त्रस्त जीवन होने से छात्रों की उचित मांगों की पूर्ति न करना तथा उनका ठीक से विकास न कर पाना।

(3) **राजनैतिक कारण**

(क) राजनैतिक दलों का अनधिकृत हस्तक्षेप।
(ख) राजनैतिक दलों का छात्रों को भड़काना।

(4) **प्रशासन से संबंधित कारण**

(अ) शिक्षा प्रशासन तथा सामान्य प्रशासन की लालफीताशाही के कारण छात्रों की उचित मांगों पर समय पर ध्यान न देना।
(ब) प्रशासन में दलबंदी होना तथा उनके द्वारा छात्रों का अपने हित हेतु उपयोग किया जाना।
(स) प्रशासन का संकुचित एवं अधिकारिक दृष्टिकोण होना।
(द) छात्र-कल्याण गतिविधियों का प्रावधान न करना।
(इ) मानव-संबंध को समुचित रूप से विकसित न करना।

(5) **शिक्षक तथा शिक्षा से संबंधित कारण**

(अ) शिक्षा अनुपयोगी सिद्ध होना।
(ब) शिक्षण विधियां परंपरागत एवं नीरस होना।
(स) पाठ्यक्रम का उचित न होना।
(द) परीक्षा प्रणाली दूषित होना तथा शिक्षण की अपेक्षा परीक्षाओं पर अधिक बल देना।
(इ) शिक्षकों में दलबंदी।
(उ) छात्रों से समुचित संबंध एवं संपर्क न होना।
(क) शिक्षकों का कम ज्ञानवान तथा इनकी आर्थिक स्थिति कमजोर होना।

(ख) शिक्षक राजनीतिज्ञों का संस्थाओं में विकास।

(6) अन्य कारण

(अ) सिनेमा का प्रभाव।
(ब) संस्कृतियों का टकराव।
(स) यातायात तथा विचार-विनिमय के साधनों की सुगमता के कारण झगड़ों का गति से फैलना।
(द) फैशन तथा पाश्चात्य प्रभाव।
(इ) समाज के लोगों का नैतिक पतन तथा आदर्श जीवन न जीना।
(उ) जीवन की यथार्थताओं से दूर भागना।
(क) अनुत्तरदायित्वपूर्ण जीवन जीने की आदत पड़ना।
(ख) फीस अधिक लेना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि छात्र असंतोष के अनेक तथा विविध कारण विभिन्न समितियों ने बताए हैं। इनकी सूची और भी विकसित की जा सकती है। इनमें व्यक्तिगत, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, शैक्षिक, सभी प्रकार के कारण सम्मिलित हैं।

छात्र असंतोष दूर करने हेतु सुझाव

छात्र असंतोष को दूर करने के संबंध में अनेक विद्वानों, नेताओं तथा समितियों ने सुझाव दिए हैं। हुमायुं कबिर ने इस समस्या पर काफी विचार किया तथा सुझाव दिया कि पाठ्यक्रम की बौद्धिकता एवं स्थिरता को कम किया जाना चाहिए, शिक्षण संस्थाओं में राजनैतिक हस्तक्षेप बंद होना चाहिए तथा बच्चों की आर्थिक स्थितियों को सुधारने हेतु छात्रवृत्ति, व्यावसायिक शिक्षा आदि की समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए।

सन् 1954 में जवाहरलाल नेहरू ने सुझाव दिया था कि महाविद्यालयों में सदन विधि का विकास करके सामाजिक गतिविधियों की समुचित व्यवस्था तथा स्वयं नियंत्रित जीवन जीने का अभ्यास कराया जाना चाहिए। इसी दृष्टि से उन्होंने मुख्यमंत्रियों को आदेश दिए कि विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में भौतिक तथा सामाजिक सुविधाओं को उन्नत किया जाना चाहिए।

सन् 1955 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने छात्र-असंतोष की समस्या पर पूर्णरूपेण विचार करके सुझाया कि विश्वविद्यालयों में छात्रों के डीन या अध्यक्ष की नियुक्ति की जानी चाहिए। छात्रों के डीन का उत्तरदायित्व छात्र कल्याण की देखरेख तथा छात्र-अनुशासन बनाए रखना होना चाहिए। इसके

साथ ही यह भी सुझाया कि प्रत्येक 15 से 20 छात्रों के समूह को किसी व्याख्याता के मार्गदर्शन में रखा जाए जो छात्रों में डीन के सहयोगी के रूप में कार्य करें।

सन् 1958 में पुनः विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने दीवान आनंदकुमार की अध्यक्षता में शिक्षाशास्त्रियों एवं छात्रों के प्रतिनिधियों की एक समिति का गठन छात्र-असंतोष की समस्या पर पूर्णरूपेण विचार करने हेतु किया। सन् 1960 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने इस समिति की सभी सिफारिशों को मान्य किया। इन सिफारिशों में महाविद्यालयों में छात्रों की संख्या 1000 तक सीमित करना, विश्वविद्यालयों में 16 तथा 17 की आयु में छात्रों को प्रवेश देना, प्रवेश योग्यता के आधार पर देना, शिक्षक-छात्र संबंधों का अधिक विकास, शिक्षकों के वेतनमान उन्नत करना, शिक्षकों की नियुक्ति सावधानीपूर्वक करना जिससे वहुत योग्य एवं नैतिक व्यक्ति शिक्षक वनें, शिक्षकों को राजनीति से अलग रखने के लिए शिक्षक विधान सभा सीटों को पृथक निर्मित करना, विश्वविद्यालयों में राजनीति का प्रवेश न होने देना, कुलपतियों का चुनाव दिल्ली विश्वविद्यालय में अपनाई जा रही विधि द्वारा करना तथा राज्यपालों को विश्वविद्यालयों का चांसलर न वनाना, छात्रावासों की वृद्धि, छात्र संगठनों एवं शिक्षकों के संबंधों की वृद्धि, छात्रों को व्यावसायिक एवं नैतिक मार्गदर्शन उपलब्ध कराना, आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

परंतु इन उपायों को अभी पूर्णरूपेण लागू किया ही नहीं जा पाया था कि यह देखा गया कि देश में छात्र-असंतोष की स्थिति और भी खराव हो गई है। अतः शिक्षा आयोग ने भी छात्र-असंतोष की समस्या पर विचार किया तथा सुझाया कि छात्र सेवाओं को सवल वनाया जाए, नवीन छात्रों का ओरियेन्टेशन प्रवेश के समय समूह विचार-विमर्श एवं व्यक्तिगत निर्देशन द्वारा किया जाए, छात्र स्वास्थ्य सेवाओं को उन्नत किया जाए, छात्रावासों की वृद्धि की जाए एवं शहरों में छात्र-स्वाध्याय केंद्र विकसित किए जाएं, छात्रों के मार्ग-दर्शन हेतु परामर्श सेवाओं को विकसित किया जाए, छात्र संघों की उचित व्यवस्था, शिक्षण व्यवस्था को सुधारा तथा शैक्षिक स्तर को उच्च बनाया जाए।

सन् 1965 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने डा० त्रिगुन सेन की अध्यक्षता में छात्र कल्याण तथा सहायक बातों पर विचार करने हेतु एक समिति का गठन किया। इस समिति का कार्य दीवान आनंद कुमार समिति के छात्र असंतोष तथा अनुशासनहीनता को सुधारने हेतु दिए गए सुझावों को कार्यान्वित करने हेतु सुझाव देना भी था।

छात्रों के व्यक्तिगत एवं सामूहिक अनुशासनहीनता के कार्यों में मेल करना, अनुशासनहीनता का व्यवहार करने वाले छात्रों की ओर ध्यान देना तथा उनके इस

प्रकार के व्यवहार के कारण ज्ञात करना, छात्रों के असंतोष को दूर करने के शक्ति भर प्रयास करना, कार्यक्रमों के निर्धारण एवं अन्य निर्णयों के लेने में छात्रों का सहयोग लेना, शिक्षा को रोजगार से संबंधित करना, राजनैतिक दल विश्वविद्यालयों में हस्तक्षेप न कर सकें इसके लिए प्रभावी कदम उठाना, उत्तम शिक्षकों की नियुक्ति, रुचियों के अनुसार शिक्षा-व्यवस्था, छात्रावासों की वृद्धि तथा उनमें सीमित संख्या में छात्रों का निवास, छात्र-गृहों की संख्या एवं सुविधा वृद्धि, छात्र-परामर्श की उचित व्यवस्था, महाविद्यालयों को संबद्ध करते समय निम्नतम आवश्यकताओं की पूर्ति का ध्यान, प्रवेश में चयनात्मक प्रणाली, प्रभावी स्वास्थ्य सेवा गठन, छात्रवृत्तियों की संख्या एवं रकम में वृद्धि, छात्रों को इस बात की प्रतीति कराना कि परीक्षा, पाठ्यक्रम, शिक्षण स्तर, शिक्षकों की नियुक्ति आदि ऐसी बातें हैं जिनमें छात्रों को हस्तक्षेप न करना चाहिए आदि सुझाव त्रिगुण सेन समिति ने दिए। त्रिगुण सेन समिति के सुझावों को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने मान्य किया तथा विश्वविद्यालयों को इनके अनुसार कार्य करने के लिए कहा। इस समिति के प्रतिवेदन को राज्य सरकारों को केंद्रीय सरकार के माध्यम से भेजा गया तथा अपेक्षा की गई कि छात्र कल्याण विकास हेतु इन सुझावों का उपयोग किया जाएगा।

सन् 1966 अक्तूबर में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष ने छात्र अनुशासनहीनता की समस्या पर विचार-विमर्श हेतु चुने हुए विश्वविद्यालयों के कुलपतियों तथा शिक्षाशास्त्रियों की संगोष्ठी की। इस संगोष्ठी में त्रिगुण सेन समिति के प्रतिवेदन पर भी विचार किया गया। इस संगोष्ठी ने सुझाव दिया कि शिक्षण संस्थाओं के वातावरण को उन्नत बनाने हेतु छात्रों के डीन की नियुक्ति उन विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में की जाए जहां अभी तक ऐसा नहीं किया गया है तथा छात्रों के डीन के संगठन को सबल बनाने के प्रयास किए जाने चाहिए। विश्वविद्यालयों में सूचना एवं रोजगार ब्यूरो को सुसंगठित एवं प्रभावी बनाया जाना चाहिए। इस संगोष्ठी ने छात्रावासों की संख्यावृद्धि, जरूरतमंद छात्रों को आवश्यक मनोरंजक, आर्थिक तथा मेडीकल सहायता प्रदान करना, ग्रंथालयों को उन्नत बनाना तथा इनकी संख्या वृद्धि करना, शिक्षक छात्र संपर्क और उन्नत बनाना, कैम्पस में छात्रों का सहयोग शांतिपूर्ण जीवन के विकास हेतु लेना तथा प्रोक्टोरल व्यवस्था विकास करना, छात्र-कल्याण, अनुशासन तथा संबंधित विषयों पर विचार करते समय छात्रों का सहयोग लेना, आदि उपायों को अपनाया जाए। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने इन सिफारिशों को विश्वविद्यालयों को कार्यान्वित करने हेतु भेजा तथा इस दिशा में कार्य भी किया गया। अप्रैल सन् 1967 में राज्य शिक्षा मंत्रियों की बैठक में

भी छात्र-अनुशासनहीनता की स्थिति पर विचार किया गया। इस वैठक में शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर नैतिक शिक्षा के शिक्षण को प्रारंभ करने संवंधी सुझाव दिया गया। सितम्बर 1967 में सभी विश्वविद्यालयों के कुलपतियों की वैठक में भी छात्र अनुशासनहीनता की समस्या पर विचार किया गया। इस वैठक में प्रस्ताव पास करके यह निश्चित किया गया कि छात्र सेवाओं तथा छात्र कल्याण कार्यक्रमों को महत्त्व देना, छात्रावासों की वृद्धि तथा राष्ट्रीय सेवा की शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर व्यवस्था करना, छात्र संघों को छात्र नैतिकता के विकास हेतु रचनात्मक भूमिका करना तथा एक उत्तरदायित्वपूर्ण संस्था के रूप में कार्यरत रहना, विश्वविद्यालयों तथा शिक्षण संस्थाओं से शैक्षणिक कमियों एवं दोषों को दूर करना आदि उपाय छात्र-अनुशासनहीनता की समस्या के हल हेतु अपनाए जाने चाहिए। इस समय पर सन् 1969 में विश्वविद्यालयों के कुलपतियों की वैठक में भी विचार किया गया। इस वैठक में छात्रों को छात्रावास, ग्रंथालय, केंटीन, खेलकूद, सांस्कृतिक कार्यक्रमों आदि की व्यवस्था में प्रभावी सहयोग, अनुशासन वनाए रखने में सहायता के रूप में छात्रों का सहयोग लेने तथा अनुशासनहीनता के मामलों पर विचार करने हेतु कुछ छात्रों की समिति के गठन, छात्रों की कठिनाइयों पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करना आदि सुझाव दिए गए।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने छात्र-अनुशासनहीनता तथा छात्र-असंतोष के संवंध में आवश्यक निर्देशक नियम तथा सामान्य ढांचा सुझाने हेतु एक 'कार्यकारी समूह' का गठन भी किया है। इस 'कार्यकारी समूह' की सिफारिश पर विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने छात्र-असंतोष की समस्या पर अध्ययन हेतु प्रस्ताव भी आमंत्रित किए हैं।

29 फरवरी, 1969 को लोक सभा में एक विल गैरसरकारी सदस्यों की ओर से प्रस्तुत किया गया। इस विल का उद्देश्य छात्रों में सहभागी होने तथा उन्हें उत्तरदायित्व का प्रशिक्षण देने हेतु छात्र संघों का गठन तथा शिक्षक-छात्र संयुक्त समितियों का विकास करना था।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की ओर से व्यवस्थित छात्रों के प्रतिनिधियों की सभाओं तथा वैठकों में भी छात्र-असंतोष एवं अनुशासनहीनता की समस्या पर विचार किया गया है। यूनेस्को की वैठकों में भी इस समस्या के संवंध में अनेक वार विचार किया गया है। परंतु इन सभी प्रयासों के वाद भी छात्र-असंतोष एवं अनुशासनहीनता कम होती दिखाई नहीं देती है। आशा है शिक्षक, पाठक, छात्र, सरकार, समाज सभी मिल कर इस कठिन समस्या का समुचित हल निकाल सकेंगे।

26

शैक्षिक नवाचार

शैक्षिक नवाचारों की आवश्यकता

वर्तमान युग विज्ञान और तकनीकी विकास का युग है। यह एक ऐसा संसार है जहां विज्ञान और तकनीकी ज्ञान को सतत् विकसित, परिवर्तित तथा नया स्वरूप प्रदान कर रहे हैं। अतः ऐसे संसार में यह स्वाभाविक ही है कि शिक्षा में ज्ञान को बच्चों में भरने पर बल न देकर ज्ञान के उपयोग पर अधिक बल दिया जाए। चूंकि ज्ञान अब जीवन भर विकसित और परिवर्तित होता है, शिक्षा के द्वारा ज्ञान के सिद्धांतों के अध्ययन तथा उनके उपयोग के अंतर को कम करने की दिशा में अधिक प्रयास किए जाएं। अब यह प्रतीति अधिक होती जा रही है कि शिक्षा देने के लिए बालक को 20 या 25 वर्षों की आयु तक समाज से अलग रह कर ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक नहीं है। उन्हें तो जल्दी से जल्दी समाज के यथार्थ जीवन, उत्पादन प्रक्रियाओं, स्वयं स्वतंत्र निर्णय लेने तथा उत्तरदायित्व वहन करने का अनुभव दिया जाना आवश्यक है। अतः अब शिक्षा के द्वारा व्यक्ति को सैद्धांतिक ज्ञान का निश्चित स्वरूप उपलब्ध करवाने की बात पुरानी तथा अनुपयोगी मानी जाती है। अब तो ऐसी शिक्षा को उपयोगी एवं आवश्यक माना जाने लगा है जो देश के आर्थिक उत्पादन तथा राष्ट्रीय विकास को गति दे तथा आगे बढ़ाए। शिक्षा को देश के आर्थिक उत्पादन तथा राष्ट्रीय विकास से संबद्ध करने की प्रक्रिया ने शिक्षा की विधि, ढांचे तथा पाठ्यक्रम आदि में अनेक परिवर्तन किए हैं। वर्तमान में शिक्षा के समान अवसरों की बात बहुत की जाती है। यह उचित भी है। लोकतंत्र में समाज के सभी प्रकार के लोगों को शिक्षा की समान सुविधाएं उपलब्ध होनी चाहिए परंतु इस प्रक्रिया में यह स्वाभाविक है कि समाज में उपलब्ध काम और शिक्षा के अवसरों में मेल न हो। समाज में आवश्यकता से अधिक लोग ऐसे कार्यों में शिक्षित

या प्रशिक्षित हो जाएं जिनमें रोजगार प्राप्ति की सुविधाएं न हों। वास्तव में रोजगार या नौकरी के स्थानों से शिक्षा को सीमित करना उचित नहीं है। समाज में ऐसी स्थिति का विकास कि शिक्षित प्रशिक्षित व्यक्ति अधिक तथा काम और नौकरी के स्थान कम हों, कोई बुराई नहीं है। ऐसी स्थिति विकसित करने वाली शिक्षा भी बुरी नहीं है। बुरी यह स्थिति है तथा ऐसी स्थिति का विकास करने वाली शिक्षा बुरी है जो ऐसे व्यक्तियों का विकास करे जो समाज में कोई उपयोगी उत्पादक कार्य लेना या करना ही नहीं चाहते हों। केवल दूसरों की या सरकार की नौकरी ही करना चाहते हों। यह अभाव या दिवालियापन बुरा है। इस स्थिति को लाने वाली शिक्षा बुरी है। शिक्षा के द्वारा व्यक्ति को अपना विकास स्वयं करने वाला बनना चाहिए। व्यक्ति को अपनी क्षमताओं के उपयोग की शक्ति रखने वाला बनना चाहिए। इस दृष्टि से शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति तथा बालक को किसी रोजगार या सामाजिक कार्य के लिए शिक्षा देना नहीं है। शिक्षा का उद्देश्य तो बालक को स्वयं अपना बनाना है जिससे वह समाज में अपनी क्षमताओं तथा प्राप्त कौशलों के आधार पर प्रभावी सामाजिक प्राणी बनकर जीवन जी सके न कि वह नौकरी और काम की खोज में फिरता हुआ निराश प्राणी बनकर समाज पर भार ही बने।

इस प्रकार की संख्यात्मक एवं उन्नत स्तर की शिक्षा के विकास की पहल विकसित हो रहे राष्ट्रों में होनी आवश्यक है। शैक्षिक विकास के लिए अब हम शिक्षा को संख्या से संवद्ध रख कर ही संतुष्ट नहीं हो सकते हैं। गुणात्मक विकास भी इसके लिए अति आवश्यक है। सन् 1971 के मई-जून माह में सिंगापुर में एशिया महाद्वीप में आर्थिक योजना निर्माण विशेषज्ञों तथा शिक्षा-मंत्रियों का सम्मेलन हुआ। यह सम्मेलन भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचा कि शैक्षिक विकास की समस्या का संबंध शिक्षा के संख्यात्मक तथा गुणात्मक विकास, उत्पादकता तथा सामाजिक विकास के साथ-साथ नवीन राष्ट्रीय आवश्यकताओं तथा चेतनाओं के प्रति शिक्षा की उत्पन्न होने वाली प्रतिक्रियाओं से भी है। वास्तव में वर्तमान में यह प्रतीति अधिक हो रही है कि शिक्षा विकास की मूल-भूत समस्याओं के उचित हल हेतु संख्यात्मक विकास तथा गुणात्मक परिवर्तन दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। मानव स्रोतों के विकास हेतु शिक्षा प्रणाली तथा उसकी उत्पत्ति में गुणात्मक विकास करना अत्यंत आवश्यक है।

परन्तु शिक्षा में गुणात्मक विकास हेतु सीखने-सिखाने की स्थितियों में आवश्यक परिवर्तन शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर कार्यरत शिक्षकों के सक्रिय एवं प्रभावी सहयोग से ही संभव हो सकते हैं। चूंकि शिक्षक स्थानीय, सामाजिक ऐतिहासिक, आर्थिक स्थितियों से परिचित रहता है, उसी से इन परिवर्तनों के

द्वारा सुधार की आशा तथा अपेक्षा की जा सकती है। शिक्षा में परिवर्तन तथा नवीन अनुगम सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि स्थानीय स्थितियों से उनका संबंध जोड़ा जाए तथा इन्हीं पर उन्हें आधारित किया जाए।

वर्तमान में शिक्षा केवल कुछ निश्चित तथ्यों के ज्ञान तथा निश्चित विद्यालय सीमाओं के भीतर ही सीमित नहीं की जा सकती है। शिक्षा तो अब मानव की ऐसी प्रक्रिया बन गई है जो उसे अपने अनुभवों के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करना सिखाती हैं, विचार विनिमय करना सिखाती है तथा संसार की गतिविधियों के संबंध में प्रश्न करना सिखाती है। इस प्रकार वह हमेशा अपनी पूर्ण प्राप्ति की ओर ही अग्रसर होता रहता है। सतत् रूप से सीखते रहकर ही मानव अपनी पूर्णता प्राप्त करता है। इस रूप में यदि शिक्षा को समझा जाए तो शिक्षा जीवन की प्रत्येक आयु में, प्रत्येक स्थिति में, जीवन की प्रत्येक अवस्था में चलने वाली एक पूर्ण एवं पूर्ण जीवन-कालिक, विद्यालय या शिक्षण संस्था की चारदीवारों को फांदने वाली तथा ऐसे कार्यक्रमों एवं विधियों का प्रयोग करने वाली होगी जो परंपरागत न हों।

वर्तमान में शिक्षा किसी के द्वारा किसी को दी जाने वाली ही नहीं मानी जाती है। अब यह मान्यता अधिक बलवती होती जा रही है कि शिक्षा स्वयं ग्रहण की जाती है। यह किसी के द्वारा दान या समाज सेवा के रूप में प्रदान नहीं की जाती है। अतः अब शिक्षण की अपेक्षा सीखने पर अधिक बल दिया जाता है। अब शिक्षा को 'विधि' न मानकर 'अविधि' माना जाता है। भविष्य में तो यह और अधिक सजगता से मान्य किया जाएगा कि जो शिक्षा ग्रहण करने वाला है वह स्वयं अपनी शिक्षा ले तथा अपने लिए शिक्षित करे। दूसरों को दी जाने वाली शिक्षा की स्वयं शिक्षा बन जाए। शिक्षा के संबंध में यह परिवर्तित दृष्टिकोण अनेक समस्याएं उपस्थित कर रहा है।

इस प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था के लिए यह स्वाभाविक है कि शिक्षा व्यवस्था, शिक्षण विधियों, समाज विद्यालय संबंधों, शिक्षकों के कार्यों, शिक्षण साधनों आदि में क्रांतिकारी परिवर्तन हो। यह विद्यालयों को परंपरागत ढंग से चलाने या मान्य शिक्षा सिद्धांतों एवं शिक्षण विधियों के अनुसार शिक्षा देने से संभव नहीं होगा। इसके लिए अनेक नवीन प्रयोग तथा अनेक नवाचारों के उपयोग की आवश्यकता होगी। अतः यह आवश्यक है कि प्रत्येक विद्यालय, प्रत्येक शिक्षक, प्रत्येक शिक्षा प्रशासक शैक्षिक नवाचारों और प्रयोगों को करके शिक्षा को अधिकतम प्रभावी बनाए। शिक्षा में केवल थोड़ा सुधार करके, चाहे वह कितने ही प्रभावी एवं बड़ी क्यों न हो, संतोष नहीं किया जा सकता है और न इन छोटे-मोटे सुधारों से यह आशा की जा सकती है कि शिक्षा वर्तमान

या भविष्य की आवश्यकताओं के अनुरूप संगठित और विकसित हो सकेगी। वास्तव में वर्तमान में तो आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा के प्रत्येक विचार, ढांचे तथा कार्यविधि, संगठन आदि में मौलिक तथा आधारभूत परिवर्तन नवाचारों के उपयोग से किया जाए। नवाचारों रूपी नए बीजों को उगाने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा की परंपराओं से पूर्ण पुरानी जगह को बिल्कुल साफ किया जाए तथा जो कंकड़-पत्थर मिट्टी उसमें हैं वे साफ किये जाएं। शिक्षण में जब तक यह प्रक्रिया नहीं अपनाई जाएगी नवाचारों को विकसित नहीं किया जा सकेगा।

शैक्षिक नवाचार का अर्थ

शैक्षिक नवाचार संबंधी किसी भी स्थिति में सुधार एवं विकास के लिए किए गए कार्य ही हैं। शैक्षिक नवाचारों की भूमिका शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में एक ऐसा मंच विकसित करने से संबंधित है कि परिवर्तन और विकास होने लगे। एशियाई देशों में शैक्षिक विकास तथा शिक्षा संबंधी नवीन प्रयोगों के उपयोग में सहायता पहुंचाने हेतु बैंकाक में यूनेस्को की ओर से एशियाई शैक्षिक नवाचार केंद्र स्थापित किया गया है। बैंकाक में स्थापित शैक्षिक विकास नवाचार केंद्र ने व्यक्त किया है कि नवाचार तथा नवीन प्रयोग 'किसी भी सुसंगठित सीखने की विधि में उसके संगठन, ढांचे, तकनीक एवं अन्य पक्षों में ऐसा परिवर्तन करना है जिसका उद्देश्य प्रचलित प्रणाली में सुधार के ऐसे साधन विकसित करना है जो समाज तथा व्यक्ति की सतत् प्रगति एवं विकास में सहायता पहुंचाए।' इस प्रकार नवाचार के अर्थ को मानने से नवाचार के संबंध में निम्न तत्त्व स्पष्ट होते हैं—

(1) शैक्षिक नवाचार सुसंगठित सीखने की विधि, संगठन, ढांचे, तकनीक या अन्य पक्षों में परिवर्तन है।

(2) यह परिवर्तन शिक्षा से संबंधित सभी स्थितियों में परंपरागत स्वरूप में होता है।

(3) इस परिवर्तन से समाज और व्यक्ति की सतत् प्रगति तथा विकास होता है।

(4) शैक्षिक नवाचार शिक्षा को उपयोगी तथा नवीन रूप देने में सहायक होते हैं।

शैक्षिक नवाचार विकसित करने में कठिनाइयां

शैक्षिक नवाचार के विकास तथा उपयोग में अनेक कठिनाइयां हैं जिनमें निम्न प्रमुख हैं—

(1) अनेक शिक्षा प्रशासक या प्राचार्य यह अपेक्षा रखते हैं कि शिक्षक अपना परंपरागत कार्य पहले पूर्ण करें। उनका विश्वास इन नवाचारों और प्रयोगों में नहीं रहता है।

(2) भारत में शिक्षकों को वहुत अधिक संख्या में वालक पढ़ाने पड़ते हैं। कभी-कभी तो एक कक्षा में 55-60 वालक रहते हैं। इतने के वाद माध्यमिक स्तर पर प्रत्येक शिक्षक को दो या तीन विषय पढ़ाना आवश्यक होता है। सप्ताह में 38 से 40 घंटे शिक्षण कार्य करना पड़ता है। इन सभी कारणों से उसके पास नवाचारों एवं नवीन प्रयोगों के लिए समय नहीं रहता है।

(3) भारतीय विद्यालयों में वच्चों के सिवाय प्रायः और कुछ नहीं होता है। ऐसी स्थितियों में नवाचारों के उपयोग कैसे संभव हैं ? पर्याप्त सुविधाओं और साधनों के अभाव में शिक्षक नवाचारों एवं प्रयोगों को करने हेतु प्रोत्साहित नहीं होते हैं।

(4) भारत में शिक्षा-प्रशासन परंपरा पालन तथा जैसा वे कहते और चाहते हैं वैसा ही करने पर अधिक वल देता है। इस अनुरूपता पर अधिक वल देने तथा प्रयोगों में असफलता के डर के कारण नवीन प्रयोग प्रोत्साहित नहीं होते हैं। शिक्षा-प्रशासन की स्थिरता तथा संकुचित दृष्टिकोण भारत में प्रयोगों एवं नवाचारों के उपयोग में सबसे बड़ी वाधा है।

(5) नवाचारों तथा प्रयोगों में सफलता मिलने पर शिक्षकों को न तो कोई आर्थिक लाभ मिलता है और न उन्हें प्रशंसा ही। अतः वे नवाचारों और प्रयोगों को करने हेतु प्रोत्साहित नहीं होते हैं।

(6) नवाचारों तथा प्रयोगों को क्रियान्वित करने के तकनीक शिक्षण प्रशिक्षण संस्थाओं एवं महाविद्यालयों में सिखाए ही नहीं जाते हैं। अतः इन्हें करने की तकनीक से शिक्षक अपरिचित रहते हैं।

(7) समाज में अशिक्षा तथा संकुचित दृष्टिकोण भी शिक्षकों को परंपरागत कार्यों को करने की ही प्रेरणा देते हैं। अतः शिक्षक इस दिशा में कोई कदम आगे नहीं वढ़ाते हैं।

(8) विद्यालयों में धन या वित्त का भी वहुत अभाव रहता है। नवाचारों तथा प्रयोगों को करने में कुछ न कुछ धन तो व्यय होता ही है। इतना कम धन

भी भारतीय विद्यालय प्राप्त नहीं कर पाते हैं। फलस्वरूप नवाचारों तथा प्रयोगों की ओर शिक्षकों का ध्यान नहीं जाता है।

नवाचारों के विकास हेतु सुझाव

नवाचारों एवं प्रयोगों के प्रोत्साहन तथा विकास हेतु अनेक उपाय अपनाये जा सकते हैं जैसे—

(1) शिक्षा प्रशासन को लोचदार बनाया जाए। शिक्षा-अधिकारी, विद्यालय प्राचार्य आदि शिक्षकों को नवाचारों एवं नवीन प्रयोगों को करने की स्वतंत्रता दें तथा असफलता मिलने पर उनकी सुरक्षा की व्यवस्था करें तभी शिक्षक नवाचारों और प्रयोगों को करने की ओर प्रवृत्त होंगे।

(2) शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाएं तथा महाविद्यालय अपने पाठ्यक्रम में ऐसे परिवर्तन करें जिसमें शिक्षक इन नवाचारों को क्रियान्वित करने की तकनीक तथा कौशलों से प्रशिक्षण अवधि में ही परिचित हो सकें। 'शैक्षिक तकनीक' के विचार एवं कार्यविधियों से भी शिक्षकों को परिचित कराया जाना चाहिए। शिक्षा में नवीन तकनीक के उपयोग के बिना नवाचारों के प्रोत्साहन तथा विकास में प्रगति कम ही होगी।

(3) विद्यालयों में बजट की कुछ रकम नवाचारों एवं प्रयोगों को करने हेतु अलग से निर्धारित की जाए। इससे प्राचार्यों तथा शिक्षकों को नवाचारों तथा प्रयोगों को करने की प्रेरणा मिलेगी।

(4) संपूर्ण जीवन भर शिक्षा चलने का तात्पर्य यह है कि व्यापार, उद्योग तथा कृषि सभी शिक्षा में भरपूर सहयोग दें। इनके सहयोग के बिना संपूर्ण जीवन भर शिक्षा कैसे चल सकेगी। इनके सहयोग से शैक्षिक नवाचारों और प्रयोगों को प्रोत्साहन अपने आप मिलेगा।

(5) शिक्षा में सामान्य, व्यापारिक, तकनीकी, कृषि आदि भेदभाव को मिटाकर प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तरों पर शिक्षा में सभी का समन्वित रूप विकसित किया जाना चाहिए। इससे नवाचारों और प्रयोगों को अपनाने के अवसर अधिक उपलब्ध होंगे। वर्तमान संसार में विशुद्ध सामान्य शिक्षा की तो आवश्यकता ही नहीं है तथा ऐसी शिक्षा की उपादेयता भी बहुत कम ही रहेगी।

(6) सेवारत शिक्षकों को विभिन्न विद्यालयों में अपनाए जा रहे नवाचारों तथा प्रयोगों से परिचित कराने हेतु बुलेटिन या पत्रिकाओं का प्रकाशन किया जाए जो नियमित रूप से शिक्षकों को निःशुल्क या बहुत कम कीमत में मिले।

(7) सेवारत शिक्षकों को नवाचारों तथा प्रयोगों से परिचित कराने, उनके तकनीक आदि का ज्ञान देने के लिए अल्पकालीन संगोष्ठियां या वर्कशाप

व्यवस्थित की जाएं। ये संगोष्ठियां शिक्षा प्रशासकों के द्वारा तथा शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं के द्वारा अलग-अलग या सम्मिलित रूप से आयोजित की जा सकती हैं।

(8) जो शिक्षक नवाचारों का उपयोग करके शिक्षा को नई दिशा देते हैं उनकी प्रशंसा की जाए तथा उन्हें कुछ न कुछ पारिश्रमिक या इनाम अवश्य दिया जाए।

(9) शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं में शैक्षिक नवाचार केंद्रों की स्थापना तथा विकास किया जाए।

27

विश्व शांति और शिक्षा

आज बीसवीं सदी में, हम अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक संपन्न जीवन व्यतीत कर रहे हैं। विज्ञान ने हमें अच्छे और शीघ्रगामी आवागमन के साधन उपलब्ध कराए हैं। आज हम भयंकर बीमारी से अपनी रक्षा अधिक अच्छी तरह से कर सकते हैं और हम आशा कर सकते हैं कि हमारी औसत आयु और भी अधिक होगी। समाचार-पत्र, रेडियो, सिनेमा, टेलीविजन आदि ने हमारे मनोरंजन के साधनों और विचारों के आदान-प्रदान की क्षमता का विकास किया है। हम आज एक दूसरे देश के लोगों के जीवन को अच्छी तरह समझ सकते हैं। कहने का मतलब यह है कि हमारी परस्पर निर्भरता पहले से बहुत अधिक बढ़ गई है। आज विज्ञान तथा प्राविधिक उन्नति ने हमारी गरीबी को दूर किया है और हमारी वैयक्तिक सुरक्षा में बहुत अधिक उन्नति की है।

विश्व शांति की समस्या

परंतु इतना सब होते हुए भी हम विश्वास से यह नहीं कह सकते हैं कि संसार में शांति स्थापित हो गई है। बीसवीं सदी में दो महायुद्धों के पश्चात् हम बहुधा अखबारों में एटम बम, उद्जन बम, तथा इसी प्रकार के अन्य युद्ध के उपयोग में लाए जाने वाले शस्त्रों के उत्पादन के संबंध में पढ़ते सुनते हैं। वास्तव में, युद्ध के शस्त्रों के अधिक से अधिक उत्पादन के लिए संसार के बड़े-बड़े देशों में होड़ सी लगी है। इतना ही नहीं अनेक देशों में आपसी तनातनी-सी रहती है और कहीं-कहीं तो छोटे-मोटे युद्ध भी शुरू हो जाते हैं। हमारी वैज्ञानिक और प्राविधिक उन्नति और हमारी सभ्यता के विकास के लिए वे सभी हिंसात्मक कार्य शांति स्थापना की दृष्टि से एक बड़ी समस्या और रोड़े के रूप में हैं।

विश्व शांति की समस्या पहले राजनैतिक और आर्थिक ही मानी जाती

थी। संसार के राष्ट्र एक दूसरे को दवाकर अपने आर्थिक हितों की रक्षा करते थे। इसी आपसी प्रतियोगिता के कारण प्रथम महायुद्ध हुआ और जब युद्ध समाप्ति पर लीग आफ नेशन की स्थापना हुई तो लोगों ने यह सोचा कि संसार के देश अपनी समस्याओं का निराकरण परस्पर मध्यस्थता, सहयोग तथा आपसी वातचीत से कर लेंगे। पर कुछ ही वर्षों के वाद द्वितीय महायुद्ध ने उनकी इस आशा पर पानी फेर दिया। द्वितीय महायुद्ध के वाद संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुई और शांति स्थापना का कार्य इस संस्था के द्वारा आगे बढ़ाया गया। यह शांति के स्थापनार्थ प्रयत्नशील रही परंतु फिर भी विश्व के वड़े-वड़े राष्ट्र देशों की गुटवंदी, सैनिक शक्ति की वृद्धि के यत्नों को देखकर आज यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि युद्ध अवश्यंभावी है। फिर भी हमें विश्वास रखना चाहिए कि संसार में शांति कायम रहेगी। वास्तव में मानव-जाति युद्ध से थक गई है और संसार का कोई भी वड़े से वड़ा राजनीतिक भी जनता के सामने आकर युद्ध की चर्चा करके शांति की इन आकांक्षाओं को नष्ट नहीं कर सकता।

19वीं सदी में शांतिवादी यह अनुभव करने लगे कि शांति स्थापना के लिए मानवीय जीवन एवं समाज व्यवस्था का संतोषप्रद होना आवश्यक है तथा इसके लिए समग्र दृष्टि होना आवश्यक है। बीसवीं सदी में इस विचारधारा के विकास में हमारे देश की अहिंसा तथा पश्चिम के देशों में विकसित होने वाली यह भावना कि केवल सेना में भरती न होने से हम हिंसा या युद्ध से वच नहीं सकते हैं, वड़ी सहायक हुई। वास्तव में विश्व शांति एक न्यायपूर्ण एवं स्वस्थ समाज व्यवस्था से अलग नहीं की जा सकती है। ऐसी समाज व्यवस्था का स्वाभाविक परिणाम ही शांति-स्थापना होगा। यही कारण है कि आज पश्चिमी देश स्वस्थ और न्यायपूर्ण समाज व्यवस्था को शांति की आधारभूत परिस्थितियों के रूप में मान्यता देने लगे हैं। इस युग में चिंतन की यह एक विशेषता है कि यह अब सच्चे सामूहिक जीवन को शांति की पूर्व स्थिति के रूप में आवश्यक मानने लगा है। वास्तव में सच्चा और न्यायपूर्ण सामाजिक जीवन ही विश्व शांति की नींव है तथा इसी के माध्यम से हम विश्व शांति की समस्या को हल कर सकते हैं। आज विश्वशांति की समस्याएं प्रत्येक देश में एक सी हैं। अतः इसका हल किसी एक देश में नहीं संपूर्ण विश्व में करना होगा। यह कार्य किसी एक देश का नहीं है।

युद्ध के कारण

युद्ध के निम्नलिखित कारण प्रमुख हैं—

(1) **अन्याय और बुराई का विरोध करने की इच्छा**—मानव जाति में यह अच्छी बात है कि यह अन्याय, क्रूरता और अत्याचार को बिना विरोध के चलने नहीं देता है। इसीलिए मानव अधीर और दुखी होकर अत्याचार का सामना करने के लिए युद्ध और लड़ाई करता है।

(2) **शक्ति और प्रतिष्ठा की मनोवृत्ति**—मानव अपनी वीरता का परिचय देने, विपत्ति का साहस से सामना करने, कठिनाइयों को सहन करने और उच्च आदर्शों के लिए आत्मत्याग करने के लिए तैयार रहता है। पश्चिम और पूर्व के वीरों के इतिहास इस बात के साक्षी हैं। हमारे देश का दशहरा त्यौहार तथा पश्चिम के अनेक त्यौहार हमें यह बतलाते हैं कि प्राचीन तथा मध्यकाल में अन्यायों के प्रतिकार के लिए वीर शस्त्र धारण करते थे।

आज विज्ञान ने हमें बहुत सक्षम बना दिया है और हम बड़ी-बड़ी शक्तियों पर नियंत्रण करने में सफल हुए हैं परंतु हमारे मस्तिष्क में विकास एकांगी हुआ है। विज्ञान ने हमें अपने स्वार्थ और मस्तिष्क को वश में रखना नहीं सिखलाया है। अतः आज संसार की सबसे बड़ी समस्या यह है कि मनुष्य को मनुष्य कैसे बनाया जाए। वास्तव में आज ऐसे मनुष्यों की आवश्यकता है जो न केवल अणुओं का विश्लेषण कर अणुबम बनाने का आविष्कार करें वरन् इन अणुओं के विश्लेषण से प्राप्त शक्ति का मानव कल्याण के लिए सदुपयोग करना भी जानते हों।

(3) **शोषण की प्रवृत्ति और भग्नाशा**—मनोवैज्ञानिकों ने पता लगाया है कि भग्नाशा दूषित सामाजिक संगठनों से उत्पन्न होती है। जब हमारी आवश्यकताएं बहुत अधिक बढ़ जाती हैं और उनकी पूर्ति नहीं हो पाती तो हम हताश हो जाते हैं, दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि हम भग्नाशा से पीड़ित हो जाते हैं। विज्ञान ने हमें बहुलता से सुख सामग्री की प्राप्ति कराई है। फलस्वरूप हमारी सुख संबंधी अपेक्षाएं बहुत बढ़ गई हैं। परंतु अनेक कारणों से यह सुख भी संसार के लाखों लोगों को उपलब्ध नहीं है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि संसार के मनुष्यों में भग्नाशा के चिह्न दिखलाई पड़ रहे हैं। अपने स्वार्थ और सुख-साधन के लिए संसार के अनेक देश दूसरों का शोषण कर रहे हैं। फलस्वरूप संसार के छोटे-बड़े सभी राष्ट्र किसी न किसी रूप में अशांत हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भग्नाशा और शोषण ही युद्ध की जड़ है।

(4) **मानव जाति की तटस्थता की वृत्ति**—संसार के अनेक व्यक्तियों की यह धारणा है कि विरोध करने से कोई भी लाभ नहीं होता। इसके परिणाम-स्वरूप ही हिंसा अन्याय बढ़ता है और युद्ध होते हैं। इतिहास ही में ऐसे अनेक

उदाहरण मौजूद हैं जिनके द्वारा लोगों का यह विचार गलत सिद्ध होता है कि अन्याय और हिंसा को रोक नहीं सकते। अभी कुछ ही वर्ष पूर्व ब्रिटिश जनता ने अपनी सरकार को मिस्र से अपनी सेना हटाने के लिए बाध्य किया था।

मनुष्य के तटस्थ रहने में उसके कुटुम्ब के आसपास के छोटे-बड़े समुदाय के प्रति प्रेम निष्ठा अधिक सहायक होती है। यह स्वार्थ और प्रेम निष्ठा उसे विशाल मानव समुदाय के हितों की रक्षा नहीं करने देती है।

शांति और प्रेम मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार हैं। शांति से ही उसकी उन्नति हो सकती है। अपनी सभ्यता के प्रारंभिक काल से ही वह शांति के प्रयत्नों के लिए प्रयासरत रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ की शिक्षा, विज्ञान, सांस्कृतिक परिषद्, के विधान में कहा गया है कि 'युद्धों का उद्‌गम मानव के मन में होता है, इसीलिए मानव के मन में ही शांति के बीज बोने चाहिए।' अतः यदि हम संसार में शांति स्थापना के लिए प्रयासरत हों तो हमें मानव की वृत्तियों, शक्तियों और भावनाओं को शांति के मार्ग की ओर मोड़ना चाहिए। हमें इस बात की कोशिश करनी चाहिए कि हमारा समाज प्रतियोगिता के आधार पर संगठित न होकर सहकारिता और सर्वोदय के आधार पर संगठित हो। यदि हम वास्तव में शिक्षा को मानव की युद्धशीलता को घटाने योग्य बनाना चाहें तो हमें अपने विद्यालयों में अपने भीतर के क्रोध, भय आक्रमणशीलता आदि को नियंत्रण में रखना होगा। बालकों को आत्मानुभव और आत्मनियंत्रण के लिए सचेष्ट करना होगा। उन्हें मानवीय स्वाभाविक व्यवहार, उसकी सामाजिक, ऐतिहासिक और व्यावहारिक जानकारी भी प्राप्त करनी चाहिए। यदि हम वास्तव में शांति चाहते हैं तो हमें शांति अहिंसा को जीवन में उतारने के लिए बालकों को अभ्यास कराते रहना चाहिए।

अहिंसा में शिक्षा और रक्षा एक ही चीज बन जाती है। इसलिए यदि हम हिंसा और विनाश से बचना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि शिक्षा अहिंसामय ग्राम स्वराज्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग बने। इससे अहिंसामय विश्व राज्य की भी प्राप्ति हो सकती है। बच्चों को ग्राम स्वराज्य की शिक्षा देने के लिए उन्हें सहयोगी समाज में एक साथ जीने और काम करने का अभ्यास कराना चाहिए। एक साथ मिलकर सुचारु रूप से जीवन व्यतीत करने की कला विश्व शांति की इमारत की नींव बन सकती है। ग्राम स्वराज्य के सभी सदस्यों में सबकी भलाई के लिए सहकारिता से कार्य करने की भावना का विकास होना चाहिए। यह हमारी शिक्षा का कार्य होना चाहिए।

गांधी ने शांति सेना की स्थापना की थी और विनोबा ने इस कार्य को और आगे बढ़ाया। विनोबाजी ने शांति सेना के गुणों का वर्णन करते हुए कहा है कि करुणा, प्रतिरोधी प्रेम और आक्रमण के अवसर पर प्रेम का प्रयोग शांति सेना के गुण हैं। उत्तम शिक्षक के कार्य भी वास्तव में यही हैं। समाज सेवा करते हुए सब लोग बिना कटुता के एक साथ हंस सकते हैं—इस प्रकार का विशुद्ध विनोद भी शांति स्थापना में सहायक होता है।

●●●

भारतीय शिक्षा की समस्यायें और प्रवृत्तियां

डॉ० विद्यावती मलैया

प्रस्तुत पुस्तक में भारतीय शिक्षा की समस्याओं का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। भारतीय शिक्षा की समस्याओं को समझने के लिए सही संदर्भ को जानने की जरूरत है और उन्हें तब तक सही संदर्भ नहीं मिल सकता जब तक हम उनको देश की राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्थितियों, इनके भीतर समय-समय पर उठने वाले प्रश्नों के साथ जोड़ कर न देखें। इसके बिना इस दिशा में किया गया कोई भी प्रयास व्यर्थ अथवा अधूरा सिद्ध हो सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक भारतीय शिक्षा की समस्याओं पर इसी दृष्टि से विचार करने का प्रयास करती है। प्राइमरी शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा के बीच उसके जितने संभव प्रकार और स्तर हैं उनको समग्रता में यह पुस्तक अपने भीतर समेटती है। पुस्तक छात्रोपयोगी होने के साथ-साथ उनके लिए भी उपयोगी है जो आज की शिक्षा समस्याओं के साथ लगाव रखते हैं।

डा० (श्रीमती) विद्यावती मलैया : शिक्षा में पी-एच० डी०, शिक्षा विषयक विभिन्न समस्याओं पर कई शोध पत्रिकाओं में कुछ महत्त्वपूर्ण निबंध प्रकाशित और चर्चित।

मूल्य 20.00

दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड

दिल्ली बंबई कलकत्ता मद्रास